कला के सम्बन्ध में युंग के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के आलोक में अज्ञेय की कविता के प्राग्बिम्बीय और मिथकीय तत्वों का अध्ययन

A STUDY OF THE MYTHICAL AND ARCHETYPAL ELEMENTS IN THE POETICAL WORKS OF AJNEYA IN THE LIGHT OF THE THEORY PROPOUNDED BY JUNG.

Thesis submitted to

THE UNIVERSITY OF COCHIN

For the Degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY

by

RAJAN. C. S.

Prof. & Head of the Department

DR. N. RAMAN NAIR

Supervising Teacher

PROF. (DR.) A. RAMACHANDRA DEV

DEPARTMENT OF HINDI

UNIVERSITY OF COCHIN

COCHIN-682 022

1985

CERTIFICATE

This is to certify that this THESIS is a bonafide record of work carried out by RAJAN C.S. under my supervision for Ph.D. and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any University.

Department of Hindi
University of Cochin
Cochin - 682 022
Dated: 25.04.1985.

DR.A.RAMACHANDRA DEV
Professor
(Supervising Teacher)

प्राक्कथन

प्राक्कथन

काव्य - समीक्षा की कई पद्धतियाँ पहले से ही स्वीकृत हुई हैं। स्वरूप, प्रयोजन, गुणधर्म, अभिव्यंजन जैसे काव्य के विभिन्न पहलुओं को प्रमुखता देते हुए काव्य - विवेचन का कार्य लगातार चलता रहा है। भारतीय काव्य - शास्त्र का इतिहास काव्य सम्बन्धी मौलिक चिंतन का परिचय ही नहीं कराता, बल्कि उसमें वैज्ञानिकता, दार्शनिक सूक्ष्मता, आध्यात्मिकता जैसे ज्ञान की अन्य विधाओं का सम्मिलन भी दर्शनीय है। रसानुभूति की उपलब्धि के काव्य - शास्त्रीय विश्लेषण में स्वीकृत दृष्टि शैव - दर्शन के सिद्धान्त से प्रभावित है। पश्चिमी विचारकों ने प्रयोजन की दृष्टि से प्रमुखतः काव्य की विवेचना की है। इस प्रकार पूर्वी और पाश्चात्य दोनों पक्षों में काव्य समीक्षा की समृद्ध और लम्बी परम्परा विद्यमान है।

काव्य के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक दृष्टि इस परम्परा की नई कड़ी है। वह बीसवीं सदी की देन है। समीक्षा में मनोवैज्ञानिकता का आभास प्राचीन काव्य - लोचना में भी प्राप्त हो सकता है। लेकिन शुद्ध मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर साहित्य के मूल्यांकन के कार्य, अथवा मनोव्यापार के रूप में कवि - कर्म के पीछे की आन्तरिक शक्ति के मनोवैज्ञानिक अध्ययन कुछ अलग चीज़ है। उसका श्रेय आधुनिक मनोविश्लेषकों को है।

इन मनोवैज्ञानिकों में फ्रायड का नाम सर्वप्रमुख है। उन्होंने ही काव्य को मनोविज्ञान के विषय के रूप में सब से पहले स्वीकार किया। लेकिन उनकी दृष्टि शुद्ध भौतिकवादी रह पायी। उन्होंने चित्त को शुद्ध प्राणिविज्ञानीय तत्व के रूप में देखकर सब प्रकार की मानसिक प्रक्रियाओं को सहज वासनाओं से सम्बद्ध कर दिया।

फलतः व्यक्ति - व्यक्ति में भिन्न रहनेवाली चेतन और अचेतन के वैयक्तिक पक्ष में फ्रायिड का निरूपित मनस्तत्व सीमित रहा । अचेतन उनकेलिए संघाराक्मक अंधा पक्ष है । यह घुटनों वर्धनाओं का समाहार है । इन घुटनों की परितृप्ति की अभिलाषा का प्रकाशन ही - साक्षात्कार ही - काव्यादि कलाओं में कर लिया जाता है । फ्रायिड ने कविता को, कला को, विज्ञान को - प्रातिभ ज्ञानाश्रित सभी व्यापारों को मनोरोग मूलक सिद्ध किया ।

फ्रायिड की काव्य दृष्टि की त्रुटि यह थी कि मानव की सामाजिक चेतना और चित्त की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की उपेक्षा ही उसमें की गई । मनुष्य को सामाजिक प्राणी के रूप में उन्होंने नहीं स्वीकार किया । मन परिवेशानुरूप विकसित उपकरण मात्र ठहरा । अतः कला की सामाजिक उपादेयता और महिमा की ओर भी उनका ध्यान गया ही नहीं । वस्तुतः सामाजिक उपयोगिता ही कला को महत्वपूर्ण बनाती है । सामाजिकता के बिना कला की सार्वलौकिकता और सार्वभौमिकता का अर्थ ही नहीं होगा ।

यहीं युंग की कला दृष्टि का महत्व सामने आता है । उन्होंने फ्रायिड की दृष्टि की त्रुटि का परिहार करके कला के सम्बन्ध में स्वस्थ और गंभीर विचार प्रकट किए । अचेतन के एक अतार्किक गहनतर सामूहिक मानसिक पक्ष का निरूपण करके, उससे कला - सृजन की शक्ति को (कला - व्यापार को) सम्बन्धित कर दिया । परिणाम - स्वरूप, कला की सामाजिक पक्षधरता का मनोवैज्ञानिक आधार स्थापित किया जा सका ; जीवन की अतार्किकता (प्रातिभज्ञान मूलक) तर्क संगत सिद्ध की गई ; मानव का आत्मिक महत्व, उसके अस्तित्व की विकास विहीन स्थायिता और अनश्वरता की सत्यता निर्विवाद रूप से सर्वस्वीकृत हो सकी । इसप्रकार मानव में अचेतन मन के एक

गहन सामूहिक पक्ष के उद्घाटन ने हमारी कला - सम्बन्धी दृष्टि में बड़ा भारी परिवर्तन कर दिया है ।

युंग की सामूहिक अचेतन सम्बन्धी अवधारणा ने मनुष्य के अन्तस्तल में विशुद्ध व्यक्ति की पकड़ के बाहर, व्यक्तीत, तर्क के परे, मानवमात्र में समान रूप से वर्तमान सार्वलौकिक और सार्वभौम चिरन्तन तत्वों की वर्तमानता की अनुभव गम्य सत्यता को समर्थन किया है । यह मानव के अन्दर के 'शुद्ध मानव' का जगत है । इसके ये चिरन्तन तत्व अथवा भावों के प्रारूप, (प्रतिबिम्ब) स्वयं परिभाषित होने और साक्षात्कार पाने में समर्थ है । अतः युंग की दृष्टि में मानव मन परम्परा प्राप्त स्वनिर्भर - क्रम साधन है । इस उपदर्शन ने चित्त की व्यक्ति - व्यक्ति वैशिष्ट भिन्न, परिवेशानुरूप विकसित जन्तुविज्ञान सम्मत उपकरण के निचले स्तर से ऊपर से जाकर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से सम्बद्ध करके मानवीय सहजावबोधाश्रित ज्ञान (intuitive knowledge) की उत्कृष्टता को प्रकाशित किया है । सहजावबोध पर अधिष्ठित कला का मनोवैज्ञानिक महत्व भी यहाँ स्पष्ट हो जाता है ।

चित्त के ये चिरन्तन तत्व हैं प्रतिबिम्ब अथवा आर्किटाइप । आर्किटाइप के सिद्धान्त ने कला की मनोवैज्ञानिक दृष्टि को पूर्णतः बदल डाला । ये प्रारूप मानव मन के गहन अचेतन धरातल में छिपे रहकर मानव की सारी सहज मानसिक प्रक्रियाओं को नियन्त्रित करते हैं, अर्ध - प्रेरित चेतन मन के लक्षणित व्यापारों के वैविध्य के परे मनुष्य की सार्वलौकिक एकात्मता की यह मनोभूमि उसे (मनुष्य को) अपनी समष्टिगत बृहत्तर सत्ता से साक्षात्कार देती है । सारी कलाओं और अन्य चेतनिक उपलब्धियों का यह मूल स्रोत है । इस दृष्टि से कला मानव की सामाजिक चेतना से अन्वित है अथवा कला की सामाजिकता सामूहिक अचेतन से उसके प्रेरित, एषायित होने में निहित है ।

अर्थात् कला की सामाजिकता को सामूहिक अचेतन के सामान्य मानसिक पक्ष में अनुभूत स्वात्मता की दृष्टि से परखना चाहिए । कला का प्रयोजन अतः केवल बाह्य सामाजिक समस्याओं के परिहार की वस्तु की स्थूल दृष्टि से नहीं आँका जाय । कला की चरितार्थता व्यक्ति की उस बृहत्तर आन्तरिक सत्ता के साक्षात्कार में माननी चाहिए, जिसका सम्बन्ध विपुलतर समाज से है ।

समान परिस्थितियों और अनुभवों की अनादि काल से निरंतर आवृत्ति अपनी अमिट छाप मानव मन पर छोड़ गयी थी । अनुभवों के प्रति निरंतर समान प्रतिसंवेदन का संस्कार मनोव्यापार के सूक्ष्म मौलिक आदर्श बनकर मानव मस्तिष्क के स्वतंत्र अचेतन व्यापार का बुनियाद पड़ गया है । ये प्रारूप स्वप्न, मनोराग अथवा साधकों की रहस्यात्मक दार्शनिक अनुभूति की तन्द्रिल या चेतन - मुक्त मानसिक अवस्था में स्वतः जाग्रत होकर आदिम तथ्यों व वस्तुओं से गठित प्रतीकों में छिपकर प्रसारित होते हैं । या कहें, बाह्य तथ्यों का प्रतीक बनाकर उसमें समाविष्ट होकर स्फुरित होते हैं । प्रागैतिहासिक मनुष्य के सभी मनोव्यापार इन्हीं तथ्यों से प्रेरित थे । प्राचीन मनुष्य के प्रपंच और अध्यात्म सम्बन्धी ज्ञान को अभिव्यंजित करनेवाली मिथकों, व यक्षि - कथाओं (fairy tales) की सृष्टि करनेवाली यह प्रागैतिहासिक अथवा मिथकीय चित्तावस्था जीवात्मा के विकास के फलस्वरूप चित्त की गहराई में जा छिपी । वहाँ वह सजग रहती है और चेतन के बन्धन से मुक्त होते ही अपनी प्रतीक - शक्ति को प्रकट करने लगती है ।

मिथकीय चित्तावस्था अथवा प्रागैतिहास - जगत (सामूहिक अचेतन) का जागरण ही मानव को स्व - पर भेद से मुक्त करता है, क्यों कि वहाँ व्यक्ति की प्रधानता नहीं, केवल एक इकाई है, शुद्ध मानवतामात्र है । वहाँ मानव का 'स्व' 'सर्वस्व' में परिणत होता है । अस्मिता के केंचुल से मुक्त जीवात्मा के बृहत्तर सत्ता

से साक्षात्कार की साधना भी यही मनोवैज्ञानिक आधार प्राप्त करती है । प्राचीन भारतीय काव्य - समीक्षा में काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर घोषित करते हुए इसी अन्तरतीय मानसिक पथ से साक्षात्कार की ओर संकेत किया गया है । अभिनव ने वामन के गदाघात से अचेतन की गहरी पातालभूमि में पड़े इस महाबली का पुनरुज्जीवन किस-को हृलादकारी नहीं ? वही मानव एक दूसरे को अपने से संयुक्त, अभिन्न देखने लगते हैं । इस बृहत्तर सत्ता के साक्षात्कार का अनुभव और आनन्द उसकी सामाजिक चेतना का आधार है । इस सामूहिक पशुत्व और सामाजिक संस्कृति में मानव की महिमा निहित है । भारतीय दर्शन - क्षेत्र की असंप्रज्ञातसमाधि और बौद्ध - दर्शन की सत्य - भूमिका संवित्, योग साधना की ब्रह्म रन्ध्र स्थित सहस्रदल कमल और तन्त्रोक्त चक्र की परिकल्पनाएँ सामूहिक अचेतन और प्रागुबिम्बों से समर्थित की सकती हैं ।

मनुष्य के अन्तरतम में वर्तमान सामूहिक अचेतन के विराट बिम्बों का प्रतीकवत्करण (symbolization) ही उसके सहजावबोध मूलक सभी व्यापारों के मूल में लक्षित होता है । प्रागैतिहासिक मनुष्य के प्रपंच ज्ञान के रूप में विभिन्न संस्कृतियों में उपलब्ध मिथक, लोककथा और लोकगाथा सब प्रागुबिम्बों का प्रतीकात्मक प्रकाशन ही है ।

भाववत्करण (abstraction) प्रतीकवत्करण ही है । कविता और कला के पीछे भी प्रतीक गठन का व्यापार ही अवश्य होता है क्योंकि वह सहजावबोध प्रेरित मनोव्यापारों में सर्वप्रमुख है । कला जीवन और जगत के प्रति कलाकार का व्यक्ति-निष्ठ प्रतिस्पन्दन है । उसके द्वारा वह अपनी अन्तःसत्ता (inner-self) का निवेदन करता है । व्यक्ति और समाज की स्वस्थ सन्तुलित स्थिति के लिए हेतुभूत, व्यक्ति के बाह्य आचरण के अनुरूप कर्म (corresponding inner activity) सामूहिक अचेतन के प्राक्तन तत्वों का कार्य है । उदाहरण के लिए युद्ध और आतंक के दिनों में कवियों और कलाकारों के अन्दर उसके विपरीत चित्तावस्था या मनोभावों(attitude

को द्योतित करनेवाले बिम्बों और प्रतीकों का उभार साधारण बात है । वे उनकी कृतियों में साधारणतः भी होते हैं । तब, यह अनुपूरक कर्म व्यक्ति में निहित समूह चित्त की अतार्किक (irrational) शक्ति से प्रेरित है, तो वह अन्य व्यक्तियों के चेतन मन को आपूर्त करता है, प्रभावित करता है । फलस्वरूप वह वहाँ स्वीकृत, समर्थित होता है कि उनमें भी समान सामूहिक चित्तावस्था जाग पड़ती है । इसप्रकार यही व्यक्ति की उपलब्धि समाज की चीज़ बन जाती है, व्यक्ति का अन्तर्वर्ती समाज की संस्कृति का अंग बनता है । व्यक्ति में जागृत मिथकीय चित्तावस्था (प्रागुबिम्ब - ज्ञात) का अभिव्यंजन जिसके माध्यम से होता है, वह समाज के अन्य व्यक्तियों की मिथकीय अन्तर्गत को त्रसित करके अपने अन्तर्भूत 'शुद्ध मानव' पक्ष का अनुभव करता है । इसप्रकार आत्मरिक एकात्म - तत्व का संचार करने और कराने के कारण वह समाज से स्वीकृत होता है, उससे समाज लाभान्वित होता है । कला की सामाजिकता की खोज, इसप्रकार, सामूहिक अचेतन से उसका तात्विक सम्बन्ध है । भिन्न जनताओं के बीच में समान मिथकीय बिम्बों की उपस्थिति और भिन्न संस्कार में पले व्यक्तियों के स्वप्नों में अपरिचित मिथकीय वस्तुओं का आश्चर्यकारी प्रकाशन प्रागुबिम्बों की सार्वभौमता को अनुभव सिद्ध व्यापित करता है । कला और कविता में परिवेशगत रंगभेद के साथ देशभेद या व्यक्ति भेद से परे सदृश तत्वों का समावेश मानव की सृजन शक्ति को सामूहिक अचेतन और प्रागुबिम्ब से सम्बन्ध कर डालता है । अर्थात् कला मिथकीय चित्तावस्था की पुनर्जागृति है ।

कृतिकार की परम्परा - सम्पृक्ति भी इन तत्वों के आधार पर सार्थक और अनिवार्य ठहरती है । कारण कि जनता की सांस्कृतिक परम्परा का मूलाधार भी अन्तश्चेतनागत प्रागुबिम्ब हैं । किसी भी देश की संस्कृति की गुत्थियाँ प्रागुबिम्बों से प्रेरित मिथकों व (पौराणिक प्रतीकों), बिम्बों से होती है । कवि भी अपनी कृतियों के द्वारा उस परम्परा से अपना संबन्ध स्थापित करता है, चेतना का कालोचित परिष्कार करके

उस परम्परा की - संस्कृति की गतिशील और चैतन्ययुक्त रखता है । संस्कृति के संवहन का कार्य स्वं परम्परा से संपृक्ति की स्थिति स्वीकार में अविराम जारी है ।

स्वाभाविक है कि कृतिकार माध्यम के परिष्कार, व्यंजना के नए साधनों के अन्वेषण में लग जाता है । फिर भी पूर्णाभिव्यक्ति लिए असमर्थ इन सूक्ष्मतत्वों से प्रेरित अनुभूतियाँ (भावों) की व्यंजना अपूर्ण ही रहती है ।

रंग मंच पर प्रस्तुत दीनेवाले दृश्य का नियंत्रण पर्दे के पीछे छिपे रहकर करनेवाले स्टेज मैनेजर की भाँति अचेतन के अन्धकार में अदृश्य रहकर कवि की प्रतीक शक्ति-भावगठन की क्षमता (power of symbolization) को नियंत्रित करनेवाले प्रागबिम्ब की रहस्यमयता कविता की रहस्यात्मकता को तर्क संगत कर देती है । साथ ही कविता की रहस्यमयता और अनुभूति की पूर्णाभिव्यक्ति में माध्यम की असमर्थता की विवशता अभिव्यंजन (संप्रेषण) के साधन्य की ओर स्वतन्त्रचित्त रहनेवाले कवि को भाषा (माध्यम) में नए अर्थ - प्रतीति का प्रयोग और नए उपायों का अन्वेषण करने को बाध्यकर देती है । यह प्रक्रिया अनन्त है, इसी में कविता और कला की जीवन्तता भी निहित है।

स्पष्ट है कि कविता या कला की वरेण्यता प्रागबिम्बीयता पर निर्भर रहती है । अतः कविता के महत्व का अंकन उसमें प्राप्त प्रागबिम्बीय और मिथकीय तत्वों के अध्ययन के द्वारा करना समीचीन है । प्रस्तुत प्रबन्ध में अज्ञेय की कविताओं के अध्ययन लिए यह प्रागबिम्बीय दृष्टि अपनायी गई है ।

जहाँ तक हिन्दी का कविता के प्रागबिम्बीय अध्ययन से सम्बन्ध है, उत्तर नकारात्मक है । आनुषंगिक रूप में आलोचना सम्बन्धी लेखों और ग्रंथों में शार्लिटाएपों और मिथकों का परामर्श है, और आलोचना की एक नई विधा के रूप में उनकी चर्चा भी प्राप्त है, बिम्बविधान और प्रतीक विधान के सन्दर्भों में प्रागबिम्बीय प्रतीकों और बिम्बों पर पार्श्वप्रकाश डाला भी गया है । लेकिन एक कवि के सम्पूर्ण काव्य की प्रागबिम्बों के आधार पर अध्ययन का विषय नहीं बनाया गया है ।

लेकिन पाश्चात्य देशों में साहित्यालोचन की इस नई दिशा की ओर आलोचकों का ध्यान आकृष्ट हुआ ही। अनेक महत्वपूर्ण आलोचनात्मक अध्ययन लिए इसने रास्ता खोल दिया। इस नयी दृष्टि से पेट्रोनियस के अनुशीलन पर कई विद्वान इस सदी में लगे रहे। ग्रीक त्रासदिकारों और होमर की कृतियों में मूलभूत अनुष्ठान-परक संकेतों के विवेचन में जेन हैरिसन, एफ. एम. कार्नफर्ड, गिल्बर्ट मुरे, रेग्लूलेग आदि आलोचक निरत हुए। उनका यह परिश्रम ही इस दिशा में सर्वप्रथम रहा। मिसेज हैरिसन् ने ग्रीक धार्मिक सम्प्रदायों के प्रादुर्भाव के पीछे के सामाजिक तत्वों को ढूंढ निकालने का परिश्रम किया। कार्नफर्ड ग्रीक त्रासदियों के अनुष्ठान परक आधारों की समीक्षा से उलझे रहे। डी.एच.लॉरेंस ने अपने काल्पनिक पात्रों को प्रागैतिहासिक प्रतीकों के रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति प्रदर्शित की(Studies in Classic American Literature)। यह उनका परिश्रम जीवन की अतिरिक्त शक्तियों से कवि की सर्जनात्मक शक्ति के सम्बन्ध का परिचय कराता है। मिस. मॉड. बोडकिन का "Archetypal Patterns in Poetry" नामक ग्रन्थ इस दिशा में एक मूल्यवान उपलब्धि है। कॉलिन विल्सन, बी.विनस्टन नैट, आदि ने भी अपनी मूल्यवान रचनाओं से समीक्षा की इस शाखा की वृद्धि की है। सबसे बढ़कर गोथे के 'फौस्ट' नाटक पर स्वयं युंग की टिप्पणियाँ कविता में प्रागैतिहासों के संप्रसारण को प्रमाणित करती हैं।

भारतीय साहित्य में इस नवीन आलोचना पद्धति ने अभी तक काफी मात्रा में प्रचार नहीं पाया है। अतः यह अध्ययन और भी संगत समझता हूँ।

अज्ञेय हिन्दी के कृतविद्य कवि हैं। वे हिन्दी में आधुनिकता के पुरस्कर्ता हैं। लेकिन उनकी आधुनिकता का अर्थ परम्परा से एकदम विच्छिन्न होना नहीं है। "कविता कविता से ही जन्म लेती है" माननेवाले वे परम्परा से सूक्ष्म तात्विक पक्ष में अपने को अविच्छिन्न रखते हैं। साथ ही चेतना के परिष्कार के द्वारा युग से संपृक्त

रहने में वे संस्कृति की जीवन्तता भी अनुभव करते हैं ।

अज्ञेय की कविता, उनकी काव्य - चेतना आदि इस सांस्कृतिक अवधारणा से अनुप्राणित है । उनका व्यक्तित्व भी उससे आमूलाग्र प्रभावित है । इसी कारण, अपने कृतित्व की पृष्ठभूमि की अवस्था में वे कहते हैं कि हर व्यक्ति अपने राष्ट्र की संस्कृति का अभिन्न अंग है । कविता उसी अवचेतन मानसिक पटल से फूट पड़ती है जहाँ से संस्कृति अंकुरित होती है । संस्कृति व्यक्ति की आन्तरिक प्रीति के अभिरूप, के रूप में विदित होकर 'स्व - पर सम्बन्ध' के मूलभूत तत्व (आत्मविस्तार) के साक्षात्कार के कार्य में सहायक सिद्ध हो । अज्ञेय के 'मम - ममेतर' संबंध के विकास के पीछे यही धारणा है । आन्तरिक आकुलता के रूप में जन्म लेनेवाली कविता इस अन्तर्प्रीति से कान्तिमय होकर कवि के आत्म - सत्य के रूप में सामने आता है तो वह ग्राहक के अन्तस्तल को छू लेती है, वह उसकी भी चीज़, उसका भी सत्य हो जाती है । इसप्रकार आत्मा और आत्मा के बीच सम्बन्ध, संवाद कार्यान्वित हो जाता है । विषय और वस्तु (subject and object) का भेद यहाँ समाप्त होता है । वस्तु की विषयीगतता (subjectivity aspect) में ही उसकी सामाजिकता (social sentiment - Collective) भी संपृक्त है ।

उनकेलिए ससीम मनुमानव अद्वितीय और महत्वपूर्ण है तो उसका कारण यह है कि उसमें असीम शक्ति का स्रोत उत्तरोत्तर विकास पाता रहता है । अज्ञेय की जीवन - परिस्थितियाँ और अध्ययन - अध्यापन और प्रवासों ने उनमें व्यक्ति - बोध को तीव्र कर दिया, उनकी अन्तर्मुखता को अगाध बनाया । अतः उन्होंने अपनी अन्तः शक्ति को देख लिया । फलतः अस्मिता के संकुचित दायरे से एकदम मुक्त, कभी कभी अपने सहजीव ममेतर की ओर और कभी कभी असीम निखिल ममेतर की ओर गतिवाली उनकी विस्तार - कांक्षी अन्तरात्मा के नाना प्रकार के अभिव्यंजन की अनुभूतियों से

उनका काव्य परिपुष्ट हो सका है। अनुभूति के सूक्ष्मतल पर 'मम - ममेतर' सम्बन्ध की व्यापना करने में अज्ञेय को समर्थ बनानेवाला तत्व उनकी अन्तर्लीन के निष्क्रिय में निहित अनादि सृजन - शक्ति ही है। इसप्रकार हम प्राग्जिज्ञासीय दृष्टि से अज्ञेय के कृतित्व की बहराई में प्रवेश करके उनके व्यक्तित्व पर पहुँच पाते हैं। साथ ही उनकी कविता में प्राग्जिज्ञासों और मिथकों के भिन्न परिस्थितियों के अनुसार स्वीकृत प्रतीकों और अर्थ - छायाओं को समझने का अवसर भी इसके द्वारा मिल जाता है।

प्रयोगशील और नई राह के अन्वेषी हैं अज्ञेय। सृजन के पक्ष में उन्होंने यह आवश्यक समझा। कारण कि अपनी अपूर्वानुभूतियों को पूर्णतः सफलतापूर्वक संप्रेषित करने में दृष्टिग्रस्त माध्यम उन्हें अनुपयोगी लगा। अतः माध्यम का परिष्कार करके नव्यार्थ संवहन क्षम बनाने की चेष्टा उन्होंने की। यह परिश्रम अज्ञेय की दृष्टि में परम्परा के अनुकूल है। परम्परा रूढ़ियों का संघात नहीं है। कवि का कर्म परम्परा को आगे ले जाना है तो उसे सामयिक बनाना भी है। उसका अर्थ यह है कि माध्यम की सजीव बल्ला कर वर्तमान जीवन की अपूर्वानुभूतियों का संवहन करने की क्षमता बढ़ाना है, और उन्हें सांस्कृतिक परम्परा में जोड़ देना है।

संस्कृति के अटूट अंग के रूप में अपने को समझनेवाले अज्ञेय कभी स्वाकिता से आतंकित और निराश नहीं है। विश्वव्यापी अनवरुद्ध प्रेम की धारा में उन्हें निसर्गता के अन्यस्त कर दिया। निसर्गता ने एक ओर आर्द्र उत्सर्ग भावना उनमें विकसित कर दी, तो दूसरी ओर जीवन की विसंगति और मृत्यु के आतंक से उन्हें दूर रखा।

इसप्रकार भारतीय आध्यात्मिक चिंतन और सांस्कृतिक परम्परा की पृष्ठ - भूमि अज्ञेय के कृतित्व के पीछे रहती है। अतः उनकेलिए काव्यानन्द परम - साक्षात्कार

का आनन्द है । अध्यात्म - साधक ब्रह्म साक्षात्कार की अनुभूति के वर्णन के द्वारा स्वान्तर्भूत समष्टि तत्व - सामूहिक अचेतन और प्रागुक्तिय - का परिचय देते हैं तो कवि अपनी अन्तर्मुखी काव्य - साधना के द्वारा तीव्रानुभूति जन्य आन्तरिक विश्वास के रूप में अनावृत होनेवाले उसी समष्टि तत्व को और उसकी अनुभूतियों को प्रकट करने का प्रयत्न करता है । दोनों पक्षों में अन्तर्गत का उद्घाटन और प्रागुक्तियों का प्रतीकात्मक साक्षात्कार ही सम्पन्न होते हैं । दोनों सहजावबोधमूलक हैं ।

अज्ञेय की कविता में प्रकाशित प्रागुक्तियों और मिथकीय तत्वों के प्रस्तुत अध्ययन में इसप्रकार कवि की परम्परा - संपृक्ति की अनिवार्यता पर प्रकाश डाला गया है । साथ ही, उनकी कविताओं में प्राचीन मिथकों की नए अर्थों में पुनः सृष्टि और मिथकीय वातावरण की सहजता आदि भी अध्ययन का विषय बनाया गया है ।

अध्ययन की सुकरता की दृष्टि से प्रस्तुत प्रबन्ध तीन भागों में विभक्त किया गया है ।

प्रथम खण्ड प्रागुक्तिय और मिथक के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालता है । उसके द्वारा प्रागुक्तिय और कला के बीच के सम्बन्ध को स्पष्ट करने का प्रयास भी किया गया है । द्वितीय खण्ड में अज्ञेय के व्यक्तित्व और कृतित्व का अवलोकन है । उसके अन्तर्गत अज्ञेय की जीवन यात्रा की मुख्य घटनाओं का विवरण और उसके आधार पर उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के मूल्यांकन का प्रयास हुआ है । प्रबन्ध का तृतीय खण्ड अज्ञेय की कविताओं का प्रागुक्तियीय अध्ययन प्रस्तुत करता है ।

अज्ञेय कविता में प्रतिबिम्बित मुख्य प्रागुक्तियों और मिथकों को समझ लेने तथा उसके आधार पर उनकी कविताओं का मूल्यांकन इसमें किया गया है ।

प्रथम खंड के पहले अध्याय में डा.युंग के कला - सम्बन्धी अभिमतों की विशद चर्चा है । कला - सृजन का मूल्यांकन उसके पीछे की मानसिक प्रक्रियाओं के आधार पर करने का प्रयास तो पहले भी किया गया था । इसके अलावा, प्रयोजन की दृष्टि से भी कला - समीक्षा की बहुत पुरानी परिपाटी भी वर्तमान थी । लेकिन आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने कला को कुछ भिन्न मनोवैज्ञानिक व्यापार समझा । इसमें भी प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड और युंग भी इस बात में भिन्न मत रखते हैं । फ्रायड ने कला को कोई महत्वपूर्ण मनोव्यापार नहीं माना । युंग फ्रायड के इस मत को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे । उनकी दृष्टि में मानव की सृजन - शक्ति (creative power) सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । दोनों विद्वानों के अभिमतों की चर्चा अलग अलग करके दोनों को पर्याप्त मात्रा में स्पष्ट करने की कोशिश इस अध्याय में की गई है । उसके पश्चात्, युंग से निर्द्धारित प्रारूपिक्य - सिद्धान्त के महत्व और कलाकारों की कृतियों की रचना में प्रारूपिकों की महत्वपूर्ण भूमिका पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है । अध्याय के अन्त में प्रारूपिकों का सामान्य विवरण और उनके मनोवैज्ञानिक धर्म का निरूपण है ।

दूसरे अध्याय में बिम्ब - प्रतीकादि की चर्चा की गई है । कला में इन दोनों तत्वों की प्रधानता को स्पष्ट करना इसका उद्देश्य है । प्रतीकीकरण मानव का बुनियादी मानसिक धर्म है । भावों का गठन और संप्रेषण प्रतीकीकरण की प्रक्रिया के द्वारा ही संभव है । अतः भावीकरण और संप्रेषण या अभिव्यंजन में प्रतीकों और बिम्बों की अनुपेक्षणीयता रहती है । कला के सम्बन्ध में भी यही बात है । कला जो मानव का सर्वश्रेष्ठ मानसिक व्यापार है, कैसे बिम्बादि को छोड़ सकती है ? इन तत्वों की अनिवार्यता कला में निर्विवाद है । इन सभी मुद्दों को इस अध्याय में उठाया है ।

सब प्रकार के बिम्बों और प्रतीकों की आद्यमातृका है प्रकृतिबन्ध। उन मूल - बिम्बों की चर्चा तीसरे अध्याय का उद्देश्य है। आद्यबिम्बों की मनो - वैज्ञानिक अवधारणा और उनकी मनोवैज्ञानिक सत्यता को प्रकाशित करने के बाद उनके स्वरूप - निर्धारण और मनोवैज्ञानिक धर्म की विवेचना भी इस में हुई है। इन विवेचनों के प्रकाश में, प्रतिभा और सहजावबोध के मौलिक तत्व के रूप में प्रकृतिबन्धों की परख भी अध्याय के अन्त में की गई है।

चौथे अध्याय में सर्प सत्ता, काया, प्रोटोविवेकी माता, पिता आदि कुछ प्रमुख प्रकृतिबन्धों की विशेष चर्चा हुई है। इसका उद्देश्य मनुष्य के आन्तरिक व्यापार में विशेष कर उसके रचनात्मक (सर्जनात्मक) व्यापार में प्रकृतिबन्धों की भूमिका को स्पष्ट करना है।

पाँचवाँ अध्याय मिथकों की विवेचना करता है। मिथक प्रकृतिबन्धों की सबसे प्राचीन और प्रथम अभिव्यक्ति है। वे अतीत का गल्प मात्र नहीं है। वे आदिम मनुष्य की प्राप्त जीवन - सम्बन्धी आत्मिक ज्ञान है, साथ ही वे मानवातीत विशेष - प्रकार की अन्तःप्रेरणा अथवा मनःशक्ति को प्रमाणित करते हैं। वे मानव के प्रतीक - शक्ति के सबसे पुरातन नमूने हैं और साथ ही वे ही मानव की संस्कृति का मूलाधार गठित करते हैं। कारण कि इन्हीं मिथकों में मानव की धार्मिक (आध्यात्मिक) धारणाएँ व अनुष्ठान तथा आचरण सब समाहित, व्यंजित और जीवन्त रहते हैं। मिथकों में भाषा और भाव दोनों का तादात्म्य (स्वीकरण) हो गया है। आधुनिक कविता इस मिथकीय चित्तावस्था की ओर पश्चादागमन की प्रवृत्ति दिखाती है - अर्थात् तीव्र व्यक्ति - परकता की ओर मुड़ी दीखती है। अतः इस विशेष अर्थ में कविता मिथक ही है। इस प्रकार कविता और मिथक के सम्बन्ध को इस अध्याय में व्यक्त किया गया है।

द्वितीय खण्ड के पहले अध्याय में अज्ञेय की जीवन - यात्रा का अवलोकन किया गया है । जीवन की प्रमुख घटनाओं के कालक्रमानुसार विवरण के द्वारा उस यात्रा की गति - विगतियों और विभिन्न मोड़ों को चित्रित किया है यहाँ । इन सबके आधार पर अज्ञेय के व्यक्ति स्वरूप (personality) को समझ लेने का प्रयास हुआ है । इसप्रकार यह अध्याय कवि के व्यक्तित्व की मूल विशेषताओं यायावरी, आत्मकेन्द्रीयता, एकांतप्रियता आदि का वस्तुनिष्ठ आकलन प्रस्तुत करता है ।

दूसरा अध्याय कविता के सम्बन्ध में, उसके नाना पक्षों के सम्बन्ध में कवि के अभिमतों, दृष्टिकोण और धारणाओं के आकलन और विश्लेषण तथा मूल्यांकन को प्रस्तुत करता है । कला क्या है ? साहित्य और समाज का क्या संबन्ध है ? साहित्य और परम्परा, कला में माध्यम का महत्व, माध्यम का परिष्कार और मौलिकता, नई काव्य - संवेदना की आवश्यकता, संस्कृति की उन्नति केलिए चेतना के परिष्कार की अनिवार्यता, कविता संस्कृति का संवाहक है, समाज से कलाकार का दायित्व - आदि अनेकों मुद्दे इस अध्याय में उठाये गए हैं । इन प्रश्नों की चर्चा के द्वारा स्पष्ट किया गया है कि अज्ञेय के कला और साहित्य सम्बन्धी विचार कितने गंभीर और मौलिक हैं ।

इस खण्ड के तीसरे अध्याय में अज्ञेय के संवेदन - पक्ष के विकास और उसके पीछे की मूल वृत्तियों के प्रति के सर्वेक्षण प्राप्त है । अज्ञेय में काव्य - चेतना का स्फुरण प्रकृति के प्रति घनिष्ट प्रेम और लयपूर्ण गति की ओर दुर्निवार आकर्षण की तीव्रता में हुआ था । वह बाद में जीवन के वैविध्यपूर्ण नाना अनुभवों के गुजर कर गंभीरता और विस्तार पा गई । अन्त में वह काव्य चेतना - कवि का संवेदन - व्यक्ति की अद्वितीयता के महत्व की स्थापना में शान्ति और समाधान अनुभव करती है । और इसप्रकार व्यक्ति के व्यक्तित्व की सुरक्षा में उनकी अनुभूति परितृप्ति पाती है ।

इसप्रकार यह अध्याय कवि की संवेदना के विकास के विभिन्न आयामों को पर्याप्त मात्रा में प्रकाशित करता है ।

चौथा अध्याय भाषा के माध्यम (शाब्दिक माध्यम) पर अज्ञेय के विचारों को प्रकट करता है । किसी भी माध्यम का मौलिक धर्म संप्रेषण है - भावों का अभिव्यंजन है । अतः उसे काफी मात्रा में अथवा पर्याप्त ढंग में संप्रेषण का समर्थ होना चाहिए । माध्यम के लिए यह सर्वथा आवश्यक है कि वह नए संदर्भों की संगति से निष्पन्न होनेवाले नए अर्थों और चित्तावस्थाओं को व्यक्त कर सके । यहीं कवि की मौलिकता की परीक्षा ली जाती है क्यों कि यह तथ्य कवि को माध्यम पर प्रयोग करने लिए बाध्य कर देता है । मौलिकता की परख की दृष्टि से भाषा व शैली पर अज्ञेय की प्रयोग - शीलता की विवेचना इसमें की गई है ।

तृतीय खण्ड के पहले अध्याय में अज्ञेय की कविताओं में उपलब्ध प्रागू - बिम्बीय सूचनाएँ प्रकाश में लायी गई हैं । उनकी सम्पूर्ण कविता में भी आपेक्षित किसी अन्तर्भूत अज्ञात तथ्य की पुकार अनुरणित मिलती है । उस आन्तरिक तथ्य के बिम्ब की प्रकृति ही कवि के सामूहिक अचेतन के जागरण के अवीक्षपूर्वक अनुभव (सहजानुभूति) को प्रमाणित करती है । ऐसी सूचनाओं की विवेचना इस अध्याय में की गई है ।

दूसरे अध्याय में ऐसे चुने हुए काव्य - सन्दर्भों को अध्ययन का विषय बनाया गया है जिनमें अक्सर किसी प्रागबिम्ब का साक्षात्कार या बिम्ब उपलब्ध होता है। कवि के जीवन - सन्दर्भ से सम्बन्धित करके उन तथ्यों का अध्ययन करके यह दिखाने की कोशिश की गई है कि प्रागबिम्ब का जागरण कवि की वैयक्तिक अनुभूति को सामान्यता प्रदान करता है । स्नेह तथ्य, व्यक्तिसम्भावी, माया, आदिपिता, आदिमाता, प्रौढ़ विवेकी, ईश्वर, आत्मा आदि अज्ञेय में मुख्यरूप से साक्षात्कृत प्रागबिम्ब हैं ।

मिथकीय तत्वों का अध्ययन तीसरे अध्याय में हुआ है। अज्ञेय की कविता में मिथक में भाव कुछ मिलकर दोनों एक हो जाते हैं अर्थात् पूरी कविता में मिथक भरा रहता है। मिथक ही कविता बनती है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि मिथक केवल रूपक के तल पर सीमित ही रहता है। इसके अलावा, कवि के अनजाने ही शब्द-चयन की विशिष्टता और अभिव्यंजन की विशिष्टता के कारण मिथकीय वातायरण कविता को आविष्टित करता दिखाई पड़ता है। जहाँ उन्होंने मिथकीय प्रतीकों का कौशलपूर्वक प्रयोग किया है वहाँ उन प्रतीकों का शिल्पन करके उन्हें अपने भाव के सशक्त संप्रेषण का साधन बना दिया है।

चौथे अध्याय में कुछ महत्वपूर्ण प्रतीकों की विवेचना की गयी है जो प्राग्-हिन्दीय स्वभाव प्रकट करते हैं। इनके अतिरिक्त 'असाध्यवीणा' की एक संपूर्ण प्रतीकात्मक कविता के रूप में देखकर, प्राग्हिन्दीय दृष्टि से उसका विशेष अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। अन्त में, उपसंहार में अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों का प्रतिपादन है।

यह शोध - प्रबन्ध कोचिन विश्वविद्यालय के आचार्य डा.ए. रामचन्द्र देव जी के निर्देशन में तैयार किया गया है। उनकी निरन्तर प्रेरणा, वात्सल्यभरे उपदेश और पाण्डित्य-पूर्ण दिशा - निर्देशन ही इसके निर्वहण में आद्योपान्त मेरे मार्ग को सुगम बनाते रहे। उनके वचनों से मैं ने शक्ति अर्जित की, उनके बहुमूल्य सुझावों से मैं ने दृष्टि पायी। उस महान मनीषी गुरुवर के सान्निध्य में ही मैं हमेशा अपनी वैचारिक आकुलताओं से मुक्ति का अनुभव कर सका हूँ। उन से मैं ने बहुत अधिक पाया कि मेरा कृतकृत्य होना संभव नहीं। उनके सम्मुख मैं सदैव नतशिरस्क हूँ। कृतज्ञता का भाव्यभाव मेरे अन्दर व्याप्त रहता है। उसे शब्द बद्ध करने में मैं असमर्थ हूँ।

मेरे इस शोधकार्य पर विभाग के अध्यक्ष डा.एम.रामन नायर जी की भी सद्भावपूर्ण दृष्टि रही है। उनके प्रति मैं बहुत कृतज्ञ हूँ।

विभाग की रीडर डा. एम. ईश्वरी जी की भी विशेष सहायता मुझे प्राप्त हुई है। उन्होंने भी अपने सुझावों से मुझे अनुगृहीत किया है। उन्हें भी मैं कृतज्ञता के सुमन करता हूँ।

मैं लेखकों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित कर रहा हूँ जिनकी पुस्तकों की प्रत्यक्ष या परोक्ष सहायता इस शोध - प्रबन्ध की तैयारी में ली गई है।

मैं आभारी हूँ अपने उन सब मित्रों का, जिन्होंने इसकी पूर्ति केलिए काफी प्रोत्साहन दिया है। महाराजास कालेज के प्राध्यापक डा. एन. मोहनन और इसमें संकलित चित्रों के रचयिता श्री के. रामदास के नाम यहाँ विशेष स्मरणीय है।

त्रिवेन्द्रम पब्लिक लायब्रेरी, केरल यूनिवर्सिटी लायब्रेरी, कोट्टयम पब्लिक लायब्रेरी और कोचिन यूनिवर्सिटी लायब्रेरी सामग्री संकलन में मुझे पर्याप्त सहायता मिली है। एतदर्थ उक्त पुस्तकालयों के अध्यक्षों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ।

कोचिन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के पुस्तकालय की अध्यक्ष श्रीमती पुष्पाकुमारिट्ट नम्पूरान के सद्भाव पूर्ण सहयोग भी कृतज्ञता के साथ स्मरण करता हूँ।

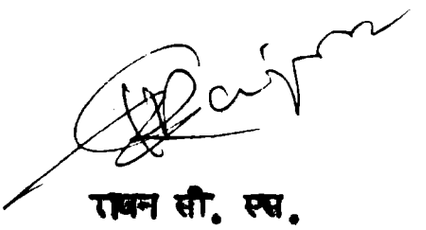

रावन सी. एस.

कोचिन्,
25. 4. 1985.

অনুক্রম

अनुक्रम

प्रथम खण्ड पृ.सं. 1-109

पहला अध्याय : कला के संबन्ध में युंग का अभिमत 3- 41

कला मनोविज्ञान का विषय - - कलात्मक अभिवृत्ति और संवेदन की क्षमता - - कला का विवेचन बहुमुखी दृष्टि - कला मनोवैज्ञानिक दृष्टि : फ्रायड और युंग - - कला के पीछे प्रतीक विधान की प्रवृत्ति - - प्रतीक - रचना महत्वपूर्ण मानसिक व्यापार : मिथकों की आधुनिक दृष्टि - - भाषा भी प्रतीक है : भाषा और मिथक में साम्य - प्रतीक में वस्तु और व्यक्ति का तादात्म्य - भाषा का बीजस्थ रूप कविता में - - प्रतीक कलाकार के मूलभाव को समझने का साधन - मिथक, कविता व स्वप्न - - काव्यानुशीलन की नई दृष्टि - - आधुनिक साहित्य समालोचना पर युंग का प्रभाव - - कला और स्वप्न का पारस्परिक सम्बन्ध - - कला और स्वप्न : अन्तर - - कला फ्रायड की दृष्टि में - - युंग द्वारा प्रत्याख्यान - - आर्किटाइप और सामूहिक अचेतन - - आर्किटाइप क्या है ? - - प्रागबिम्ब का मनोवैज्ञानिक धर्म - - युंग का महान योगदान - - निष्कर्ष ।

दूसरा अध्याय : कला में बिम्ब और प्रतीक 42-54

प्रतीक - रचना मानव की मौलिक प्रवृत्ति - - प्रतीक चिंतन का अग्रगामी है - - प्रतीक - रचना - सक्षम कवि के बौद्धिक की कसौटी है - - प्रतीक में भाषा और अनुभूति का एकीकरण - - प्रतीक में

पृ. सं.

बौद्धिक और भावनात्मक तत्वों का योग - - कला रूप्य मन का व्यापार नहीं, अतार्किक अन्तः शक्तियों से प्रेरित है - - प्रतीक एक प्रकार की भाषा है - - प्रतीक - रचना की प्रवृत्ति कला - सृजन के पीछे वर्तमान है - - मिथकों का महत्व - - निष्कर्ष ।

तीसरा अध्याय : प्राणबिम्ब - 1 55–69

प्राणबिम्ब की मनोवैज्ञानिक अवधारणा - - प्राणबिम्ब का स्वरूप - निरूपण - - प्राणबिम्ब का मनोवैज्ञानिक धर्म - - निष्कर्ष ।

चौथा अध्याय : प्राणबिम्ब - 2 70–93

आद्यनारीबिम्ब - - महामातृबिम्ब - - पितृबिम्ब - - प्रौढविवेकी - बिम्ब - - छाया बिम्ब - - व्यक्तिसत्ताभासी - बिम्ब - - आत्म - बिम्ब - - निष्कर्ष ।

पाँचवाँ अध्याय : मिथक 94–109

मिथक झूठी कल्पना नहीं - - यह मानव की मूलभूत एकता का प्रमाण है - - मिथक प्रागैतिहासिक मनुष्य के प्राणबिम्बीय चिंतन का परिणाम है - - आदिम युग के मानव की प्रतीकात्मक प्रवृत्ति मिथकों में - - मिथकीय चिंतन में आत्मनिष्ठता की प्रबलता - - मिथक और प्रागैतिहासिक धार्मिक भावना : प्राकृतिक पदार्थों की चेतनता - - भक्ति का उदय : प्रकृति के विरुद्ध चेहरों के साक्षात्कार से

प्रेरित -- जादूगरी का आविष्कार : दुर्दैवताओं का उच्चाटन -- धार्मिक अनुष्ठानों का विकास और संस्कृतियों के प्रारंभ में मिथकों की प्राप्ति -- मिथक और संस्कृति -- मिथक और कला, मिथक और सामाजीकरण -- मिथकों का सामयिक महत्व -- निष्कर्ष ।

द्वितीय खण्ड 110-285

पहला अध्याय : अभिनव व्यक्तित्व की खोज 110-148

हिन्दी में आधुनिकता के प्रवर्तक और नए मूल्यों के अन्वेषक कवि -- जन्म और बचपन : शिक्षा का आरंभ और साहित्य - रुचि का उदय -- प्रकृति सौन्दर्य की ओर आकर्षण और अंग्रेज़ी साहित्य का संपर्क -- हिन्दी के प्राचीन साहित्य का अध्ययन -- कलियुगी शिक्षा का आरंभ और प्रो. हेन्डर्सन से भेंट -- टागोर - अध्ययन - मण्डल की स्थापना, नाना विषयक अध्ययन, कलकत्ता की यात्रा, प्रकृतिप्रेम और सौन्दर्य चेतना का विकास -- साधोर के फार्मिन कालिज में प्रवेश, क्रान्तिकारी दल से सम्बन्ध -- कालिज में विज्ञान का क्षेत्र -- क्रान्तिकारी दल का सक्रिय कर्मचारी -- प्रो. बनेर्ड और प्रो. डानियल का प्रभाव -- क्रान्तिकारी कार्य और जेलवास -- अध्ययन में विस्तार और साहित्यिक परिश्रम -- माता और छोटे भाई की मृत्यु और अन्य प्रियजन - वियोग और अन्य आघातों की पीड़ा के दिन -- जीवन का विस्तार -- पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश -- 'विशाल - भारत' में भर्ती -- कलकत्ता निवास, नगर- बोध का जागरण --

रेडियो की नौकरी - - विपथगा का प्रकाशन - - आत्मविश्वास का विकास - - सिविल मैरिज, 'शेखर : एक जीवनी' का प्रकाशन - - फ़ेसिज्म का विरोध और सेना में भर्ती - - सैनिक-वृत्ति के बीच में ही 1943 में 'तारसप्तक' का सम्पादन - - पिता का निधन और साहित्य की अज्ञेय का आत्म समर्पण, 1947 में 'प्रतीक' का प्रकाशन - 'हरी घास पर क्षण भर' और शरणार्थी का प्रकाशन - - 'प्रतीक' बन्द, 'नदी के द्वीप' और 'दूसरा सप्तक' का प्रकाशन - - प्रथमविदेश यात्रा : पश्चिम यूरोप की यात्रा, 1957 में कपिला मालिक से विवाह - - गार्हस्थ्य जीवन - - जापान और फ़िलिपीन की यात्रा - - वियतनाम की यात्रा - - लौटकर रचनाकार्य में रत - - प्रयोग-वादी अज्ञेय का पूर्ण विकास - - द्वितीय यूरोप -प्रवास , पियर-सिव - वीर के मठ में वास - - मसीही संस्कृति में अवगाहन - हिन्दुत्व में निखार - - तीसरी विदेश यात्रा : अमेरिका का पर्यटन : पैतृक के प्रति अपनेपन की वृद्धि - - ' अगिन पै पार द्वार' का प्रकाशन : साहित्य - स्वादमी के पुरस्कार की प्राप्ति - - दिल का दौरा, अस्तित्व की अनिश्चितता का तीव्र - बोध - - कष्ट सहन की समर्थता और समर्पण की वृद्धि - - 'दिनमान' का सम्पादकत्व - - इष्टजन वियोग और दुःख के दिन फिर - - पूर्वी यूरोप की पहली यात्रा - - आस्ट्रेलिया का प्रवास - - जन्मदेश में - - 'कितनी नावों में कितनी बार'का प्रकाशन - - अक्टे में कालिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय में रीडर्स-प्रोफ़ेसर - - विस्तृत यूरोप - पर्यटन और व्याख्यान - परम्परा - - अमेरिका में अज्ञेय : भीड़ में अकेले - - जोधपुर विश्व -

विद्यालय में प्रोफेसर -- टोक्यो यात्रा -- 'एक्सीमेन' का
सम्पादकत्व -- भारतपर्यटन फिर : काव्य संग्रहों का
प्रकाशन -- जर्मनी के हैडलबर्ग विश्वविद्यालय में व्याख्यान-
माला की तैयारी -- शेखर वर्ष में साहित्यिक परिश्रम --
पुन : भारत में : तत्कालीन परिस्थितियों के प्रति प्रति-
स्पन्दन -- सृजनात्मक कार्य -- 'तदेजति' -- अनासंगयोग
की एकान्त साधना -- 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' -- 'जननी -
जन्म भूमिश्च' -- 'निज भाषा उन्नति अहै' -- निष्कर्ष ।

दूसरा अध्याय : काव्य : अज्ञेय की दृष्टि में 149–172

प्रयोग और आधुनिक कवि -- प्रयोग के तीन आयाम --
वस्तुगत प्रयोग -- शिल्पगत प्रयोग -- लोकगीत और
आधुनिक लय बोध - भाषा परक प्रयोग -- दुरूहता क्यों ?
-- प्रतीक, बिम्ब और उपमान आदि का नवीन प्रयोग --
काव्यवस्तु की बोध - गद्यता और रहस्यात्मकता -- अज्ञेय की
काव्य दृष्टि और भारतीयता -- कवि और नैतिकता --
निष्कर्ष ।

तीसरा अध्याय : अज्ञेय की संवेदना के मूल में 173–255

छायावादी प्रवृत्ति, आदर्शात्मक मानवतावाद दृष्टि और विद्रोह-
भावना -- यांत्रिक सभ्यता और नगर बोध -- प्रकृति प्रेम
और परितृप्ति का क्षण -- संवेदना का केन्द्र व्यक्ति -- व्यक्ति-
वादिता का विकास -- मानव की अद्वितीयता पर अखण्ड -

विश्वास - - अस्तित्ववाद का प्रभाव - - अनुभूति की अद्वितीयता - - सम - समेतर सम्बन्ध - - वाच की स्वतन्त्रता - - निष्कर्ष ।

चौथा अध्याय : अनुभूति का शाब्दिक संवहन 256–285

कविता और शाब्दिक माध्यम - - अज्ञेय की भाषा सम्बन्धी मान्यता - - 'गिरा - अर्थ जल - बीचि सम' - - भाषा - मौलिकता की कसौटी - - माध्यम का संस्कार : कवि का सामाजिक दायित्व - - शब्दों का मितव्यय : भाषा पर अधिकार का प्रमाण - - लोकभाषा की वरिष्टता, प्रेषणीयता की दृष्टि से - - बिम्ब - प्रतीकादि, सफल भाव - स्फुरण के साधन - - प्रतीप योजना - - छन्द - - निष्कर्ष ।

तृतीय खण्ड 286–465

पहला अध्याय : अज्ञेय काव्य में प्राणविन्यास तत्व 286–323

अज्ञेय की कविताओं में प्राप्त प्राणविन्यास सूचनाओं का विश्लेषण - - निष्कर्ष ।

दूसरा अध्याय : अज्ञेय - कविता में साधारणीकृत प्रमुख प्राणबिम्ब 324–422

स्त्रैणबिम्ब - - छायाबिम्ब - - प्रौढ़ विदेशी बिम्ब - - मातृ-बिम्ब , - पितृबिम्ब - - पुरुष अन्य बिम्ब : आत्मबिम्ब व्यक्तिच्छायाभासी आदि - - निष्कर्ष ।

तीसरा अध्याय : अज्ञेय की कविताओं में मिथकीय तत्व 423–434

मिथक प्रतीक के रूप में -- प्राण भूत तत्व के रूप में
मिथक -- मिथकीय वातावरण की सहज सृष्टि --
निष्कर्ष ।

चौथा अध्याय : अज्ञेय काव्य के कुछ प्रकृतिपरक प्रतीक 435–465

चिड़िया -- सागर -- मछली -- पुल -- सूर्य --
बादल -- चट्टान-शिला -- असाध्यवीणा -- निष्कर्ष ।

उपसंहार 466–480

परिशिष्ट - 1

अज्ञेय की रचनाएँ 481–486

परिशिष्ट - 2

सहायक ग्रन्थ 487–505

परिशिष्ट - 3

चित्र - सूची 506

प्रथम खण्ड

पहला अध्याय

काव्य कला के सम्बन्ध में युंग का अभिमत

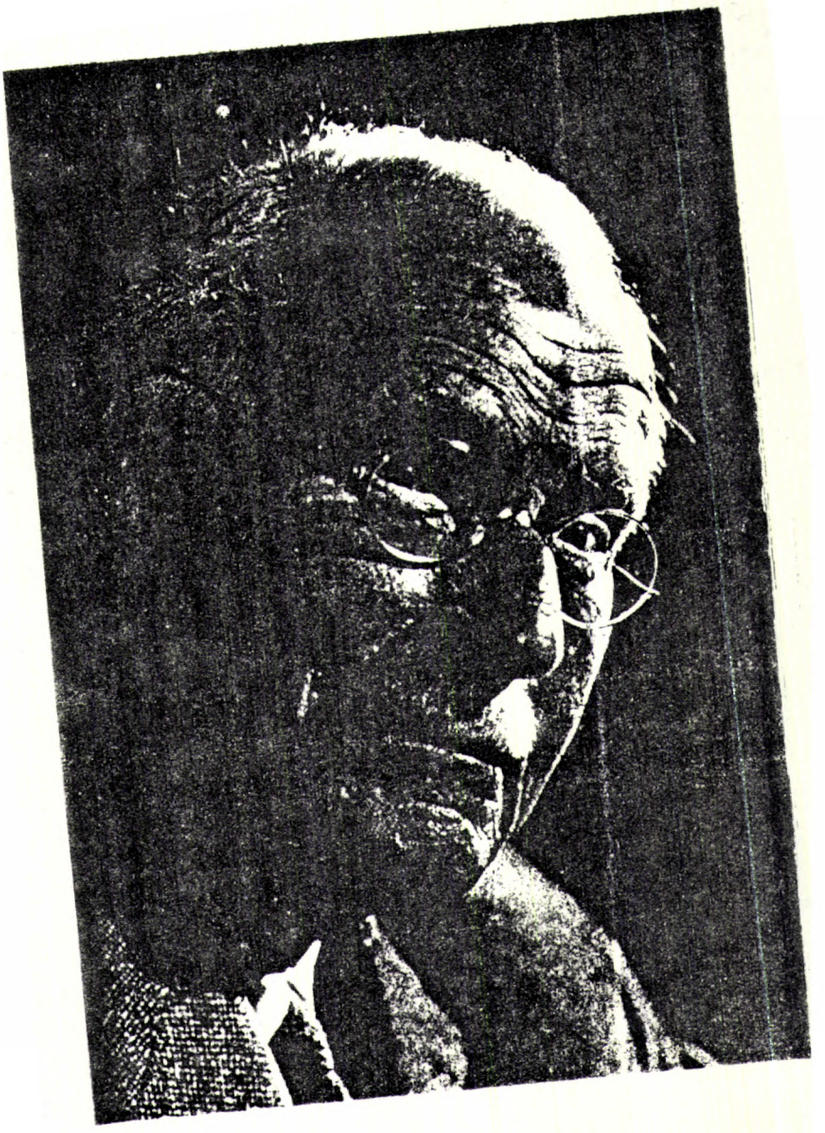

युग

काव्य कला के सम्बन्ध में युंग का अभिमत

कला मनोविज्ञान का विषय

मन केवल संचरण क्रम प्राणिजगत की निजी विशेषता है ।[1] वह हमेशा सक्रिय है ।[2] वह पंचेन्द्रियों द्वारा संवेदित संज्ञाओं(percepti) का संग्रह करता रहता है ।[3] इसका अर्थ यह नहीं कि वह एक दर्पण के समान बाह्य-जगत को ठीक उसी रूप में प्रतिफलित करता हो ।[4] वह मनुष्य की प्रायः एक ऐसा शक्ति-स्रोत है जो वस्तु जगत के सम्बन्ध में हमारी धारणाओं को बाधित करता है ।[5] वस्तुतः हमारे मानसिक जीवन के विकास पर नाना प्रकार की परिस्थितियों का - बाह्य - सहज ऊर्जा-बोध, निजी अस्तित्व की आकांक्षा, सामाजिक चेतना आदि अनेकों बातों का गहरा प्रभाव है ।[6] इसीप्रकार हम अपनी अस्तित्व-सम्बन्धी कमियों, वैयक्तिक त्रुटियों, जिज्ञासाओं, अभिलाषाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति मानसिक तल पर ही कर लेते हैं ।[7] वैज्ञानिक अनुसंधानों और कलात्मक अभिव्यंजनों में यह मूलभूत तत्व के रूप में विद्यमान है ।

---

1. Alfred Adler: Understanding Human Nature (Fawcett Publications Inc., New York, 5th Premier Printing 1965) P. 27
2. Ibid P. 28
3. Norman L. Munn: Introduction to Psychology. (Indian Edition 1967 by Oxford and IBH Pub. Co., Calcutta) P.365
4. Ross Stagner: Basic Psychology. (Charles M. Solley, Tata Mc Graw Hill Pub. Co. Ltd., Bombay 1970). P.224
5. William K. Wimsatt and Cleanth Brooks: Literary criticism, A short history (Indian Edn., Pub. by Oxford and IBH Pub. Co., Calcutta 1964). P.700
6. Alfred Adler: Understanding Human Nature P. 39
7. Ibid P. 48-49

इससे स्पष्ट है कि हमारा प्रत्येक व्यवहार परिस्थितियों के प्रति प्रतिसम्वदन के रूप में पहले मन में ही आरंभ होता है ।[1] अर्थात् व्यावहारिक जगत के स्थूल व्यापारों का सूक्ष्म रूप मानसिक व्यापारों में देख सकते हैं । हमारी बौद्धिक और हृदयपरक दृष्टिकोण बाह्य जगत के प्रति हमारी प्रतिसम्वदन की भिन्नता के परिचायक हैं । इन दोनों का सम्बन्ध क्रमशः विज्ञान और कला से होता है ।[2] थोड़े में, मानव की समस्त कलाओं और विज्ञानों का उदय मन में ही होता है ।[3] इसलिए दोनों मानसिक व्यापार ही है । अतः जीवन के विशाल क्षेत्र में मनुष्य के अन्य व्यापारों की भांति कला भी मनोविज्ञान के विषय की कोटि में आती है ।

कलात्मक अभिवृत्ति और संवेदन क्षमता

कला की प्रेरणा, मानवमात्र के लिए सहज है ।[4] यह एक अभिवृत्ति है । यह सौन्दर्योन्मुख चित्तवृत्ति विशेष सृष्टि और भुक्ति दोनों में व्यंजित होती है। परम्परानुमोदित विशिष्ट रचनाओं में ही नहीं, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, विशेष कर आधुनिक जीवन के हर कार्यक्षेत्र में कला की यह सहज प्रवृत्ति दृश्यमान है । वस्तुतः विशाल अर्थ में किसी भी कार्य के निर्वहण की उत्कृष्टता में कला स्फुरित होती है । इसलिए कह सकते हैं कि वह मनुष्य - व्यवहार की उत्कृष्टतम अवस्था का द्योतक भी है ।[5]

कला की अभिवृत्ति विशेष वैयक्तिक अनुभवों से विकसित होती है ।[6] इस विकास पथ में कलाकार की नाना प्रकार की योग्यताओं से लाभ उठाया जाता है ।[7]

---

1. Alfred Adler: Understanding Human Nature P. 50
2. Poets on Poetry: Ed. by Charles Norman (Collier Macmillan Ltd., London, II Imp. 1966) P. 180
3. C.G. Jung: Modern Man In Search of A Soul. (Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 10th Imp. 1949). P. 175
4. J. Stanley Gray, Ph.D. Psychology in Human Affairs. P. 398
5. Ibid P. 399
6. Clifford Morgan: Brief Introduction to Psychology P. 7 (J. Stanley Gray, Ph.D. Psychology in Human Affairs). P. 400- 401
7. Alexander Bain M.A.: The Senses and the Intellect P. 447

उसकी सृजनात्मक शक्ति अधिकांशतः अर्जन की क्रिया से पुष्ट होती है । इसके द्वारा बाह्य जगत की वस्तुओं और व्यापारों से वह प्रेरणा ग्रहण करता है ।[1] इसके अतिरिक्त वह पूर्ववर्ती रचनाओं के घटना - विवरण और पात्रों के चित्रण से अंश उसे मन में लेता है । इनके कल्पनापूर्ण संयोग व उचित वर्गीकरण से फिर कलाकार के अंदर उसकी अपनी सृष्टि की रूपरेखा उभर आती है, जो परिमार्जन के फलस्वरूप सृजनात्मक व्यापार की उत्कृष्ट साधना की कोटि में पहुँच जाती है ।[2]

अर्जन की इस प्रक्रिया में यह आवश्यक है कि कलाकार की संवेदन - क्षमता (Sensibility) तीव्र रहे, ग्रहणशील रहे । अभिव्यक्ति के लिए बीभूत वस्तु के स्वभाव और ढंग का उसको पूर्णज्ञान जरूरी है । इसके अतिरिक्त उसे ऐसी बातों की विशेष जानकारी अपेक्षित है जिनसे वह अपनी कला को पर्याप्त प्रभावशाली बना सके । इन दोनों योग्यताओं से युक्त प्रतिभाशाली जब निर्वैयक्ति की चतुरता (Operative skill) भी दिखाता है और उसे निरंतर अभ्यास से विकसित कर लेता है, तब उससे श्रेष्ठ रचना बन जाती है ।[3]

कला का विवेचन : वस्तुमुखी दृष्टि

कला के विवेचन का प्रयत्न कला रचना के साथ ही शुरू होता है । यह कार्य अब भी जारी है । कला के सम्बन्ध में विभिन्न देशों में, विभिन्न कालखंडों में भिन्न -

---

1. J. Stanley Gray, Ph.D.: Psychology in Himan Affairs. P. 398
2. Alexander Bain M.A.: The senses and the Intellect P. 447
3. Ibid P. 447

कला सृजन के पीछे के मनोवैज्ञानिक हेतुओं का विवरण ही निम्न लिखित पंक्तियों में भारतीय काव्यशास्त्रियों ने भी किया है -

" शक्ति निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भव ।। " मम्मटाचार्य, काव्यप्रकाश, काव्यात्म कारणम्

भिन्न और कभी कभी विरोधी दृष्टिकोण अपनाए गए हैं। अनेक प्रकार के सिद्धान्तों का आविर्भाव इससे हो गया है। उसकी मनोरंजन क्षमता और सार्वलौकिकता के बारे में सब प्रायः एकमत हैं। इसलिए सामान्यतः कह सकते हैं कि वह मानव मन के नाना प्रकार के बन्धनों को तोड़ कर उसे उन्मुक्तता के माधुर्य का अनुभव कराती है। मनुष्य की ऐसी स्वतंत्रता की उच्चतम अवस्था ही कला का रूप ले लेती है।

विभिन्न विद्वानों ने कला की परिभाषा भिन्न भिन्न दी है। कुछ पंडित उसे भौतिक प्रयोजन से रहित मानते हैं तो कुछ उसमें मानवचित्त की उदात्तावस्था का अभिव्यक्ति देखते हैं। कला हमारी सौंदर्य - चेतना को तृप्त करने का सर्वोत्तम साधन तो है ही, व्यक्ति के हृदय को पवित्र बनाने का वह उपकरण भी है। प्राचीन भारतीय काव्याचार्यों ने कला को ब्रह्मानन्द - सदृश सात्विक आनन्द की प्राप्ति का साधन माना। यहाँ सदैव कला को गंभीरता की दृष्टि से देखा जाता था। कवि यहाँ ऋषि था, द्रष्टा था।[1] कला आत्मविस्तार अथवा आत्मोन्नति का साधन।

उद्देश्य की दृष्टि से कला की विवेचना करने के साथ साथ, अन्तर्निहित सामान्य गुणों की दृष्टि से भी कला की चर्चा की जाने लगी थी। भारत में यह प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक लक्षित होती है। भारतीय काव्यशास्त्र परम्परा के प्रसिद्ध अलंकारवादीय सिद्धान्त इस पद्धति की कला - समीक्षा है। पाश्चात्य देश के प्लेटो, अरस्तू, लोंजिनस आदि के काव्यसिद्धान्त भी प्रायः इसप्रकार की आलोचना के फल हैं।

---

1. भारत में सर्वज्ञ के अर्थ में कवि का प्रयोग परमात्मा के लिए उपनिषदों में कई बार हुआ है - " कविर्मनीषी, परिभूस्वयंभू "
(मुण्डकोपनिषद् : ईशावास्योपनिषद्,8) 'कविं पुराणमनुशासितारम्'
(श्रीमद्भगवद्गीता : 8, 9)
'It (the term Poet) cometh of this-word 'Poiein' which is 'to make'. Sir Philip Sidney: A Apology for Poetry (Poets on Poetry). P. 24

पाश्चात्य देश में सौन्दर्य शास्त्रियों ने भी ' सत्यं, शिवं सुन्दरम ' (Truth, (Goodness and Beauty) के आधार पर कला की विवेचना की है ।[1] कला को वे सौन्दर्य ही मानते हैं, सौन्दर्य का सर्वोत्तम रूप प्रकृति में ही उपलब्ध है, अतः कला का सर्वोच्च लक्ष्य प्रकृति का नक्ल करना है ।[2] कुछ दूसरे विद्वानों केलिए कला का चरम उद्देश्य शिवत्व है और वे मानते हैं कि सुन्दर वह है जिसमें शिवत्व समाविष्ट हो ।[3] विंकिल मैन जैसे कुछ अन्य विद्वानों की राय में कला का लक्ष्य केवल बाह्य और स्थूल सौन्दर्य तक ही सीमित रहता है । वे सौन्दर्य के साक्षात्कार केलिए शिवत्व की शर्त स्वीकार नहीं करते ।[4] अर्थात् अभिव्यक्ति की सुन्दरता में ही कला का मर्म निहित है ।

सौन्दर्य तत्व को अलग करके कला के मर्म को ढूंढने वाले दार्शनिकों ने माना है, कला किसी ठोस वस्तु या सक्रिय व्यापार की ऐसी रचना है जिससे द्रष्टा को तीव्र आनन्दानुभूति प्राप्त हो, और उसके प्रेक्षकों या श्रोताओं पर व्यक्तिगत लाभ से बिलकुल रहित आह्लादकारी प्रभाव पड़ सके ।[5]

कला का प्रयोजन

कला केवल आनन्द साधन मात्र नहीं है । वह मानव के बीच पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करनेवाला अनिवार्य साधन भी है । प्रत्येक कृति द्रष्टा और

---

1. आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र का उपज्ञाता (founder of aesthetics) बॉमगार्टन (1714 - 1762) कला को सौन्दर्याभिव्यंजन ही मानते थे ।
2. Lev Tolstoi: What is Art? and Essays on Art (Aylmer Mande, Oxford Univ. Press, London, 9th Imp. P. 92
3. प्लेसर, मैक्डलस्टीन आदि सौन्दर्यशास्त्री इस विचार धारा के समर्थक हैं । (What is Art? and Essays on Art) P. 93
4. Ibid P. 93
5. Ibid P.119

दृष्टा के बीच एक प्रकार का आत्मसंबन्ध उत्पन्न करती है । जिसप्रकार वार्तालाप शब्दों के माध्यम से भावों और अनुभवों का निवेदन करके लोगों को एकता के सूत्र में बाँध लेता है, उसीप्रकार कला भी भावाभिव्यंजन से व्यक्ति - व्यक्ति के बीच में रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है । जो आदमी अपनी इन्द्रियों के सहारे दूसरे के भावप्रकाशन को समझ लेता है, वह उसके उस भाव का अपने हृदय में अनुभव करने में भी समर्थ है । जो व्यक्ति दूसरों की भावानुभूति के तल तक अपने साथ ले जाने में समर्थ है वही कलाकार है । इस प्रक्रिया में वह संकेतों का उपयोग करता है । (किसी भाव को जो एक व्यक्ति ने पहले अनुभव किया, किसी दूसरे में जाग्रत करना - शाब्दिक ध्वनियों, वर्णों, रेखाओं या क्रियाओं के माध्यम से उस भाव को ऐसे ढंग से दूसरों में जगाना कि वे भी उस भाव का उसीप्रकार अनुभव करें - यही कला का धर्म है ।) ऐसे, कला एक मानसिक व्यापार है जिसमें कलाकार संकेतों से अपने पूर्वानुभूत भाव को दूसरों में बोधपूर्वक संचारित कर देता है । ग्राहक स्वयं उसका अनुभव करने लगते हैं । कला का सबसे बड़ा गुण प्रभावोत्पादकता है ।[1] वह मनुष्य की व्यष्टि से समष्टि की ओर ले जाती है ।[2] उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर देती है । दूसरे शब्दों में, कला में वह शक्ति है जिसके द्वारा कलाकार अपनी अनुभूति को दूसरों में ऐसा संक्रमित कर दे कि वे उन अनुभूतियों का वैसा अनुभव करें जैसा कि कलाकार ने अनुभव किया था ।[3] काव्यानन्द को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' स्वीकार करनेवाले भारतीय कवि मनीषियों ने अभिन्नता बोध से पृथक उन्मुक्त

---

1. कला, विशेषकर कविता की प्रभाविष्णुता के स्वभाव के बारे में मतभेद हो सकता है, लेकिन उसकी अनिवार्यता पर सब एक मत हैं । Sir Philip Sidney विशेष काव्य शिल्प का साक्षात्कार है । सौन्दर्य कविता के प्रभाव का चरित्र लक्षण भी 'By these, therefore examples and reasons, I think it may be manifest, that the poet with that same hand of delight, doth draw the mind more effectually than any other art doth'. A Apology for poetry (Poets on Poetry) P. 41
2. The artist is an inner world, but its value depends upon the extend to which others can share it'. C.A.Burland, 'Man and Art', Studio Publications, London 1959. P. 38
3. A poets function - do not be startled by this remark - is not to experience the poetic state, that is a private affair. His function is to create it in others'. Paul Valery:'Art of Poetry' P. 60

चित्तावस्था में साक्षात्कृत अन्तर्गत की समरस - भूमि में घटित मम - ममेतर - तादात्म्य की अनुभूति को संप्राप्त आनन्द की असंप्रज्ञातसमाधि में साधक को प्राप्त कैवल्य से तुल्य ही ठहराया। काव्यानुभूति की स्थिति भी 'सी इम' की अवस्था है। उसकी महिमा भौतिक लाभ - दृष्टि से आँकी नहीं जा सकती है। इससे वंचित होना कोई भी समाज या समुदाय - चाहे वह सभ्य हो या बर्बर - पसंद नहीं करता।[1] वह उसके अनिवार्य की पहचान है। प्लेटो के 'रिपब्लिक' से उसका बहिष्कार किये जाने पर भी[2] मानव राशि के अन्दर वह सुप्रतिष्ठित ही है।

कला : मनोवैज्ञानिक दृष्टि : फ्रायड और युंग

वस्तुमुखी विवेचना में रचनाओं के उद्देश्य को ही अधिक प्रधानता मिल सकी थी।[3] सृष्टिकार की मानसिक स्थिति को उसकी रचनाओं के आधार पर विवेचन का विषय बनाने का कार्य मनोविज्ञान के विकास के साथ ही सम्पन्न होने लगा। दुर्भाग्य वश, मनोवैज्ञानिक भी साहित्य के मनोवैज्ञानिक आधार के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। कुछ मनोवैज्ञानिक कला को भ्रमित मन की सृष्टि मानकर अयथार्थ ठहराते हैं।[4] कुछ ने उसे कुछ गंभीरता के साथ लिया। उन्होंने उसे मनुष्य के मानसिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में आँकने की चेष्टा की। कला को भ्रामक माननेवालों में सिगमण्ड फ्रायड और उसे महत्व-पूर्ण स्वीकार करनेवालों में कार्ल गुस्ताव युंग प्रमुख हैं।

---

1. Sir Philip Sidney: A Apology for Poetry, Poets on Poetry P. 2
2. '..... the tragic poet is an imitator and therefore like all other imitators. He is thrice removed from the king and the truth...' .....Imitation has been proved to be thrice removed from the truth' Book X, Plato's Republic.
3. भारतीय काव्य शास्त्र परम्परा में विकसित अलंकारादि सभी सिद्धान्त काव्य के उद्देश्य के आधार पर विवेचन का प्रश्रय देते हैं। प्राचीन पाश्चात्य काव्य समीक्षा के रेचन, उदात्त तत्व आदि भी काव्य समीक्षा में उद्देश्य की प्रधानता को सूचित करते हैं।
4. फ्रायड के द्वारा निरूपित मनोविश्लेषण में कलात्मक चेतना को अवरुद्ध मन की उपज सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। (द्रष्टव्य: Collected Papers Vol.IV by Sigmund Freud P. 13-19).

फ्रायड [1] ने बताया कि यथार्थ जीवन की प्रतिकूल परिस्थितियाँ वे, जिनका सामना व्यक्ति को कभी कभी करना पड़ता है, आघातों से व्यक्ति को सुरक्षित रखने केलिए मन कुछ ऐसी सुख से लिया करता है जिससे वह बच जाता है । उसकी सहज वासना दिशान्तरित हो जाती है । ऐसी स्थिति में वस्तु जगत से व्यक्ति का सम्बन्ध अधिकाधिक टीला पड़ जाता है । वह किसी न किसी मानसिक, बौद्धिक या कायिक व्यापार में लगकर अपने मन की निराशा (कुंठा) को दूर करके आत्मपरितृप्ति पाता है।[2] कला भी, फ्रायड की दृष्टि में, सुख की ओर सहजोन्मुखता के सिद्धान्त (pleasure princi से परिचालित कार्य मात्र है ।[3] कलाकार अपने लिए एक भ्रामक मानसिक जीवन की सृष्टि करता है । उसके द्वारा ऐसे लोगों को भी जो मानसिक जीवन की सृष्टि करने में असमर्थ हैं, तृप्ति प्रदान करता है ।

युंग, इससे ठीक विपरीत कला को बड़ी महत्वपूर्ण समझते हैं । वे मानते हैं कि सर्गात्मक तत्व, कला और धार्मिक चेतना ये तीनों मनुष्य के अवचेतन की गहराई में छिपी रहती है । इसलिए सर्ग - चेतनायुक्त प्रतिभावान की दृष्टि हमेशा प्रतीकात्मक विश्वविधान की ओर लगी रहती है और उसके भाव वैयक्तिक आन्तरिक अवस्थितियों (dispositions) से नियन्त्रित होकर अभिव्यक्ति पाते हैं ।[4]

कला के पीछे प्रतीक - विधान की प्रवृत्ति

प्रतीक - रचना अथवा प्रतीक विधान दृश्य जगत के बीच जीवजगत के उदय से ही शुरू हुआ ।[5] अन्य मूक प्राणियों के समान मनुष्य भी भाषा के विकास के

---

1. फ्रायड के कला सिद्धान्त की चर्चा आगे विस्तार से की जाएगी ।
2. Sigmund Freud: Civilization and its Discontents, Section II, P. 773
3. Ibid P. 774
4. J.P.Chaplin: The Unconscious. Ballantine Books, New York, 1960. P. 178
5. Norman L. Munn: Introduction to Psychology. P. 431

पहले प्रतीकों के माध्यम से ही अपने भाव और चिंतन का संप्रेषण करता रहा । आधुनिक मानव भी प्रतीकों के माध्यम से विचार करते हैं । प्रतीक पिछले अनुभवों का प्रतिनिधित्व करते हैं । ये कभी कभी शब्द हैं, कभी कभी इशारे ।[1] थोड़े में, मानव के सभी मानसिक व्यापार प्रतीकों के द्वारा ही संपन्न होते हैं । कला में प्रतीकों की प्रमुखता है । मनोविज्ञान की दृष्टि से कला को अपने की परिपाटी आरंभ होने के पहले ही साहित्यकारों और साहित्य मर्मज्ञों के मन में शब्द और अर्थ के बीच के अन्तर से मुक्ति पाने का विचार अंकुरित हुआ था ।[2] कुछ विचारकों ने भाषा को प्रतीक से अभिन्न भी मान लिया ।[3] उनकेलिए वस्तु जगत स्वयं एक प्रतीकात्मक रचना है । यों वस्तु और शब्द का अन्तर मिटाकर स्वयं भाषा को (शब्द को) वस्तु मान लिया गया । अठारहवीं सदी के प्रतीकवाद के मूल में यह अभेद कल्पना विद्यमान है ।[4]

---

1. Norman L. Munn. Introduction to Psychology. P. 337
2. 'I wish to write a book on the power of the words .... is thinking impossible without arbitrary signs? And how far is the word 'arbitrary' a misnomer? Are not words etc. parts and germinations of the plant? And what is the law of their growth? In something of this sort I would endeavour to destroy the old anti thesis of Words and Things, elevating, as it were, Words into Things and living things too' said Coleridge in a letter to William Godwin (22nd September 1800) - Reproduced in Literary criticism: A short history. P. 584
3. William K. Wimsat and Cleanth Brooks: Literary Criticism, A short History. P. 584.
4. 'You have surely noticed the curious fact that a certain word, which is perfectly clear when you hear or use it in everyday speech and which presents no difficulty when caught up in the rapidity of an ordinary sentence becomes mysteriously cumbersome, offers a strange resistance, defeats all efforts at definition, the moment you withdraw it from circulation for separate study and try to find its meaning after taking away its temporary function' ..... It makes us believe that it has more meanings than uses ..... It turns into an enigma, an abyss, a torment of thought.....' Paul Valery: Art of Poetry. P. 55

प्रतीक रचना : महत्वपूर्ण मानसिक व्यापार

मिथकों की आधुनिक दृष्टि

प्रतीकवादी दृष्टिकोण ने आलोचकों को प्रारंभिक मनुष्य (Prinitive man) के प्रतीकों पौराणिक मिथकों (myths) और कथित कथाओं (legends) की ओर आकृष्ट किया । आधुनिक मनोविज्ञान ने इस दिशा में उनकी सहायता की । निष्कर्ष यह निकाला गया कि आधुनिक साहित्य की यह प्रतीकवादी प्रवृत्ति किसी भी प्रकार अप्रासंगिक नहीं, वरन वह पूर्णतः सोद्देश्य है । कुछ पंडित ऐसे मिथकों से ही भाषा की उत्पत्ति मानते हैं ।[1] साहित्य में निहित मिथकों के चैतन्य को उसकी विशेष महिमा स्वीकार करते हैं । वस्तुतः मिथक साहित्यभाषा या साहित्यिक रचना (रूप) की एक आत्यंतिक (extreme) अवस्था ही है ।[2] ऐसी स्थिति में मिथक की कविता से अलग करना कठिन है क्यों कि वह स्वयं प्रागैतिहासिक मानव के स्वप्नसिद्ध सपनों से संयोजित प्रतीक ही है जो स्वयं कविता है ।

---

1. कांट (Kant) के समकालीन जे.जी.हर्डर ने भाषा की मिथकीय प्रक्रिया से उत्पन्न माना । उनका कहना है - 'The earliest language was a dictionary of the soul, It was at the same time mythology and a marvellous epic of the actions and speeches of all beings - Literary Criticism - Short History. P. 374

   वीको (Vico) नामक पंडित भी भाषा को मिथकीय मानसिक दशाओं से विकसित मानते हैं । - Literary Criticism - A short History. P. 700

2. Myth, then, is one extreme of literary design' - Northrop Frye, Anatomy of Criticism, Princeton, New Jersey, Princeton University Press, 1957. P. 136

भाषा भी प्रतीक है : भाषा और मिथक में साम्य

मिथक में भाव और भाषा का पारस्परिक संयोग पूर्णतो गया है । मिथकीय भाषा के चैतन्य और भावसंवेदनक्षमता ने ठैठर जैसे पंडितों को दोनों के बीच साम्य जनक सम्बन्ध स्थापित करने की प्रेरित किया । लेकिन मिथक भाषा का जनक नहीं हो सकता । ठीक है कि भाषा प्रतीकात्मक स्वभाव रखती है । फिर भी, वह मिथक नहीं है । पर मिथक प्रतीक है । भाषा और मिथक में प्रतीकात्मकता का गुण वर्तमान है । अतः कासियर का कथन समीचीन है कि मिथक और भाषा को एक ही प्रवृत्ति से उद्भोरित मानना चाहिए ।[1] प्रातन मनुष्य की मिथकीय चिंतनक्षमता एवं अभिव्यंजना का प्रीत है । कासियर ने इसे (प्रतीक रचना की प्रेरणा को) साधारण सौन्दर्य अनुभव का सामूहिकरण और उदात्तीकरण कहा है ।[2]

प्रतीक में वस्तु और व्यक्ति का तादात्म्य

मनुष्य के उद्देश्य और मांग के अनुरूप प्रतीक गठित होते हैं । अतः प्रतीक को बाह्य वस्तु का कोई पहलू समझना गलत है । यह व्यक्ति के मन में रूप लेनेवाली वस्तु ही है । यह बाह्य वस्तु नहीं है । उसमें वस्तु और व्यक्ति का पूर्ण तादात्म्य हो जाता है ।[3] आदिम मनुष्य में भी यह तादात्म्य देखा जा सकता है । उसके मन में प्रतीक सम्बन्धी कोई भेदबुद्धि उठती ही नहीं । उसके बदले वहाँ शब्द और वस्तु का भेद पूर्णतः लुप्त हो जाता है । उसके मन में झिलमिलानेवाली मिथकीय धारणाएँ - ठीक अनुभवों से रूपायित ज्ञान का काल्पनिक प्रतीकात्मक रूप (the momentary gods) शब्दों के माध्यम से स्थिरता और दृढ़ता प्राप्त करती है। यहाँ शब्द केवल कोई मुखताराकार नहीं, बल्कि ज्ञान ही है । यही कारण है कि कभी कभी देवता

---

1. Ernst Cassirer: Language and Myth, translated by Susanne Langer, Harper and Brothers, New York, 1946. P. 88
2. Ibid P. 88
3. Ibid P. 58

से भी बढ़कर देवता का नाम अधिक शक्तिशाली सिद्धता है ।[1] यहाँ यह भी स्पष्ट होता है कि प्रतीक वस्तु और व्यक्ति का संयोग - ज्ञान नहीं है,[2] प्रत्युत् वह बिन्दु है जहाँ वस्तु और वाद् का अन्तर नहीं रह जाता है । मिथक, इस दृष्टि से, प्रतीकों का सर्वोत्कृष्ट रूप है क्योंकि वातातीत स्वर्गिक सत्य के साक्षात्कार की मिलित आवश्यकता के निमित्त में ही उसने जन्म लिया, प्राक्तन (प्रसूत) चित्त में, सहज ही । प्रतीकों की रचना और प्रयोग का सामर्थ्य ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है, उसे अपनी मौलिकता का परिचय कराता है ।[3]

भाषा का जीवन्त रूप कविता में

तर्क और बौद्धिकता के विकास के साथ साथ भाषा की सुकुमारता और आन्तरिकता नष्ट हो जाती है ।[4] वह रुक्ष, नीरस, शुद्ध वैज्ञानिक ( ) बन पड़ती है । यह स्थिति भाषा के लिए अनिष्टकारी है । इसमें भाषा की आपत्ति यह है कि वह जड़वत् रह जाती है । उस निर्जीव स्थिति से भाषा को बचाने तथा उसकी सृजनात्मक शक्ति को सुरक्षित रखने का कार्य कला ही करती है ।[5] कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार कविता का क्षेत्र मिथ्याओं (phantasies) और विभ्रान्तियों (hallucinations) का है, फिर भी उस में ही मानव की पवित्र भावनाएँ खर पाती हैं । पूर्ण और स्पष्ट अभिव्यक्ति पा सकती है ।[6] इसप्रकार कविता भाषा की वेगाकृतता(भावना - मूलक शक्ति या तेज) - emotional charge - बनाए रखती है ।

---

1. Ernst Cassirer: Language and Myth P. 48
2. Ibid P. 48
3. 'Hence instead of defining man as an animal rationale, we should define him as an animal symbolicum'. Ernst Cassirer, An Essay on Man, New Haven, 1944, P. 26
4. Literary Criticism a short history P.702
5. Language and Myth P. 99
6. Ibid P. 99

प्रतीक कलाकार के मूलभाव को समझने का साधन

आदिम मनुष्य की भाषा जो सिक्कों से भरी है, केवल कविता या धर्म के लिए ही उपयोगी नहीं है । भाषा का कोई भी प्रकारूप सब सांकेतिक रूप समस्त मानवीय कार्यों के लिए उपयुक्त है ।[1] भाषा से अलग विशुद्ध अनुभूति की कल्पना असंगत है ।[2] भाषा और प्रतीक का तादात्म्य इतना घनिष्ठ है कि उन्हें एक दूसरे से अलग करना दुष्कर है, असंभव है ।[3] वस्तुतः कोई कलात्मक प्रतीक किसी भाव विशेष का प्रतिनिधि मात्र नहीं, वह मूलभूत भाव को समझने और अभिव्यक्त करने का साधन भी है ।[4] प्रारंभिक धार्मिक संकल्पनाओं का संवाहक है मिथक । कला भी ऐसी नयी प्रतीकात्मक रचना' है जो चिंतन के किसी भी उच्चतर रूप के (दर्शन और विज्ञान जैसे) सम कक्ष है ।[5]

---

1. Literary criticism: A short history P. 703
2. Ibid P. 704
   (Wilbur Urban has to dismiss any hope that we can discover' hypothetical pure experience ....' by stripping (it of) language' - Language and Reality - The Macmillan Co., New York, 1939. P. 374
3. यही कारण है कि भाषा के प्रतीकात्मक स्वरूप के विवेचन के द्वारा सत्य (निखिलार्थ) पर पहुँचने की आशा रखने पर भी यह जानकर पीछे हटते हैं कि 'The artistic symbol is not merely a surrogate for a concept' but is rather the way in which the ideal content is apprehended and expressed. - Literary Criticism - A short history. P. 704
4. Ibid P. 704
5. 'Art is a 'new symbolic form' which is able to live on side by side with philosophy and science and all the higher forms of thought' - Mrs. Susanne K. Langer, Philosophy in a New Key' (Cambridge University Press, London, 1942). P. 202 - 3

मिथक और कला के भेद

मिथक और कला के निकट सम्बन्ध का मतलब यह नहीं कि दोनों के बीच कोई विभाजक तत्व नहीं है। अन्तर काफी मात्रा में है।[1] लोकिक कथाएँ (legends), मिथक (myths) और कहानियाँ आदि स्वतः साहित्य नहीं है। ये सब साहित्य के लिए उपयोगी उपजीव्य है।[2] आधुनिक मानव विज्ञान (Anthropology) के विकास के फलस्वरूप आलोचकों को ज्ञात हुआ कि मिथकों को, दार्शनिक, धार्मिक परिप्रेक्ष्य से अलग कर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी अंका जा सकता है।[3] प्रत्येक संस्कृति के उद्भव के मूल में मिथकीय तत्व विद्यमान है और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति ऐसे प्राक्तन तत्वों के आधार पर ही संभव होती है।[4] इसके अनुरूप ही संस्कृति विकसित होती है।[5] आधुनिक विचारक इस तथ्य से अवगत है कि प्राक्तन मानवीय वर्तमान मानव के अन्दर जिन्दा है और आधुनिक जीवन की कृत्रिम परिस्थितियों के बीच में भी वह अपने सपनों में प्राक्तन भावों के आदिम प्रतीकों की क्रियाशीलता को महसूस कराता है।[6]

---

1. Literary Criticism: A short History P. 708
2. 'Legend and myth and fairy tale are not in themselves literature, they are not art at all, but fantasies, as such, however, they are the natural materials of art'- Mrs Langer: 'Feeling and Form, Charles Scribuer's Sons, New York, 1953. P. 274
3. Literary Criticism: A short History P. 708
4. Myths, that is narrate not only the origin of the world of animals, of plants and of man, but also of the primordial events in consequence of which man became what he is to day - moral, sexed, organized in a society, oblidged to work in order to live and work in accordance with certain rules - Myth and Reality: M. Eliade P. 11
5. Ibid P. 12
6. Ibid P. 19

मिथक, कविता व स्वप्न

मिथक कल्पना के नियमों के अनुशीलन का नया साधन प्रस्तुत करता है जो वस्तुतः प्रतीक विधान के नियम ही है ।[1] मिथकों में कलात्मक सृजन का मर्म ढूंढने वाले विद्वान कविता के ऐसे अनेकों गुणों का प्रतिपादन करते हैं जो स्वप्न की भी विशेषताएँ ही है ।[2] फ्रायड द्वारा निर्धारित स्वप्न - व्यापार और काव्य व्यापार का सादृश्य आश्चर्यकारी है । दोनों व्यापारों में बिम्बों के पारस्परिक सम्बन्धों की दृढ़ता उनके (बिम्बोंके) युक्तिसह सम्बन्ध के विचार को लांघ जाती है ।[3] इसप्रकार मनो - वैज्ञानिकों ने काव्यानुशीलन का एक नया रास्ता उद्घाटित कर दिया है । एक नया प्रतिमान ही प्रस्तुत किया है । उसकेलिए उन्होंने अपने सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है ।

इसके फलस्वरूप साहित्यानुशीलन को एक प्रकार का वैज्ञानिक गौरव प्राप्त हो गया है । इस नई दृष्टि ने कवि को रचना का समर्थ साधन (Efficient Cause) मात्र माना ।[4] एवं बद्ध कविता का मूल कवि के व्यक्ति चित्त में न ढूंढकर कहीं अन्यत्र खोजने केलिए आलोचक को बाध्य कर दिया । यह खोज मानव के सामूहिक चित्र की अटल गहराई में निहित रहनेवाले प्रतिमानों के साक्षात्कार में परिणत हुई और आलोचकों को ज्ञात हुआ कि कविता का मूल कारण में प्रतिबिम्ब है ।[5]

---

1. Literary Criticism: A short history P. 709
2. Ibid P. 709
3. Ibid (In both poetry and dream logical relationships are frequently evaded or transcended by the mere juxtaposition of images) P. 709
4. Ibid (The poet is only the efficient cause of the poem) P. 709
5. Ibid (Frye finds this formal cause to be the archetype) P. 709

आर्किटाइप का आगे विस्तारपूर्वक विवेचन किया जाएगा ।

काव्यानुशीलन की नयी दृष्टि

मिथकों का अध्ययन कविता के अनुशीलन केलिए एक नयी दृष्टिकोण प्रदान करता है । स्वयं कवियों का भी इस अन्वेषण ने बड़ा उपकार किया है । वे मिथकों के माध्यम से अपनी संवेदना का पूर्णांकित सहज और समग्र संप्रेषण कर सके हैं । कवि के जीवन की सब से बड़ी उपलब्धि के रूप में कविता की प्रधानता विशेषतः मान ली गई । आधुनिक और प्राचीन काव्यों में बिखरे पड़े मिथकों का विशाल भंडार विश्लेषण का विषय बनाया गया । मानव मन के अन्तस्तल में मिथकीय तत्वों के उद्घाटन से एक नए नए प्रकार की काव्य - वस्तु तो प्राप्त हुई और कवि की सर्जनशक्ति के भण्डार की सीमा का विस्तार हुआ और उसकी उपलब्धियाँ में वृद्धि संभव हो गई ।[1]

आधुनिक साहित्य समालोचना पर युंग का प्रभाव

मिथकों के आधार पर साहित्य - समीक्षा की जो पद्धति आधुनिक काल में चल पड़ी, वह मनोवैज्ञानिक कार्ल गुस्ताफ युंग की रची है, उनके समकालीन और पूर्ववर्ती मनोवैज्ञानिकों ने साहित्य और कला को मानसिक व्यापार के रूप में देख कर, मानवराशि के विकास में उनका स्थान निर्धारित करने की चेष्टा तो की थी । फिरभी उनमें से किसी ने भी कला को उतना महत्वपूर्ण नहीं माना था जितना कि युंग ने । इसलिए कला सम्बन्धी उनके विचारों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है ।

कला और स्वप्न का पारस्परिक सम्बन्ध

स्वप्नों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के दौरान युंग अवचेतन मन के व्यापारों में कभी कभी लक्षित कुछ सोद्देश्यता (purposiveness) और आत्मभाव (intelligence - अन्तर्भेतन्य) की कला की अनदेखा नहीं कर सके । अवचेतन

---

1. Literary Criticism - A short history P. 715

मन की यह समर्थता हुई यथार्थ प्रज्ञाधारित (conscious - प्रज्ञाधिष्ठित) अन्तर्दृष्टि से उच्चतर मालूम हुई ।[1] इस तथ्य ने स्वप्न और मिथक की अवस्था के सभी अचेतन मानसिक व्यापारों की चित्त - वैशद्य का परिणाम समझने से युंग को रोका । इन व्यापारों को अचेतन में रह रहकर सम्पन्न होनेवाले अन्तश्चैतन्ययुक्त सोद्देश्य क्रमीकरण (ordering) के रूप में देखने को वे मजबूर हुए । यहाँ यह भी स्पष्ट हुआ कि सभी मिथक और स्वप्न समान नहीं है ।[2] सोद्देश्यता और आन्तरिक महत्त्व की दृष्टि से उनमें तरतम - भेद अवश्य है । सोद्देश्यता और महत्त्व के आधार पर स्वप्नों और मिथकों के मूल्यांकन में उनकी बौद्धिक आलोचना(cognitive criticism) और व्याख्या भी निहित है । युंग प्रकारान्तर स्वप्नों और मिथकों को व्यक्ति चित्त के संशोधक या रचन - कर्मी मात्र न मानकर ज्ञान - दायक भी समझते हैं ।[3] ये वास्तव में हमें अपना ज्ञान - आत्मज्ञान - प्रदान करते हैं । यही कारण है कि युंग कहते हैं कि कभी कभी मनुष्य का स्वप्न महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है ।[4] मन के अचेतन पक्ष्य की सोद्देश्यता पूर्ण सृजनशीलता की अवधारणा ने आधुनिक कला - समीक्षा को प्रभूत मात्रा में प्रभावित किया है । युंग और फ्रायड की विवेचना इस दृष्टि से करते हुए मौड बोडकिन ने भी इस तथ्य का समर्थन किया है ।[5]

---

1. '...That the unconscious mind is capable at times of assuming intelligence and purposiveness which are superior to actual conscious in sight' - C.G.Jung: Psychology and Religion (New Haven, 1938) P.
2. Literary Criticism: A Short History. P.
3. Ibid P.
4. Ibid P.
5. 'The difference between the two schools (of Freud and Jung) lies in Jung's belief that a synthetic or creative function does pertain to the unconscious - that within the fantasius arising in sleep or walking life there are present indications of new directions or modes of adaptation, which the reflective self, when it discerns them, may adopt, and follow with some assurance that along these lines it has the backing of unconscious energies'. - Miss Maud Bodkin: Architypal Patterns in Poetry (Oxford University Press London, 2nd Edn., 1965)

स्वप्नों की व्याख्या केलिए भी बौद्धिक आलोचना पद्धति(cognitive criticism) हम स्वीकार करते हैं। इस कारण स्वप्नों के अभिव्यक्त रूप को दृश्यात्मक 'ग्रन्थ के रूप में' स्वीकार करके उसके अन्दर निहित रहनेवाले अर्थ का अन्वेषण ही अभीष्ट मानते हैं।[1] उसके बदले स्वप्न को केवल मानसिक ग्रन्थियों के कपट 'चेहरे के रूप में' देखना सत्य दृष्टि का धर्म नहीं है (जैसे फ्रायड ने किया)। उनके मतानुसार कुछ स्वप्न ऐसे हैं जो सच्ची प्रतीकात्मक रचनाएँ हैं। उन स्वप्नों का प्रतीक पक्ष्य स्वप्नदृष्टा की मुक्ति इच्छा के अनुकूल व्यक्तित है। इसलिए ये समालोचकों केलिए सुबोध और ग्राह्य बने हैं। ऐसे स्वप्न तो एक अर्थ में कविता के सदृश हैं और इस कारण उनके विवेचक का ज्ञान साहित्यालोचकों का सा होता है।[2] कलात्मक रचना और स्वप्न दोनों की आश्चर्यकारी सादृश्य की ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं कि उत्कृष्ट कलात्मक रचना स्वप्न के समान है। स्वप्न की तरह कला कृति भी उद्बोधनात्मक(preceptive) नहीं, वे दोनों अपनी इच्छा के अनुसार व्याख्या करने की स्वतंत्रता देते हैं।[3]

कला और स्वप्न : अन्तर

कला और स्वप्न दोनों की पारस्परिक समानता का विशद वर्णन करने के पश्चात युंग दोनों के मौलिक अंतर को भी स्पष्ट करना नितांत आवश्यक समझते हैं। स्वप्न पूर्ण रूप से अचेतन की सृष्टि है। लेकिन कविता ऐसी नहीं है,[4] यद्यपि उसकी उत्पत्ति मनुष्य के अस्तित्व के अन्तरतम में होती है, फिर भी वह प्रकट रूप में (बाह्यतः)

---

1. 'We say that a dream has a false front only because we fail to see into it. We would do better to say that we are dealing with something like a text that is unintelligible, not because it is a facade, but simply because we cannot read it'. C.G. Jung: Modern Man in Search of a Soul (Routledge and Kegen Paul, London, 10th Imp. 1949. P. 15
2. Literary Criticism: A Short History P. 717
3. 'A dream never says' You Ought' or'this is the truth'. It presents an image in much the same way as nature allows the plant to grow and we must draw our own conclusions' - Modern Man in Search of a Soul P. 198
4. Ibid P. 175
   Ibid (The truth is that it (Freud's view of art) takes us away from the psychological study of the work of art and confronts us with the

किसी उद्देश्य से प्रेरित है । उसके इस गठन के पीछे चेतन मन का योग भी अवश्य है । चेतन - अवचेतन मानसिक वस्तुओं के संयोग (या सहयोग) के कारण काव्यानुशीलन का कार्य कवि (जो व्यक्ति है) को समझने के कार्य से (मनोवैज्ञानिक के द्वारा) भिन्न है । कविता के आधार पर कवि का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कविता का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन इसलिए नहीं है कि कविता में कुछ अनुपेक्षणीय और महत्वपूर्ण तत्व हैं जो कविता को कवि से अलग करते हैं । साहित्य के अध्ययन की दिशा में मनोविज्ञान की अपनी देन है ।[1] युंग अंतस्थ साहित्य को मनोवैज्ञानिक (psychological) और काल्पनिक (visionary) के दो विशाल वर्गों में विभक्त करते हैं और दोनों की सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं ।[2] उनके इस परिश्रम में त्रुटि देखनेवाले भी यह मान लेंगे कि उसके फल स्वरूप साहित्यालोचक कार्य लाभान्वित ही सका है । भाषा सम्बन्धी जानकारी के साथ नूतन शक्तियों और मनोवैज्ञानिकों की जिज्ञासा को जागृत करने-वाले पौराणिक प्रतीकों की परम्परा का ज्ञान हमारे ज्ञान की वृद्धि कर देता है । मानव की भावाभिव्यंजन - प्रणाली में प्रतीकों का स्थान अविसर्जित है । प्रतीकों के विज्ञान - आर्किटाइप या प्रारूपिक - सम्बन्धी जानकारी - की दिशा में युंग का निष्कर्ष प्रेरणादायक, उत्तेजक और अत्यधिकारी है ।[3]

फ्रायड की दृष्टि में

फ्रायड कला को मानसिक व्यापार ही मानते हैं । उन्होंने अन्य आन्तरिक व्यापारों से सम्बन्ध करके उसका विश्लेषण किया है ।

---

psychic disposition of the poet himself'. P. 185

1. Psychology and the study of art will always have to turn to one another for help and one will not invalidate the other' - Modern Man in Search of a Soul P. 177
   (The literary critic will obviously profit by all that he can learn about what human beings are, about how they behave, and especially about the way their minds work): Literary Criticism: A Short History P. 720
2. Modern Man in Search of a Soul P. 180-2
3. Literary criticism: A Short History P. 720

सभी मानसिक व्यापारों के मूल में दो वृत्तियों की प्रबलता वे स्वीकार करते हैं। सुखासक्ति (pleasure principle) और सत्य - निरास (reality principle)। उनके अनुसार प्रतिकूल परिस्थिति से उद्भूत दमनों (वर्जनाओं- repressions) और सम्बन्धित दुखों से बच जाने की इच्छा और सुखासक्ति मनुष्य में सहज है।[1] स्नायुरोगी (neurotic) यह सुख मतिभ्रम (hallucinations) के द्वारा अनुभव करता है। ऐसी स्थिति में वास्तविक (यथार्थ) परिस्थितियों उसमें निराशा (कुंठा) और वर्जना से वह मुक्त रहता है।

साधारण मनुष्य को भी अपनी यथार्थ भौतिक परिस्थितियों से आयास और अतृप्ति का अनुभव करना पड़ता है। उनसे मुक्ति पाने की इच्छा - सुख प्राप्ति की प्रेरणा - उसमें भी होती है। इस कारण वह बाह्य (वस्तु) जगत से पराङ्मुख होकर किसी बौद्धिक (intellectual), कायिक (physical) या काल्पनिक (imaginary) व्यापार में लग जाता है जो उसको अपने अनुरूप वास्तविकता का आनन्द प्रदान कर सकता है।[2] इसप्रकार सत्य - निरास और उसके स्थान में अपनेलिए सर्वथा अनुकूल यथार्थ जगत के मिथ्याभास साक्षात्कार की सहज प्रवृत्ति वर्जनापूर्ण और कुंठाग्रस्त अतृप्त मनुष्य को परितुष्ट और संतुलित रखने का उपाय है। विज्ञान, दर्शन आदि सभी मानवीय कार्यकलापों के व्यापारों को इस सहजवृत्ति से प्रेरित मान लिया गया है मनोविश्लेषण में।[3]

इस कोटि में आनेवाले तथा वस्तु जगत से इकतरा सम्बन्ध रखनेवाले कुछ और व्यापार भी हैं जिन्हें फ्रायड ने स्नायुरोग के नज़दीक जान लिया है। इनके द्वारा यथार्थ जीवन में अनुभूत अभाव और अतृप्ति को कल्पना के बलपर निवारण करके एक नई वास्तविकता की सृष्टि कर डालता है। इससे सुखानुभूति तो अवश्य होती है,

---

1. The sovereign tendency obeyed by these primary processes ... is called the pleasure - pain (lust-unlust) principle or more shortly pleasure principle. These processes strive towards gaining pleasure from any operation which might arouse unpleasantness (pain) mental activity draws back (repression). Sigmund Freud: Collected Papers Vol. IV papers on Metapsychology - Institute of Psycho Analysis 9th Imp. P. 14
2. Ibid P.16-17
3. Sigmund Freud: Collected Papers Vol. IV Papers on Metapsychology. P.18

लेकिन वह है बिल्कुल अयथार्थ और मिथ्यामय । मानव की सारी कलाएँ इस आन्तरिक वृत्ति (मनस्तत्व) से उद्वेलित है ।[1]

कला के सम्बन्ध में फ्रायड का यह अभिमत वस्तुतः कला को ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित नहीं करता । उनकी दृष्टि में वह स्वस्थ मानव की उदात्त चेतना की उपज नहीं है । वह मन का महत्वहीन व्यापार मात्र है वह । प्राचीन यूनानी दार्शनिक प्लेटो के स्वर में स्वर मिलाकर वे भी कला को अयथार्थ कल्पनाओं का कूड़ा कर्कट ही मानते हैं । इससे व्यक्ति को कोई सार्थक प्रयोजन नहीं होता है ।[2] दुःख निवारण का उद्देश्य भी अल्पकाल के लिए ही निभाया जाता है । बाद में उसे फिर से उसी दुःख मय वस्तु जगत में लौट आना पड़ता है, जिसे वह असहनीय और आघातपूर्ण स्वं वर्जनामय देखकर दूर करना चाहता था ।

फ्रायड ने इसप्रकार मानव की सबसे बड़ी उपलब्धि को - कला को- स्वस्थ मानसिक अवस्था के स्तर पर अंकित किया । इसका कारण दमित लिबिडो (libido) उनकी मान्यता और अचेतन के ही उनकी धारणा । उन्होंने अचेतन को केवल व्यक्ति में सीमित रखा और उसे व्यक्ति के वर्जनाओं और कुंठाओं का भंडार बना दिया । कला का सम्बन्ध उस मानसिक पक्ष से मानकर स्वाभाविक रूप में व्यक्ति की

---

1. 'Art brings about a reconciliation of the two principles in a peculiar way. The artist is originally a man who turns from reality because he cannot come to terms with the demand for the renunciation of instinctual satisfaction as it is first made and who then in phantasy-life allows full play to his erotic and ambitious wishes. But he finds way to return from this world of phantasy back to reality, with his special gifts he moulds his phantasies into a new kind of reality and men concede them a justification as valuable reflections of actual life'. Papers on Metapsychology. P. 19
2. 'Then by certain path he actually becomes the hero, kind, creator, favourite he desired to be with out pursuing the circutions path of creating real alterations in the world'. Ibid P. 19
'Yet art affects us as a mild narcotic and can provide no more than a temporary refuge for us from the hardships of life. Its influence is not strong enough to make us forget real misery'. Civilization and its Discontents. P.774

मानसिक ग्रन्थियों का अभिक्षेप व उद्गलन ही उसमें वे देख सके । दूसरा तो, यौनवृत्ति को उन्होंने सर्वाधिक शक्तिशाली आन्तरिक प्रेरणा मान और उसे व्यक्ति की सम्पूर्ण मानसिक शक्ति से (libido) अभिन्न ठहरा दिया[1]। व्यक्ति के जीवन की विभिन्न दशाओं में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में इसी वृत्ति की परितृप्ति सुख की स्थिति या जीवन के उद्देश्य की पूर्ति की अवस्था मान ली गयी । फ्रायड की यह दृष्टि कालान्तर में युंग जैसे मनोवैज्ञानिकों से अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण सिद्ध की गयी है ।[2]

युंग द्वारा प्रत्याख्यान

जैसे पहले सूचित किया गया, युंग ने साहित्यादि कलाओं को फ्रायड के समान रुग्ण मानसिक अवस्था की उपज नहीं माना । उन्होंने उसको मनुष्य की महान उपलब्धि ही समझी । अपने दीर्घकालीन अनुसंधानों और चिकित्साकार्यों के फलस्वरूप उन्होंने समझ लिया कि मनुष्य के चेतन मन के नीचे जो अचेतन मन है, वह पूर्णतः दमित भावनाओं (repressed feelings) का भंडार मात्र नहीं, न मात्र वैयक्तिक ग्रन्थों और स्मृतियों की क्रीडाभूमि भी । फ्रायड की दृष्टि में अचेतन इतना डरावना है कि एक बार उसे निर्बन्ध मुक्त और स्वच्छन्द व्यवहार का अवसर मिल जाय, तो मनुष्य उन्मुक्त पशु के समान हमारा जीवन, हमारी संस्कृति, हमारी कलाएँ, हमारे सब प्रकार के नाते - रिश्ते - सबको जड़ से उखाड़कर भक्ष कर देगा ।[3] उत्तरवर्ती फ्रायड कहते हैं - अच्छा है कि चेतन मन का नियंत्रण इस पर है, जिसकी अनुज्ञा के बिना अचेतन बाहर की ओर झाँक भी नहीं सकता है ।

---

1. 'Man is conceived as a machine, driven by a relatively constant amount of sexual energy called 'libido(. This libido causes painful tension which is reduced only by the act of physical release. To this liberation from painful tension Freud gave the name 'pleasure' - Erich Fromm: Beyond the Chains of Illusion - Sphere Books Ltd., London, 1980. P. 30
2. Raymond Hostie S.J.:Religion and Psychology of Jung (Sheed and Ward, London). P.18-19
3. The Unconscious. P.

युंग, फ्रायड की तरह, अचेतन पर किसी भी प्रकार के नियंत्रण को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि हमारी संस्कृति, सामाजिक चेतना, और सृजनात्मक शक्ति के विकास में इसका योगदान गणनीय है।[1] युंग कहते हैं कि फ्रायड ने अचेतन की ऊपरी तह पर ही अपने अनुसंधान को सीमित रखा था। अवचेतन में अचेतन उससे भी गहरा है, विश्लेषण के परे है, किन्तु अनुभव से सिद्ध है।[2]

युंग ने सिद्ध किया कि प्रत्येक व्यक्ति में अचेतन के दो पक्ष हैं - वैयक्तिक और सामूहिक। वैयक्तिक अचेतन में दमित भावनाएँ और अतृप्त प्रेरणाएँ समाहृत हैं और वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग अलग है। लेकिन सामूहिक अचेतन में व्यक्ति का अपना कुछ भी नहीं है। वह परम्परागत जातीय स्मृतियों की रेखाओं से भरा पड़ा है। जातीय स्मृतियाँ प्रत्नबिम्बों (archetypes) के रूप में समाविष्ट हैं।[3] ये आर्किटाइप स्वयं अभिव्यक्त होने के लिए हमेशा आतुर रहते हैं।[4] लेकिन अपने शुद्ध रूप में ये बोधगम्य नहीं हो सकते।[5] अतः उत्तेजित होकर चेतन मन में प्रविष्ट होते ही बाह्य - वस्तुओं की संज्ञाओं (percepts) से गठित प्रतीकों का रूप लेकर अभिव्यक्त होते हैं।[6]

---

1. The Unconscious. P.
2. C.G.Jung: Archetypes and the Collective Unconscious Trans. R.F.C. Hull, ed. Sir Herbert Read and others, Routledge and Kegan Paul, London, 8th edn. P. 42-43
3. Ibid P. 43
4. 'Being merely activated function possibilities, they are without contents, therefore inimaginable, accordingly they strive towards realisation'. C.G.Jung, Psychological Types, Routledge and Kegan Paul, Reprinted 1949. P. 379
5. '..... They are not a known starting point, like the empirical fact in concrete thinking, but only become experienceable through their unconscious shaping of the stuff of experience' - Ibid P. 379
6. The secret of artistic creation and of the effectiveness of art is to be found in a return to the state of 'Participation mystique' - Modern Man in Search of a Soul. P. 198
   2* The archetype is essentially an unconscious content that is altered by becoming conscious and by being perceived it takes its colour from the individual consciousness in which it happens to appear.- Archetypes and Collective Unconscious. P. 5

इस प्रकार प्रतीकों का रूप लेकर अभिव्यक्त होनेवाले इन प्रारूपों (आर्कीटाइपों) को ही युंग मानव के सृजनात्मक व्यापारों की चालक शक्ति सिद्ध करते हैं।[1]

आर्किटाइप और सामूहिक अचेतन

उनकी धारणा है कि सृजनात्मक चेतना का उपजीव्य कर्म, कथा आदि की वस्तु (motif) मनुष्य के अचेतन के अगाध्य तल में निहित रहती है।[2] ये मनोव्यापार की सूक्ष्म एवं निश्चित पद्धति के रूप में - किसी ठोस वस्तु या विचार के रूप में नहीं स्थित हैं। ये सूक्ष्म तत्व - प्रारूपिक - बिना व्यक्ति की इच्छा या जानकारी के - अकस्मात् चेतन में उभर आते हैं। कलाकार में उसकी प्रतिभा - विधान की शक्ति से मिलकर तत्कालीन भावभूमि के अनुसार कलात्मक रूप (कृति) धारण कर लेते हैं।[3]

प्रारूपिकों के मूल का पूरा पूरा पता नहीं चल गया है, क्योंकि ये मन के सब से अगाध्य पक्ष हैं। उनका पूर्णतः बोधगम्य होना मुश्किल है।[4]

---

1. The secret of artistic creation and of the effectiveness of art is to be found in a return to the state of participation mystique - Modern Man in search of a Soul P. 198

2. Modern Man in search of a Soul P. 175

3. Cf. The contents of the collective unconscious are represented in consciousness in the form of pronounced tendencies or definite ways of looking at things. They are generally regarded by the individual as being determined by the object - incorrectly at bottom - since they have their source in the unconsciousness structure of the psyche and are only released by the operation of the object - Psychological types P. 476

4. 'It (Collective Unconscious) consists of pre existent forms, the archetypes which can only become conscious secondarily....' Archetypes and the collective unconscious P. 43

पितृ - प्रतीक के सम्बन्ध में फ्रायड से हुए मतभेद से प्रेरित होकर फिर अचेतन सम्बन्धी अनुसंधानों के फलस्वरूप युंग ने सिद्ध करने की कोशिश की कि मनुष्य के अन्तरतम में ऐसी अनेक तत्व हैं जो स्वयं आयत्त नहीं, वरन परम्परा से हस्तान्तरित हैं। पूर्वजों से जायदाद के रूप में संप्राप्त हैं और वे अचेतन तत्व के रूप में व्यक्ति में छिपे रहते हैं।[1] उन्होंने देखा कि अचेतनोद्भूत स्वप्न (जो किसी भी प्रकार के दमन या वर्जना का परिणाम नहीं) सामान्यतः मिथकों और किंवदन्ती - कथाओं से आश्चर्यकारी निकटता रखते हैं।[2] यह बात मिथकों के विशेष अध्ययन के लिए उन्हें प्रेरक हुई। उन्होंने कुछ अचेतन कविताओं (Unconscious poems) का अध्ययन किया और उनसे सम्बन्ध रखी बातों को छुटा लिया और अन्त में निष्कर्ष निकाला कि अपने मौलिक रूप में मिथकों और अचेतन की काव्य -रचना का प्रीत भी वही है जो उन स्वप्नों का भी होता है जो वैयक्तिक अचेतन से गठित स्वप्नों से भिन्न होते हैं।[3]

मिथक उन बिम्बों के समान है जो बाह्य जगत के अनुभवों और मन के वैयक्तिक तत्वों से रूपायित होते हैं। मिथक प्रतीकों का वस्तुनिष्ठ वर्णन नहीं करता, वह कुछ अन्य बात का प्रतिपादन करता है। इसलिए वह तो बाह्य वस्तु नहीं जो मिथक

1. In contrast to personal psyche, it (the Collective Unconscious) has contents and modes of behaviour that are more or less the same everywhere and in all individuals - Archetypes and Collective unconscious P. 4

2. दे. Archetypes and Collective Unconscious के पहले अध्याय का पूर्व-भाग जिसमें स्वप्नों का विवरण दिया गया है। पृ. 7, 8, 9, 10.

3. 'The secret of artistic creation and of the effectiveness of art is to be found in a return to the state of 'participation mistique' - to that level of experience at which it is man who lives and not the individual and at which the wheel and woe of the single human being does not count, but only human existence' - Modern Man in Search of a Soul. P.198-9 P.198

की नियामक शक्ति रहती है ।[1] मिथक पूर्णतः मानसिक उपज है । मन के योगदान के बिना मिथक का उदय असंभव है ।[2]

विभिन्न प्रकार के मिथकीय प्रतीक विधान की चर्चा करते हुए युंग कहते हैं कि सभी मनुष्यों में समान रूप से कुछ ऐसी मानसिक अवस्थिति (disposition) विद्यमान है जो निश्चित ही अचेतन का भाग है । लेकिन वैयक्तिक अचेतन से वह नितांत भिन्न भी है ।[3] इसलिए वे ऐसी सभी अचेतननिष्ठ अवस्थितियों को, जो मानसिक जीवन को नियंत्रित करती हैं, सामूहिक अचेतन नाम से (collective unconscious) अभिहित करते हैं ।

यह सामूहिक अचेतन इसलिए उस वैयक्तिक अचेतन की पूर्ति के लिए रखा गया है जो स्वप्न में उभर आनेवाले शिशु तत्वों और उससे मिथक के प्रयोजक तत्वों के सादृश्य की पूर्ण व्याख्या देने में असमर्थ है ।

इसप्रकार युंग अचेतन के सम्बन्ध में अपने निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सामूहिक अचेतन में ऐसे सभी तत्व समाविष्ट हैं जो पूर्णतः व्यक्ति के ज्ञान के बाहर है, अर्थात् उसमें सब्प्रकार के परम्परागत प्रतिरूपों की सिद्धियां और संभावनाएँ विद्यमान हैं जिन में व्यक्ति का अपना कुछ भी नहीं, जो है वह समस्त मानवजाति की समान संपत्ति है। इसी कारण उसका नाम सामूहिक अचेतन (collective unconscious) रखा गया है।

---

1. '..... a myth, like everything psychic, cannot be solely conditioned by outer events'. Psychological Types P. 241

2. '..... the myth is purely psychological and merely uses the facts of meteorological and astronomical processes as as material for expression' P. 241
   This image is an altogether primordial idea which we find elsewhere in similar forms' - Psychological Types P. 267

3. We speak of the latter (an impersonal or transpersonal unconscious) also as the collective unconscious because it is detached from anything personal and is entirely universal and because its contents can be found everywhere ...' - C.G.Jung - The Collected Works of C.G.Jung, Vol.VII, Routledge and Kegan Paul, London, 1953 P. 65

आर्किटाइप (प्रागबिम्ब) क्या है ?

अचेतनगत सार्वलौकिक तथ्यों (प्रागबिम्बों) के स्वरूप निर्धारण का प्रयास युंग लगातार करते रहे । उससे संबन्धित अन्वेषणों के दौरान युंग ने समय समय पर विभिन्न विशेषणों से उसे औचारण्य बनाने की चेष्टा की है । वस्तुतः ऐसे विशेषण प्रागबिम्ब के विभिन्न पहलुओं और धर्मों के परिचायक सिद्ध हुए । उन्होंने उसको सामूहिक प्रतिरूप (representation collectives)[1], सामूहिक अचेतन का सारतत्व (contents of the Collective Unconscious)[2] आदि विशेषणों से सूचित किया । उसके बाद उसे सामूहिक अचेतन का परम्परा प्राप्त विशेष लक्षण (dominants of the collective unconscious) [3] कहा । फिर वह मातृका (आदर्श) मूलक तथ्यों से रहित स्वयंसिद्ध रूप (a priori forms without representative contents)[4] मात्र रह जाता है । 'चिरन्तन भाव' (eternal ideas)[5], अभिवृत्ति पर आधारित ज्ञान (= अभिवृत्ति + सहजवासना = मूलक ग्रहणशक्ति) (instinctive apprehension)[6] प्रतीकात्मक सूत्रवाक्य या कारिका(symbolical formula)[7], मन का परम्परा प्राप्त आधार (inherited foundation of psyche)[8], अनुभवी जातों की नियम - निर्धारित गति (law-determined course of all experienceable things)[9] आदि सभी

---

1. The Archetypes and the Collective Unconscious P. 5; Psychological Types P. 555-6 (1921).
2. Ibid, P. 5; Contributions to Analytical Psychology P. 225(1919) and Two Essays on Analytical Psychology P. 135(1928).
3. Two Essays on Analytical Psychology, P. 68(1926); Collected papers on Analytical Psychology, p. 433(1917).
4. Contributions to Analytical Psychology, P. 255(1919); Two Essays on Analytical Psychology pp 71-2(1928).
5. Psychological Types, p. 381(1949)
6. Ibid, P. 475.
7. Ibid, P. 475.
8. Ibid, P. 507.
9. Ibid, P. 508.

युग आर्किटाइप की सूचित करते हैं, इनके अतिरिक्त प्रागैतिहास वैसिए प्रयुक्त पदावलियों की कतार - सी सामने आती है - 'मनोधर्म के सूचक चिह्न (function traces)[1], मनोधर्म के भौतिक प्रेरक कारक (function engram)[2], बिम्ब जगत (world of images)[3], प्राक्तन भाव (archaic ideas)[4], प्राक्तन मुद्रांक (archaic imprints)[5], प्राक्तन अवशिष्ट (archaic residues)[6], धर्ममूलक पैतृक (functional inheritance)[7], अन्तर्वस्तु संभावनाएँ (content possibilities)[8], परम्परागत निर्धारित धर्ममूलक अवस्थिति (inherited functional disposition)[9], सुनिर्मित अवस्था (performed condition), ग्रहण शक्ति की स्वयंसिद्ध व्यवस्थाएँ (apriori conditions of apprehension)[10], रूप - नियामक (form determinants)[11], पूर्वांकित बुनियादी रेखाएँ (basic lines engraven apriori)[12], परम्परागत धर्मपरक संभावनाएँ (inherited function possibilities)[13], प्रकटित संभावनाएँ (performed possibilities)[14], आद्यबिम्ब (primordial images)[15], मूलबिम्ब (root images)[16], स्वयंसिद्ध भाव (apriori idea[17], (apriori forms)[18], स्वयंसिद्ध रूप (apriori forms)[19], प्रारूप (primordial forms)[19], बीजभूत और स्वनिर्वाह्य क्रम भाव (primordial and self-operative idea)[20], और जागतिक सत्यों के प्रति मनुष्य और उसके

---

1. Psychological Types P. 211
2. Ibid P. 211
3. Ibid P. 211
4. Ibid P. 296
5. Ibid P. 296
6. Ibid P. 295
7. Ibid P. 296
8. Ibid P. 377
9. Ibid P. 377
10. Ibid P. 378
11. Ibid P. 378
12. Ibid P. 380
13. Ibid P. 380
14. Ibid P. 380
15. Ibid P. 379-475
16. Ibid P. 380
17. Ibid P. 380
18. Ibid P. 381
19. Ibid P. 381
20. Ibid P. 392

आन्तरिक निर्धारक तत्वों के युगों तक पुराने प्रतिक्रियाओं और उसके पड़ावों से प्राप्त आघातों की उपज (age long product of reactions and repercussions of man and his inner determinants with the hard facts of external reality)[1]

सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो ये बहुसंख्यक सांकेतिक शब्द कभी कभी परस्पर विरोधी लक्षित होंगे। इसका कारण प्रकृतः आर्किटाइप की सूक्ष्मता और रहस्यात्मकता है। दूसरा तो यह कि उन शब्दों का आकलन यहाँ कालक्रमानुसार नहीं किया गया है। कालक्रमात्मक दृष्टि से देखने पर यह समझने में कठिनाई नहीं होगी कि ये विशेषण मौलिक रूप में अनुसन्धान के बीच परिलक्षित आकार (form) और धर्म-सम्बन्धी (functional) बातों के परिचायक हैं, और सूक्ष्मता के कारण प्रकृतिज्ञ के विभिन्न पक्षों के उद्घाटन में ऐसा विरोध स्वाभाविक है। आद्यबिम्बों की रहस्यात्मकता और सूक्ष्मता ने ही - युंग को उन्हें एक परिभाषा में बाँधने में असमर्थ कर दिया।[2] अतः ये सांकेतिक शब्द अपने समवाय में प्रकृतिज्ञ के स्वरूप और धर्म को समझ लेने में सहायक सिद्ध होते हैं।

---

1. Psychological Types P. 392
2. Archetypes and the Collective Unconscious P. 7

इसप्रकार, प्रारंभ में एक दूसरे का पर्यायवाची समझे जानेवाले इन विशेषणों की सहायता से युंग ने आर्किटाइप (प्रारूपबिम्ब), प्रातन बिम्ब(primordial image) और आर्किटाइप का भौतिक प्रेरक कारण(engram =) इन तीनों को अलग अलग कर देखने में विजय पाई । आर्किटाइप शुद्ध अबोध ही है[1], जबकि प्रातन बिम्ब वह प्रतीकात्मक स्वरूप है जो आर्किटाइप के चेतन मन में प्रविष्ट होते समय स्वीकार किया जाता है ।[2] एन्ग्राम तो आर्किटाइप का भौतिक प्रेरक पक्ष है ।[3]

यह विवेचन आर्किटाइप के स्वरूप निर्धारण में बड़ा ही सहायक सिद्ध हुआ । उसका मनोवैज्ञानिक कर्म इस बात में है कि वह किसी मानसिक शक्ति का विस्तार करे । किसी वास्तविक(यथार्थ) वस्तु से सम्बद्ध रहकर वह उसका रूप परिवर्तन कर डाले कि वह वस्तु व्यक्ति की मानसिक शक्ति का प्रतिनिधित्व कर सके । ये प्रतीक वस्तु के प्रति सीधे अपनी प्रतिकृति प्रकट नहीं प्रकट करते हैं । उसे वैयक्तिकता का गुण

---

1. (Potentialities of human representations or a disposition to produce over and over again the same or similar mythical conceptions' (Two Essays on Analytical Psychology (1926) P.67-71
तब बाद में पहले युंग प्रारूपबिम्ब को प्रातन बिम्ब से अलग न करके, दोनों एक समझ कर कहते हैं -" The psychic expression of an automatically and physiologicall determined disposition' (Psychological Types, P. 556)

2. कभी कभी ये आर्किटाइप और प्रातन बिम्ब व एन्ग्राम तीनों को पर्यायवाची भी समझ रखते हैं -" The Unconscious, regarded as the historical back ground of the psyche contains in a concentrated form the entire succession ofengrams (imprints) which from time immemorial have determined the psychic structure as it now exists' - Psychological Types P. 211.

2. The image is a concentrated expression of the total psychic situation, not merely, nor even pre eminently of unconscious contents pure and simple. Psychological Types, P. 555.

3. पहले engram का स्वरूप था -" These engrams may be regarded as function traces which typify, on the average, the most frequently and intensely used functions of the human soul'. Psychological Types, P. 211.
बाद में वह आर्किटाइप से अलग किया गया और उसका भौतिक प्रेरक कारण रहा । See P. 556 of Psychological Types.

लेकिन, वैयक्तिक होने पर भी ये कुछ ऐसे सामान्य लक्षण भी दिखाते हैं जिनके समान विशेषताएँ संसार भर की सभी जनताओं के सिक्कों में पाई जाती हैं। यह समानता और सार्वजनीनता उनके चिरंतन अस्तित्व का प्रमाण है। अचेतन में प्रतीकों के आविर्भाव की प्रारंभिक दशा में एकट पुराणविषयोन्मुखता (affinity with any mythological motif) आर्किटाइप के व्यापार को सूचित करती है। लेकिन प्रतीक आर्किटाइप नहीं, वह तो आर्किटाइप का बोधगम्य (conscious) रूप मात्र है। इसलिए प्रतीकों के द्वारा ही हम आर्किटाइपों को समझ पाते हैं।

युंग ने इसप्रकार आर्किटाइप से उसके प्रतिनिधीय स्वभाव(representative characteristics) को हटा दिया जो आर्किटाइप सम्बन्धी आद्य-कालीन अध्ययन के समय, बिम्ब (image) से उसे अलग कर लेने की उनकी असमर्थता के कारण उसपर आरोपित था।[1] उसके बाद, मानवीय प्रतीक रचना सामर्थ्य के पीछे की शक्ति या यौग्यता (potentialities of human represent/ation) मानवीय चित्रणपटुता (क्षमताएँ) अथवा समान या तद्वत् पौराणिक संकल्पनाओं को बार बार सृष्टि करनेवाली मानसिक अवस्थिति (a disposition to produce over and over again the same or similar mythical conceptions) के रूप में उसको निरूपित किया गया।[2] असल में बात यह है कि युंग ने आर्किटाइप के सम्बन्ध में अपनी पहली धारणा बदल डाली; केवल अन्तश्चेतना गत वंश - स्मृति जन्य भावों के आदर्श-रूप की बिम्बात्मक उपस्थिति के बदले, उन्होंने प्राग्बिम्ब को अचेतन की विशिष्ट यौग्यता या अतल-गहराई में छिपे सामूहिक शक्ति स्रोत के रूप में विवृत किया। उससे प्राग्बिम्ब का स्वरूप और अधिक मनोवैज्ञानिक हो सका, वैज्ञानिक दृष्टि के अधिक अनुकूल हो पाया।

---

1. Religion and Psychology of Jung - P. 60
2. Two Essays on Analytical Psychology. P. 63-71

प्रारूपबिम्ब के व्यापार पर प्रकाश डालते हुए युंग कहते हैं कि व्यक्ति-विशेष के मनोयंत्र के व्यापार के रूप में वह व्यक्तिनिष्ठ रीति से (subjective manner) हमेशा अभिव्यंजन होती है ।[1] लेकिन एक सामान्य मानसिक व्यापार (क्योंकि वह सामूहिक अचेतन के तथ्यों से प्रेरित है) की दृष्टि से वह वैयक्तिकता से दूर है । क्योंकि वैयक्तिकता की सामान्यता भी सामूहिकता है । जैसे यंत्र की चालक शक्ति यंत्र के व्यापार से अलग है, यद्यपि व्यापार से चालक शक्ति का बोध नहीं होता है[2], वैसे प्रारूपबिम्ब - प्रेरित मनो - व्यापार व्यक्ति का होने पर भी उसकी चालक शक्ति प्रारूपबिम्ब की निर्वैयक्तिकता और सामूहिकता नष्ट नहीं होती और साथ ही ऐसे व्यापार प्रारूपबिम्ब की उपस्थिति को प्रमाणित भी करते हैं । आर्किटाइप स्वयं सक्रिय और गतिशील मानसिक स्थिति है, जो अपने साक्षात्कार की ओर उन्मुख रहती है ।

आर्किटाइप के सम्बन्ध में सम्प्रति अवधि तक के अनुशीलन के बाद भी युंग कहते हैं कि आर्किटाइप के वास्तविक स्वभाव पूर्णतः हम जान नहीं पाए हैं ।[3] अचेतन के अन्ध कोठरी में छिपे रहनेवाले ये तत्व हमारी सामूहिक अचेतन के प्रमुख जैव - स्वभाव - स्वरूप परम्परागत शक्ति है ।[4] या कहें, प्रारूपबिम्ब स्वतः अज्ञात(in themselves unconscious), किन्तु सार्वजनीन(common to all men),

---

1. 'The contents of the collecive unconscious are represented in consciousness in the form of pronounced tendencies or definite ways of looking at things' - Psychological Types P. 475
   '.... It is essential that the image shallnot immediately be assumed to be identical with the object, it is wisder to regard it as an image of the subjective relation to the object. Ibid P. 600
2. The archetype is therefore an energic centre of the collective unconscious. As a function of the psyche of any particular person, it always manifests itself in an individualized way, but as a function it remains distinct from it - as an active power is distinct from its activation' - Religion and Psychology of Jung - P. 60
3. Ibid P. 62
4. Ibid (The archety P. 62

भाव रूप है जो समस्त नैसर्गिक मानसिक शक्तियों को शासित रखते हैं। चेतन मन का (conscious mind) कोई नियंत्रण इन पर नहीं होता अर्थात् चेतन के व्यवहार से अचेतन का व्यापार बिलकुल भिन्न है।[1] आद्यबिम्बों (archetypes) की भौतिक प्रेरणा का काल्पनिक तत्व है 'एन्ग्राम'(engram)। युंग अपने अनुसंधान के प्रारंभिक दिनों में कहीं अन्यत्र[2] से उधार लिए गए इस आशय को भी प्रागबिम्ब के पर्याय के रूप में प्रयुक्त करते थे। कलाकार में आर्किटाइप का निजी रूप उभर आनेपर प्रागबिम्बीय प्रतीकों और बिम्बों से उन्हें हटा ले लिया गया। तब एन्ग्राम का कर्म भिन्न पड़ गया। आर्किटाइप के पीछे के भौतिक प्रेरक कारण का अन्वेषण करते रहनेवाले (आर्किटाइप सम्बन्धी अपनी खोजों के सिलसिले में ही) युंग ने एन्ग्राम नामक तत्व में उसकी चारितार्थता देखी।[3] इस संदर्भ में उन्होंने कहा भी कि " आर्किटाइप आर्जित है, सहज नहीं है।[4] वे वैयक्तिक नहीं क्योंकि मानव मात्र से समान रूप से उसका अर्जन किया जाता है। हजारों, लाखों वर्षों के इतिहास की गति में मनुष्य तत्तुल्य नहीं तो सदृश परिस्थितियों में अपने को पाया है। ऐसे अवसरों पर वह आन्तरिक और बाह्य दोनों जगत से कुछ न कुछ अपनाता गया है। तो युंग कहते हैं, यद्यपि बिलकुल स्वाभाविक है, ऐसे एक ही अनुभव का अवतर्न हजारों या लाखों की संख्या में न समझना चाहिए। वे संख्यातीत हैं। और सब मनुष्य के मस्तिष्क में अपनी अमिट छाप डाल गए हैं।[5] इसका यह

---

1. The archetypes are structures in themselves unconscious common to all men governing all spontaneous psychic energy that is not controlled and regulated by consciousness according to its own laws - Ibid P. 62
2. Psychological Types P. 556, Religion and Psychology of Jung P. 63.
3. Psychological Types P. 556
4. Collected Papers on Analytical Psychology (1917) P. 432, Two Essays on Analytical Psychology P. 64, Psychological Types (The Relativity of the Symbol).
5. Contributions to Analytical Psychology. P. 5, Collected works of C.G. Jung, Part 7, P. 69, 76.

अर्थ नहीं कि ये अनुभव एक एक करके हमें पूर्वनिर्मित (ready-made) बिम्ब प्रदान करते हैं । प्रत्युत, हर अवसर पर एक ही समस्या का हल करने की मस्तिष्क की कोशिश के फलस्वरूप उसपर उसका गहरा भावचिह्न (crease - मोड़) पड़ जाता है । ये भावचिह्न मस्तिष्क में हमेशा के लिए दबे रहते हैं और हमारी अचेतन के व्यापारों को नियन्त्रित करते हैं । चेतन मन के विश्राम की वेला में अचेतन मन यथा-समय जाग्रत होकर फिर से पहले की तरह अपनी अनुभूति प्रकट करता है ।[1]

यह लम्बा विवरण किसी वैज्ञानिक आधार पर आधारित नहीं है । यह शरीरशास्त्र (human physiology) से भी सम्मत नहीं है । युंग भी इस सत्य से मुँह नहीं मोड़ते ।[2] यही नहीं, वे स्वयं इसके बारे में निश्चित रूप से कुछ कह नहीं पाए हैं । वे तो इतना ही कहते हैं कि मानसिक शक्ति किसी न किसी प्रकार भौतिक व्यापारों से (physical processes) घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। फिर भी इस भौतिक सम्बन्ध के बारे में (एन्द्राम के बारे में) प्रामाणिक रूप में समझने-समझाने के लिए और अधिक अनुभवों की जरूरत है ।[3]

हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि युंग कभी भी सिद्धान्त - निरूपण में तत्पर नहीं हैं । अपनेलिए जो सत्य या वास्तविक जँचा और अनुभवों के प्रकाश में जो कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्य लगा, उसे, उसी प्रकार, बिना वैज्ञानिक आधार ढूँढे उन्होंने प्रस्तुत किया ।[4] बाद में युंग 'एन्द्राम' के सम्बन्ध में मौन धुस्सी लगाते हैं ।

---

1. Contributions to Analytical Psychology P. 5
2. Psychological Types P.295, 556
3. 'Although I am certain that psychic energy is in someway or other most intimately connected with physical processes yet in order to speak with any authority about this connection we need far more and quite other experiences and insight' - Ibid P. 5
4. Ibid P. 5

शायद नए अन्वेषक उनकी लगा कि एन्ग्राम के सिद्धान्त पर ज़ोर लगाने की आवश्यकता नहीं है, क्यों कि आर्किटाइप के विश्लेषण में 'एन्ग्राम' की उपेक्षा करने से कोई आपत्ति नहीं है, जैसे कुछ पंडितों ने दिखाया था ।[1]

संक्षेप में, प्रारूपबिम्ब (आर्किटाइप) वह शक्ति प्रोत है, जो सभी पुरातन प्रतीकों के पीछे आधार भूत रहता है । वह बाह्य जगत से स्वीकृत वस्तु से मिलकर प्रतीकों की सृष्टि कर डालता है । प्राक्तन या पौराणिक प्रतीक इसप्रकार आर्किटाइप के बोधगम्य (conscious) या प्रकट (expressed) रूप है ।[2] अर्थात् प्रारूपबिम्ब इन प्रतीकों के वेश में ही चेतन मन में प्रवेश करते हैं ।[3]

पुरातन काल में ये मूलबिम्ब धार्मिक भावना से सम्बद्ध होकर ही प्रकट हुआ करते थे,[4] क्योंकि ऐसे प्रतीकों का कोई धार्मिक उद्देश्य रहता था । उनमें निहित भाव भी प्रमुखतया धार्मिक होता था । प्राक्तन मिथकीय चित्तावस्था ने (primitive mythic mentality) अपनी प्रखर विषयीगत दृष्टि के कारण(subjective view) बाह्य जगत में अपने ही मानसिक व्यापारों को प्रतिबिम्बित देखा, तो यह स्वाभाविक है कि प्रकृति के सभी पदार्थ देवी - देवता और निम्नदानुज-शक्ति से

---

1. The engram cannot be accepted for the very good reason that they are a product of Jung's imagination', by P. Mullahy (Oedipus, Myth and Complex P. 326). The engrams, on the other hand, the so called physiological substrate to the archetype, is non proven in anatomy and cannot be postulated on psychological grounds. I, therefore, regard it as something quite separate from the archetype theory with which Jung connected it up for so many years'. - Raymond Hostie, Religion and Psychology of Jung. P. 66

2. 'Another well known expression of archetypes is myth and fairy tale' - Archetypes and the Collective Unconscious P. 5

3. Psychological Types P.379

4. 'The fact that the myths are the first and foremost psychic phenomena that reveal the nature of the soul is something they (mythologists) have absolutely refused to see until now'. .....All the mythologized processes of nature, such as summer and winter ..... are in no sense allegories of these objective occurrences - Archetypes and the Collective Unconscious. P. 6. See also P. 8 of Primitivism, Michael Bell (1972).

युक्त अतीन्द्रिय सत्ताओं के मूर्त प्रतीकात्मक रूप से गए । ये मिथकीय चिंतन और मिथकों का आधार बने । ये दोनों - आर्किटाइप और प्रतीक - वस्तु और रूप के समान और अभिन्न है । आर्किटाइप के भौतिक आधार भूत स्नायुतंत्र शरीर - विज्ञान की दृष्टि से अप्रमाणित है और मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में सर्वसम्मत भी नहीं ।[1]

प्रारूपिम्ब (archetype) का मनोवैज्ञानिक कर्म

हमने देखा कि आर्किटाइप बाह्य वस्तुओं के प्रभाव से अपने मूल रूप को छोड़कर कुछ प्राचीन प्रतीकों का (symbol or archaic images) रूप धारण कर प्रकट होते है । इसलिए इन प्रतीकों अथवा कल्पनाओं की यह विशेष प्रवृत्ति है कि वे मानसिक व्यापारपर चेतन मन के नियंत्रण के नष्ट होते ही स्वतः प्रकट होने लगते है ।[2]

स्वप्न - व्यापार में हम यही देखते है । प्रागैतिहासिक वातावरण (primitive atmosphere) में रहनेवाले एवं साधारण व्यक्ति में ये प्राचीन बिम्ब मिथकों के रूप में अभिव्यक्त होते है । बच्चों में अद्भुत कथाओं और परियों की कहानियों के द्वारा प्रयुक्त भाषाशैली के पीछे ये अपने साम्राज्य को बिछाए रहते है ।[3] रुग्ण मनस्कों और शारीरिक सन्तुलन नष्ट हुए व्यक्तियों में ये 'डिलिरियम्' और विभ्रान्ति के रूप में बाहर आते है । इसीप्रकार कलाकारों और कवियों को सृजनात्मक प्रेरणा देते है ये । चेतन मन के जीवन से निकट किन्तु रहस्यपूर्ण सम्बन्ध में आकर कलाकारों व कवियों की सहज

---

1. Religion and Psychology of Jung. P. 65-6
2. It is therefore quite natural that such symbols or imaginations should show a particular tendency to appear whenever consciousness i.e. logical thought directed towards definite ends, releases its hold and gives free rein to the psychic processes. - Religion and Psychology of Jung. P. 66-7
3. Religion and Psychology of Jung P. 66

सृजनात्मक शक्ति बनते है ।[1] इनकी सारी लगन और स्वाधीनता इन आर्किटाइपों पर केन्द्रित रहती है । महान कलात्मक रचनाएँ और कविताएँ स्वप्न के सदृश है ।[2]

स्वयं साक्षात्कार की ओर झुकी हुई अन्तरचेतनागत ये इन शक्तियों के उद्देश्य के अनुरूप, वैयक्तिक तथा सामूहिक स्तर पर साक्षात्कृत वस्तुरूप तथ्यों का उचित समवाय आर्किटाइप को ऊर्जस्वित और शक्ति समुपेत करके चेतन में भेज देता है ।[3] इसप्रकार जागरित प्रागुक्तिय चेतन में अव्यक्तरूप में प्रविष्ट होता है । कभी कभी यह वहाँ विकसित होकर एक तीव्र मानसिक स्खलन (psychic storm) का कारण बनता है । इसलिए चेतन मन इसके निश्चित रूपवाली वस्तुविशेष के अदले शक्ति के गतियुक्त रूप में देखता है ।[4] इस प्रतिस्थापन के फलस्वरूप प्रतीक जन्म लेता है । अर्थात् आर्किटाइप अपना प्रतिनिधित्व करनेवाली वस्तु को, जो व्यक्ति की देन है, अपने उद्देश्य के अनुरूप कर लेता है । इससे स्पष्ट है कि प्रतीक की यह वेश - भूषा विश्व में प्रागुक्तिय व्याप्त होता है, भिन्न परिस्थितियों, व्यक्तियों और समूहों के अनुसार बदलती रहती है ।[5]

आर्किटाइप सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से आशा है, युंग के तत्संबन्धित अभिमतों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा होगा । युंग आर्किटाइपों को ही समस्त कलाओं की मूलभूत वस्तु मानते है ।[6] इन आद्यबिम्बों के अवीक्षपूर्वक जागरण का प्रतिभाशाली

---

1. Religion and Psychology of Jung. P. 67
   Modern Man in Search of a Soul. P.197
2. Ibid P.198
3. Religion and Psychology of Jung. P. 67
4. Ibid P. 67
   Psychological Types P.379, 395
5. Psychological Types P.379
6. Psychological Types P.557
   (And in the same way as the eye bears witness to the peculiar and independent creative activity of living matter, the primoridial image expresses the unique and unconditioned creative power of the mind)

आदमी के द्वारा अभिव्यंजन की कलात्मक रूप से लेता है । इसमें कलाकार का योगदान केवल उतना है जितना कि स्वप्नों के अभिकल्पन में स्वप्नदर्शी का है । कारण कि दोनों का उदय एक ही स्थान से होता है ।[1] मनुष्य के अचेतन के अन्तराल में रहनेवाली और इतिहास की लम्बी परम्परा के बीच में समय समय पर वहाँ निक्षिप्त सहीय स्मृतियों को आर्किटाइप या प्रातिभाव कहलाती है । मनुष्य के स्वप्न, प्रतीक वृत्ति, पुराण, धर्म और कला इत्यादि का आधार भी यही है ।[2]

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि प्रागुक्त ऐसी कोई ठोस वस्तु या सुगठित तत्व नहीं है कि उन में से प्रत्येक किसी भाव विशेष को सटीक निर्दिष्ट हो, या कोई विशेष प्रतीक किसी निर्दिष्ट आर्किटाइप को सूचित करे । एक ही प्रतीक में एक से अधिक भाव गुंथे मिलते हैं ।[3] कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि बाहरी दृष्टि से देखने पर एक ही कविताओं बिखरे पड़े सिक्कों (प्रतीकों) में स्वतन्त्रता का अभाव दीखता है और वे परस्पर विरोधी भी लगते हैं, जो स्वप्न में स्वाभाविक है । यह तथ्य आर्किटाइप से, स्वप्न से कविता कला के मौलिक सम्बन्ध का सूचक है ।[4]

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों और मनोविश्लेषणात्मक अनुसंधानों के इसप्रकार के कार्यों से साहित्य व कला प्रभूत मात्रा में प्रभावित हुए हैं । कला की शैली और भाव में बड़े परिवर्तन का भी यह कारण हुआ ।

---

1. The secret of artistic creation and of the effectiveness of art is to be found in a return to the state of 'participation mystique' - to that level of experience at which it is a man who lives, and not the individual and at which the weal and woe of the single human being does not count, but only human existence. - Modern Man in Search of a Soul P. 199-200

2. Collected works of C.G. Jung. Vol. 7, P. 66, P. 68 (para 109), The Unconscious, P. 178.

युंग का महान योगदान

फ्रॉयड के सेक्स और मनोवैज्ञानिक धारणाओं का आधुनिक युग के सौन्दर्य बोध और वर्तमान कला पर गहरा प्रभाव पड़ा है। लेकिन कुछ लोगों की आपत्ति यह है कि उनका अचेतन सम्बन्धी सिद्धान्त तो निराशावादी दृष्टिकोण से गठित है वह आत्यंतिक वचन के रूप में प्रस्तुत है और अस्तित्व, कला के विकास के लिए अनुकूल वातावरण प्रदान करने में सफल नहीं रहा।[1] कारण इसका यह कहा गया कि उन्होंने मनुष्य की सर्ग चेतना की पूर्ण रूप से उपेक्षा ही की थी। यह नितांत भ्रामक धारणा है। वस्तुतः इस दिशा में युंग का योगदान ही अधिक महत्वपूर्ण है। उन्होंने अचेतन की अतल गहराइयों में पैठकर फ्रॉयड के अचेतन के नीचे के पदार्थ का ज्ञान प्राप्त किया जहाँ मनुष्य की संपूर्ण सृजन - शक्ति की जड़ें निहित पायीं।

यहाँ यह भी सूचित करना असंगत नहीं होगा कि संसार के महान कलाकार प्रायः रहस्यवादी मनोवृत्ति प्रकट करनेवाले थे। दान्तेकी, बाख, एमिली ब्रोन्टी, गीटे, वर्ड्सवर्थ, शैली और हिन्दी में कबीर, जायसी, प्रसाद, महादेवी आदि में यह प्रवृत्ति बड़ी मात्रा में विद्यमान है। स्वयं युंग पर भी रहस्योन्मुखी वृत्ति का दोषारोप किया गया है।[2]

---

1. The Unconscious P. 188
   Sigmund Freud, Collected Papers Vol.II, Papers on Metapsychology, Ch. I, Formulations regarding the two principles in mental functioning.
   Also. Modern Man in Search of a Soul. Ch. Freud and Jung. P. 134-40
   (Freud's teachings is definitely one-sided in that it generalizes from facts that are relevant only to neurotic state of mind .... In any case Freud's is not a psychology of the healthy mind - ..... It was a great mistake on Freud's part to turn his back on philosophy).

2. 'But I also do not doubt that these instincts come into collision with the spirit, for they are continually colliding with something and why should not this something be called spirit? I am far from knowing what spirit is in itself .... The one is as mysterious to me as the other (instincts). Yet I am unable to dismiss the one by explaining it in terms of the other'. .... Because of it I am accused of mysticism - C.G. Jung - Modern Man in Search of a Soul. P. 134-140

आत्मसाक्षात्कार में निरत रहनेवाले महान साधक आसपास पूर्वी देशों के साधक सत्य की अपरिमेयता के कारण रहस्यात्मकता दिखाते ही हैं। यह अनेक विद्वानों के संदर्भ में मौलिक प्रतिभा का निदर्शक है।[1] यह रहस्यात्मकता इस बात की ओर संकेत करती है कि कला, साहित्य, दर्शन, धर्म, विज्ञान आदि सब का मूल अचेतन की दुर्भेद्य गहराईयों में निहित है जिन तक पहुँच पाना दुष्कर है।[2]

जैसे पहले कहा जा चुका है, महान रचनात्मक भाव किसी पिटी पिटायी विश्लेषण - पद्धति की उपज नहीं है। सृजनात्मक प्रतिभा अनुभवों तथा अनुभूतियों की विशाल पृष्ठभूमि के साथ साथ नाना प्रकार की अभिरुचि भी प्रकट करती है। उसकी महान रचनाएँ सहीम्मता या समाधिस्थ स्थिति के निमिषों में फलाकार के जाने बिना ही अप्रत्याशित ढंग से त्वरित गति से जन्म लेती है।

युग के अचेतन सम्बन्धी सिद्धान्तों ने (विशेषकर प्रागैतिहास के सिद्धान्तों) जैसे कलाकारों का आन्तरिक प्रवृत्तियों और मिथकों की ओर कर लिया[3] और अपने अचेतन की पुनः प्राप्ति कवि कर्म बन गयी, वैसे आलोचकों की भी विशेष दृष्टि मिथकों और

. . . . . .

1. 'Creativeness, like the freedom of the will, contains a secret ..... Creative man is a riddle that we may try to answer in various ways, but always in vain, a truth that has not prevented modern psychology from turning now and again to question of the artist and his art'. Modern Man in search of a Soul. P. 192-3
   The Unconscious P. 184

2. Collected Works of C.G. Jung, Vol. 7. P. 66, Para, 105. (It follows its own gradient down into the depths of the unconscious, and there activates what has lain slumbering from the beginning. It has discovered the hidden treasure upon which mankind ever and arion has drawn and from which it has raised up its gods, and demons, and all those potent and mighty thoughts without which man ceasès to be man).

3. Robert Graves, James Joyce, and Yeats and most recently C.S. Lewis has illustrated the appeal (of myth) by retelling the story of Psyche and Cupid -..... Wilbur R. Scott, Five Approaches of Literary Criticism. P. 248

पृष्ठभूमियों पर पड़ सकी ।[1] मिथकीय भावुकता (mythic sensibility) आधुनिक साहित्यालोचना का आदर्श वाक्य स्वीकृत की गयी । परम्परागत पद्धति को छोड़कर कृति को कृतिकार के मानसिक जीवन की पृष्ठभूमि में आंकने की रीति चल पड़ी । विशेषतः वह कलाकार की और उसकी सृष्टि की पूर्ण स्वतंत्रता का उद्घोषक है । कलाकार की व्यक्ति निष्ठता, कला की सार्व लौकिकता और सार्वकालिकता का समर्थक है ।

---

1. Five Approaches of Literary Criticism. P. 247

दूसरा अध्याय

कला में बिम्ब और प्रतीक

दूसरा अध्याय

कला में बिम्ब और प्रतीक

प्रतीक रचना मानव की मौलिक प्रवृत्ति

परिवार चक्र में नारजीव का प्रादुर्भाव कब हुआ, पता नहीं। फिर भी इतना तो कह सकते हैं कि प्रज्ञा के प्रस्फुटन के पहले ही अपनी प्रारम्भिक दशा में ही मनुष्य प्रवृत्ति की ओर आकृष्ट हुए बिना रह नहीं सका था। किसी दूरस्थ अमूर्त-भाव के अस्पष्ट प्रतीकात्मक अभिव्यंजन - स्वरूप[1] विश्व के विराट सौन्दर्य तथा तमिस्रित प्रचंडता के दूसरे और विरोधी भाव न जाने उसकी अनुभूति के किन किन स्तरों तक नहीं ले गए थे।[2]

प्रवृत्ति के साथ व्यापित हुए इस रागात्मक सम्बन्ध के फलस्वरूप वह अपने मनो व्यापारों का प्रतिकलन बाह्य वस्तुओं और व्यापारों में देखने लगा तो आश्चर्य की कोई बात नहीं।[3] फलतः उसके भावों और विचारों ने प्रतीकों का सहारा लिया, अभिव्यक्ति हेतु। सच तो यह है कि भाव प्रतीकों या बिम्बों में ही व्यक्त पाता है। अर्थात् प्रतीक और भावों में सचमुच भेद-कल्पना निरर्थक है। प्रतीक - रचना मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों में से है।[4]

---

1. 'Like Platonic ideas, they (concepts, images, ideas) will exist in nature, whether or not human beings recognize them or try to imitate or reproduce them. These forms are reflections of beauty' - Robert J. Clements: Michelangelos Theory of Art (London, Routledge and Kegan Paul) P. 3
2. Jaquis Martin: Creative Intuition in Art and Poetry. P. 5
3. C.G. Jung: The Archetypes of the Collective Unconscious. P. 6
4. Ernst Cassirer: An Essay on Man (New Haven, 1944) P. 26

प्रतीक चिंतन का अग्रगामी है

मानव जीवन में, उसके सभी मानसिक व्यापारों में, प्रतीकों का स्थान अनिवार्य सिद्ध होता है । उसका चिंतन, उसका भावाभिव्यंजन, उसकी भाषा - कुल मिलाकर उसके बुद्धिपरक और हृदयपरक व्यापार प्रतीकों के द्वारा ही सम्पन्न हो सकते हैं। प्रतीकों का महत्व प्रकट करते हुए श्रीमती सुसेन लैंगर कहती हैं - " प्रतीक रचना मनुष्य के मौलिक व्यापारों में रूप है । और वह निरंतर जारी रहती है । कभी कभी हम उससे अवगत हो जाते हैं और कभी कभी केवल उसका परिणाम ही हम देख सकते हैं । हम अनुभव करने लगते हैं कि कतिपय अनुभव हमारे मस्तिष्क में प्रविष्ट होकर वहाँ आत्मसात् किए गए हैं । "[1] इसप्रकार शैशवानुभव से गठित होनेवाले प्रतीक चिंतन का अग्रगामी है ।[2] इन प्रतीकों के द्वारा ही चिंतन का व्यापार संभव है ।[3]

प्रतीक रचना - शक्ति कवि के कृतित्व की कसौटी है

शैशव संवेदनों पर प्रतिबन्धित रहनेवाला सूक्ष्मग्राही मन अनुभूति की सहजता और हृदयंगमता की सहजता के अनुरूप संवेदन हम दृश्य श्रव्य बिम्बों और प्रतीकों की रचना कर लेता है । कला और कविता में भी प्रतीक रचना की यह प्रवृत्ति अनिवार्यतः सक्रिय रहती है ।[4] यह मनुष्य के सृजनात्मक व्यापार की मौलिक वृत्ति ही है । कारण कि कवि अधिक तीव्र संवेदनीयता रखता है, वह अधिक भावुक है और उसी मानव

---

1. Susanne Langer: Philosophy in a New Key. P. 39
2. Norman L. Munn: Introduction to Psychology. P. 337
3. Ibid. P. 337
4. Ibid. P. 337

की विसंगतियों की गहनता पहिचान है ।[1] इसलिए वह अपने अनुभवों के साथ इसप्रकार का घनिष्टता सम्बन्ध रख लेता है । इसतरह सारी कलाएँ मनुष्य की किसी न किसीप्रकार की पूर्ति की लक्ष्य बनाकर किए जानेवाले या सम्पन्न होनेवाले कार्य हैं जिनमें कल्पना एवं सजगता को काफी अवकाश प्राप्त हो जाता है ।[2] ऐसे व्यापारों के फलस्वरूप यथार्थ प्रतीक सुचु रूप में आवश्यकतानुसार गठित हो जाते हैं । यहीं में प्रतीक रचना के द्वारा सृजनात्मक एवं अर्जनात्मक तथ्यों का समन्वय सम्भव हो सकता है ।[3] अतः काव्य की प्रेषणीयता पर ध्यान रखनेवाले कवि बिम्ब योजना या प्रतीक योजना की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं । कवि के द्वारा प्रयुक्त रूपक - बिम्ब - प्रतीकादि की मौलिकता और शक्ति ही वस्तुतः कवि के कवित्व की कसौटी है ।

प्रतीक में भाषा और अनुभूति का स्वीकरण

भावों के उच्च प्रेक्षण में मनुष्य को, खासकर कवि को भी कभी कभी अपना अभिव्यंजन का माध्यम अपर्याप्त मालुम पड़ता है । जब कोलरिज ने विचार क्षेत्र में शब्दों से मुक्ति की बात कही तो उन्होंने माध्यम की इस असमर्थता की ओर ही संकेत किया था ।[4] उन्होंने अपने काव्यजीवन में भाषा की अपूर्णता से विवश होकर भावानुभव भाव की कल्पना कर डाली थी । कोलरिज की यह विवशता वास्तव में उनकी वैयक्तिक अयोग्यता नहीं थी।

---

1. 'He is a man speaking to men, a man, it is true, endowed with more liviay sensibility, more enthusiasm and tenderness, has a greater knowledge of human nature .....'. James Reeves: A Short History of Literary Criticism. Mercury Books, London.
2. Irving Kaufman: Art and Education in Contemporary Culture. P. 290
3. Ibid. P. 290
4. 'I wish to write a book on the power of words ..... Its Is thinking impossible without arbitrary signs. And how far is the word 'arbitrary' a misnomer? Are not words etc. parts and germinations of the plant? And what is the law of their growth? In something of this sort I would endeavour to destroy the old anti thesis of Words and Things; elevating as it were, Words into Things and living things too. Unpublished letter of S.T. Coleridge, produced in 'Literary Criticism: A short History. P. 584

यह समूची मानवराशि की भावाभिव्यंजन सम्बन्धी घुटन का ही परिस्फुरण था। उनके द्वारा उठाए गए इस प्रश्न के उत्तर में ही प्रतीकवाद का रूप ले लिया था।[1]

यद्यपि कविता में बिम्बों और प्रतीकों के अनिवार्य महत्व की प्रतिष्ठा रोमांटिक आन्दोलन के साथ ही हो सकी थी, फिर भी कविता की उत्कृष्टता के लिए हेतुभूत तत्व के रूप में रूपकों का (जो वस्तुतः बिम्ब के समकक्ष ही है) अंगीकार अरस्तू के समय से ही गया था। अरस्तू की दृष्टि में रूपक कल्पना (command of metaphor) कवि की प्रतिभा का निदर्शन है।[2]

आधुनिक युग में बिम्बवादियों और प्रतीकवादियों के द्वारा भाव और भाषा की पृथकता के विलयन की बिन्दु का जो अन्वेषण किया गया, वह बाद में मनोविज्ञान का न्यायालय पाकर प्रसुप्त मनुष्य की पुराकथाओं और वर्ग - स्मृतियों की निर्मूलता का उद्घाटन करने में समर्थ हुआ।[3]

प्रकृति और जीवन के प्रति मन के प्रतिस्पन्दन से उद्दीप्त होनेवाली अनुभूतियाँ - आत्मानुभूत सत्य की कूट - प्रतीकों का रूप धारण कर कला और कविता में चमकने लगती हैं। इसलिए ऐसे प्रतीक सामयिक महत्व रखनेवाले सांकेतिक वह चिह्नों से पूर्णतः भिन्न हैं।[4] प्रतीक वास्तव में भाव ही है।[5] वह जीवित वस्तु है।[6]

---

1. Literary Criticism: A short History. P. 585
2. 'The greatest thing by far is to have command of metaphor. This alone cannot be imparted by another. It is the mark of genius'. Quoted by C.D. Lewis: The Poetic Image. P.
3. Literary Criticism: A Short History. P. 701
4. Irving Kaufman: Art and Education in Contemporary Culture. P. 302
5. Herbert Read: True Voice of Feeling. (Faber and Faber, London). P. 21
6. Psychological Types. P. 602

वह शक्ति का स्रोत है ।[1] वह एक ही समय में अपने में व्यापक भाव प्रपंच का समावेश करता है और जीवन का सफल एवं सशक्त साधन भी रहता है ।[2]

प्रतीक में बौद्धिक और भावनात्मक तत्वों का योग

किसी जबरदस्त बौद्धिक व्यापार से कृत्रिम ढंग से गढे हुए अप्रकृत साधन के रूप में प्रतीक की समझना गलत है । उसमें - यथार्थक प्रतीक में - बुद्धिपरता से बढ़कर हृदयपरता अधिक है । ये प्रतीक स्वयं उपार्जित होनेवाले हैं । इसमें व्यक्ति की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का बड़ा हाथ रहता है । केवल तर्कमूलक विचार पद्धति से जीवन का पथप्रशस्त नहीं होता । तर्क पर हृदय का अधिकार जीवन की सुगमता के लिए अनिवार्य शर्त है ।[3] इसके साथ यह भी स्मरणीय है कि जीवन की अन्तः प्रेरणाओं का प्रेरक मन की किसी अतल गहराई में छिपा रहता है ।[4] मानवराशि के विकास पथ में बुद्धि सदृश तार्किकता और तत्वनिरत कार्यकारणत्व की पूर्वापरता या क्रमत्व की अनिवार्यता पर प्रश्न-चिह्न लगानेवाले कुछ ऐसे तत्व हैं जो तर्क की पहुँच के बाहर, वस्तुतः उसकी संस्कृति के

---

1. जंग : फ्रॉयड और मैथुन : पृ.89
2. Herbert Read: True Voice of Feeling. Ch.I, Notion of Organic form. P. 17-18. Cf. Psychological Types, Symbol. P. 601-610.

3. जयशंकर प्रसाद की कामायनी इसका काव्यात्मक चित्रण की है ।
4. We have now found the object which the libido chooses when it is freed from the personal infantile form of transference. It follows its own gradient down into the depths of the unconscious and there activates what has lain slumbering from the beginning. It has discovered the hidden treasure upon which mankind ever and anon has drawn and from which it has raised up its gods and demons and all those potent and mighty thoughts without which man ceases to be man'. C.G.Jung: Collected Works, Vol.7, (Routledge and Kegan Paul, London, 1953) P. 66

निधि के रूप में, मानवता की समस्त महान उपलब्धियों के नीचे कालदेशातिवर्तिनी शक्ति-धारा बनकर विद्यमान है। इन तत्वों से ही बिम्बों का उदय होता है,[1] प्रतीक रूपायित होता है और कविता रूप ले लेती है। ये बिम्ब बाह्य जगत के ऐन्द्रिय अनुभवों के कारण पुनर्जागृति पाकर, और मनोगम्य बाह्य परिस्थिति के अनुरूप प्रतीक का रूप ले लेते हैं।[2] मन की इस गहराई (inner circle) से उभर आनेवाले इन प्रतीकों में इस कारण बौद्धिक एवं भावनात्मक (emotional) दोनों पक्षों का संगम मिलता है।

संस्कृति का यह क्षेत्र मानव मात्र के ऐसे मानसिक स्तर से सम्बन्ध रखता है, जो मनुष्य की अपनी चरित्रगत (characteristic) वृत्तियों का भंडार-घर है जिसके व्यापारों को पढ़ पाने में बुद्धि का संकरा रास्ता सहायक नहीं है।[3] बौद्धिक अस्तित्व के साथ ही मनुष्य का भावात्मक अस्तित्व भी है और तद्जन्य तर्कातीत (non-rational) व्यापारों का परिणाम ही जादूगरी(magic), धार्मिक - अनुष्ठान (rituals), मिथक (myths), स्वप्निल जगत(fantasy - world) कला (art) आदि के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं। अलौकिक (daemonic), असंगत(incongruent), काल्पनिक (imaginative) और सहजावबोधाधिष्ठित (intuitional) विशेषताएँ ही वस्तुतः मनुष्य के अन्दर

---

1. The Collected Works of C.G. Jung. Vol.7. P. 93

2. 'Form belongs to the realm of essence and is abstracted from it by the mediating genius of the artist - genius in this sense, being not the artist himself, but an unconscious power which he possesses and which enables him for a moment to identify himself with the formative energy of the universe' - Coleridge. Reproduced in The True Voice of Feeling. P. 17

3. Psychological Types. P. 381

के सभी मनुष्य की परिचायक है। इस दिशा में तर्कबुद्धि की पहुँच बहुत ही सीमित है। बौदलेयर - जैसे पश्चिमी कवि इस सत्य से पूर्णतः अवगत है।[1] अपने अबोध की गुप्त - गतियों की बेकारी को अनुभूत करने कोई अंधी बंद नहीं सकता। वे ही उसके जीवन को परिचालित करती है।[2] उनकी प्रभाविष्णुता से अक्षुण्ण रहना मानव संस्कृति के बस की बात नहीं। सम्मोहनों से उत्पन्न अनुभूतियों के कलात्मक अभिव्यंजन में, जीवन के वैलक्षण्य-पूर्ण अनुभवों में तर्कसम्मत व्यवस्था ढूँढनेवाले बुद्धिजीवी एवं अज्ञात गति को अपनाने-वाले मनीषियों के अतिसंकुचित भण्डार के पारम्परिक विश्लेषण का कार्य सम्पन्न तो हो जाता है।[3]

कला केवल मन का व्यापार नहीं, अपितु अन्तः शक्तियों से प्रेरित है

सब कलात्मक व्यापार के अभिव्यंजकत्व एवं प्रतीकात्मकत्व - ये दोनों पक्ष केवल रूढ़ मन की भ्रामक कल्पना (fancy) या व्यर्थ जटिल कहकर साहित्य कोटि में छोड़े नहीं जा सकते, वस्तुतः वे ही व्यक्ति के भावों अनुभूतियों को व्यक्त और साकार करने अभिव्यक्ति में समन्वित कर देते हैं, जिससे अनुभूति अर्थ समन्वित हो जाती है,

---

1. 'Any man deserving of the man
   Installed on the throne of his heart
   Has a Yellow, querulous serpent
   He cannot still or tame'. - Baudelaire
   Quoted in 'The Art and Education in Contemporary Culture. P. 290
2. Modern Man in search of a Soul. P. 248-9
3. Art and Education in Contemporary Culture. P. 290

और ज्ञानवृद्धि, गहरी वैयक्तिक अन्तर्दृष्टि और आत्म परितोष का विश्वसार स्वयं खो जाता है ।[1] कला जो तर्कमूलक मानसिक व्यापार से बढ़कर किसी अवचेतन (अचेतन) मानसिक प्रक्रिया का परिणाम है,[2] किसी कालविशेष या जातिविशेष की विशिष्ट सांस्कृतिक महिमा का परिचायक मात्र नहीं है । वह मानव मात्र का सहज शाश्वत व्यापार है । मानव-प्रगति का इतिहास और पुरातत्व खोज की परम्परा इसकी साक्षी है ।[3] मनुष्य के स्वभाव में तर्क से अतिरिक्त, स्वप्न, अंतरंग विद्वेष, बालसुलभ कुतूहल, आदि अन्य अतार्किक तत्व भी है, जिनका उच्छेदन किसी भी परिस्थिति में कभी भी संभव नहीं है । मानव का समग्र व्याख्यान देनेवाला कोई भी दर्शन इन तत्वों की उपेक्षा नहीं कर पाता है। अतएव सकल कलात्मक व्यापार को तर्कमूलक मनोव्यापार पर आधारित न मानकर प्रथमतः और प्रधानतः अतार्किक आन्तरिक शक्तियों से समुद्भूत मानना चाहिए ।

---

1. होना ही सकती है कि प्राणियों में सबसे बौद्धिक और तार्किक शक्ति से युक्त मनुष्य कैसे अपने सहज गुणों के विरुद्ध व्यापारों में लग सकता है ? लेकिन यह सच है कि वह या तो भावावेश में या सहज अज्ञात मानसिक प्रेरणाओं में आकर ऐसे कार्यों में लग जाता है, सुसेन लैंगर के शब्दों में - 'If a savage in his ignorance of physics tries to make a mountain open its caverns by dancing round it, we must admit that no rat in a psychologist's maze would try such patently inaffectual methods of opening a door - Philosophy in a New Key. P. 39

2. 'Art, it is said, releases unconscious tensions and 'purges' of the soul' - Ernst Kris. Pscho-analytic Explorations in Art (George Allen and Unwin Ltd., London, 1953). P. 45
Also 'What is suppressed in consciousness may be found active in the imagination which might be identified with the pre-conscious of Freud's phraseology. Dr. Jung confirms this supposition, remarking that 'unconscious feeling ..... savage ('Psychological Types, P. 200) - Herbert Read, Form in Modern Poetry. Sheed and Ward, London. II Imp. 1932. P. 20

3. Vide Ch. VI (Mythology, Ontology, History) of Myth Reality.

वैज्ञानिक प्रगति से प्राप्त भौतिक सुख - समृद्धि के साथ साथ आए मूल्य - विघटन, यांत्रिकता, मानवास्तित्व की अनिश्चितता, नैतिक पतन आदि विडम्बनापूर्ण परिस्थितियों में रहनेवाले आधुनिक मनुष्य की नाना माध्यमों के द्वारा अभिव्यक्ति कलाएँ उसके मन की अतल गहराई की सामूहिक अवस्थिति की परिचायक हैं। विलियम बरेट ने आधुनिक मनुष्य के सन्दर्भ में जिन आन्तरिक तथ्यों का परामर्श किया है, वे इन तर्कोत्तर (non-rational) तथ्यों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वह आन्तरिक केन्द्र वस्तुतः मानवमन का वही तर्कोत्तर पक्ष है जो अभिव्यक्ति लिए आकुल रहता है।[1]

मनुष्य के व्यापारों को केवल साध्योन्मुख मनों की पूर्ति न मानकर उन्हें किसी गूढ़ार्थसूचक संकेतों के रूप में स्वीकार करके फ्रायड ने भी अतर्कित मानसिक तत्व और अचेतन मन के महत्व का अंगीकार किया है।[2] व्यवहार के आधार भूत ये संकेत मनुष्य के व्यक्तिनिष्ठ (subjective) बिम्ब हैं जो न केवल अचेतन की दमित आकांक्षाओं को ही प्रकट करते हैं, अपितु अपने आप मन में किसी गूढ़ार्थ के सूचक के रूप में हमेशा विद्यमान भी रहते हैं। इसप्रकार प्रतीक रचना या रूपक रचना के द्वारा अर्थयोजना व्यवहार - भेदों में मुख्य है जिसके द्वारा व्यक्ति का अवबोध एकायित होता है।[3]

---

1. William Barret: 'Irrational Man (Double Day Anchor Books, 1962). P. 23

2. Sigmund Freud: Collected Papers Vol. IV, P. 25
   Also 'For Freud, accordingly, the unconscious is of an exclusively personal nature, although he was aware of its archaic and mythological thought-forms' - C.G. Jung. The Archetypes and the Collective Unconscious. P. 3

3. Art and Education in Contemporary Culture. P.304

प्रतीक एक प्रकार की भाषा है ।

अवचेतन मन की ये प्रेरणाएँ और चेतन मन के सुनिर्दिष्ट व्यापार सभी स्तर के व्यक्तियों (कवियों और कुछ नहीं में) में समान रूप से व्यक्त होते हैं ।[1] उनकी अदृश्य शक्ति से प्रतीकों का सबल परिवेश निर्मित होता है ।[2] इस दृष्टि से प्रतीक एक-प्रकार की भाषा बन जाता है ।[3] प्रतीक की यह भाषा बड़ी ही उर्वरा और वैभव-शालिनी है । यह न तो तार्किक पद्धतियों से परिसीमित है, न नियत सांचिक संकेतों की चहार - दीवारी में बंद भी । वस्तुतः वह ऐसा समर्थ - माध्यम है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने अन्तरतम को समझ लेता है, अपनी सत्ता को पहचान लेता है, और अपनी परिस्थितियों की व्याख्या कर डालता है । वह उसके बौद्धिक एवं हार्दिक व्यापार की नींव बनती है । इसप्रकार, मनुष्य ही वह जीव ठहरता है जो प्रतीक रचना का सामर्थ्य रखता है ।[4] उसकी यही विशेषता उसे अन्य जीवों से पृथक कर देती है[5] और तीव्र कलात्मक सजगता से युक्त बनाती है ।

प्रतीक को सामान्यतः विशेष महत्वपूर्ण बिम्ब कह सकते हैं । किसी कलात्मक रचना में या व्यवहार में उपयुक्तता के आधार पर ही प्रतीकों के महत्व का आकलन किया जाता है । कारण कि बिम्बों में साधारण तौर पर दृश्यमान बहुरंगी विशेषताओं या अर्थवैचित्र्य के परे का कुछ उपयोग कला में प्रतीकों का होता है । अथवा, साधारण बिम्बों

---

1. Art and Education in Contemporary Culture. P. 304
2. Psychological Types. P. 557
3. Literary Criticism: A Short History. P. 704
4. Ibid. P. 702
5. Psychological Types. P. 557

से भी प्रतीक अधिक गहरा और व्यापक है । भावसंकल्प (abstraction) की प्रक्रिया में काम आनेवाले समस्त साधन प्रतीकात्मक तत्व से अन्वित है । अतः कह सकते हैं कि हमारे सब प्रकार के भावगठनों के नीचे प्रतीक रचना का व्यापार ही चलता है । इस अर्थ में, भावों को रूपान्वित करने के व्यापार (abstraction) को भावगठन की मानसिक शक्ति का एक तत्व मान लिया जाय । सब प्रतीकों को भावों व विचारों के रूपान्तरण के रूप में हम देख सकते हैं ।[1] कोई वस्तु अपना प्रतीकात्मक स्वभाव तब ग्रहण करती है, जब वह ग्राहक के शब्दानुभव के तल पर प्रभाव डाल सकती है ।[2] लेकिन उस इन्द्रिय - विषयक वस्तु का प्रभाव केवल इतना ही न हो कि उससे व्यक्ति का मन उसके वाच्यार्थ से कुछ भी आगे न बढ़ता हो । वह ऐसा उत्तेजक बना सके कि वह ग्राहक के आत्मानुभूत सत्य का रूप धारण कर सके,[3] जिससे मन में तत्क्षणता-पूत प्रतीक निर्मित होना हो ।

प्रतीकों के मूल्यों पर केन्द्रित होकर दर्शन का पुनर्मूल्यांकन करनेवाली सुसन लेंगर कहती है[4]- " वस्तुतः प्रतीक रचना चिंतन का अनिवार्य व्यापार नहीं, वह तो चिंतन के लिए अनिवार्य कार्य है, "और वह चिंतन के पहले वर्तमान है । उनकी राय में " प्रतीक रचना उस मन का एक अनुपेक्षणीय और महत्वपूर्ण व्यापार है जो तर्काधिष्ठित विचारों से बढ़कर, उसके परे कुछ और की खोज करके चलता है । इस दृष्टि से मन में प्रतीकों व बिम्बों का एक भूमिभार विद्यमान रहता है, और वह निरंतर अपने प्रतीक

---

1. Art and Education in Contemporary Culture. P. 285
2. Ibid. P. 295
3. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 6
4. 'As a matter of fact, it is not the essential act of thought that is symbolization, but our act essential/to thought and prior to it'- Sussane Langer: Philosophy in a New Key. P. 40

रचना के व्यापार में लगा रहता है, यद्यपि उसका कोई तत्काल उपयोग न होता है ।"[1]

प्रतीक रचना की प्रवृत्ति कलाचेतन के पीछे वर्तमान है ।

यह रूपान्तरण - प्रक्रिया कलापरक अवधारणा के लिए जितनी आवश्यक है, उतनी तर्क के लिए भी जरूरी है । वह मानव का सर्वश्रेष्ठ वस्तु है जिसमें भावरूपान्वित होकर अभिव्यक्ति के योग्य बन जाता है । प्रतीक - निर्माण की प्रक्रिया के द्वारा अनुभव व्यक्तित्व का अंश बन जाता है और कोई प्रतीकात्मक अर्थ को - अपना लेता है । इस प्रक्रिया का सहज विकास ही कलात्मक रचनाओं के क्षेत्र में हम देखते हैं।[2]

मिथकों का महत्व

कलात्मक अनुभूति वास्तविक कलात्मक प्रतीकों की रचना और उनके मूल्यांकन को संभव करती है । प्रतीक संवेदन क्षम होते हैं । वे भावों के मार्मिक अभिव्यंजन में योग देते हैं । ऐसे संदर्भों में मिथकों का ज्ञान सर्वोपरि है ।[3] मिथक जो वस्तुतः आदिम मनुष्य के आत्मानुभूत जीवन - सत्य का प्रतीकात्मक रूप है,[4] अपने विशेष तथा विशेषीकृत तर्क के द्वारा प्रपंच-निहित परम सत्य का उद्घाटन करने का मार्ग भी है।[5]

1. Symbolization is the essential act of mind, mind taking in more than mere discursive reasoning. in this view, the mind has a basic store of symbols .... and continuously engages in primary acts of symbolization even if there is no resultant use of the material. Philosophy in a New Key. P.40
2. Art and Education in Contemporary Culture. P.297
3. मिथकों का विशद विवेचन आगे किया जाएगा ।
4. What is true of primitive lore is true in even higher degree of the ruling world religions. They contain a revealed knowledge that was originally hidden, and they set forth the secrets of the soul in glorious images' - C.G. Jung: Archetypes and the Collective Unconscious. P. 7
5. Modern Man in Search of a Soul. P.152

इसका मतलब यह नहीं कि केवल आदिम मनुष्यों ही मिथकों की रचना करते हैं। प्रत्युत, यह एक ऐसी प्रवृत्ति है जो आधुनिक मनुष्य के मन में भी छिपी रहती है। उसका प्रत्यक्ष या सूक्ष्म रूप मनुष्य के सभी व्यापारों में परिलक्षित है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मनुष्य प्राणिविज्ञानीय और पहचान सम्बन्धी अर्थों में अपनी परिस्थितियों के प्रति सहज वासना से प्रेरित होकर ही प्रतिक्रियान्वित नहीं होता। वह अपने मन में स्पष्टतः पड़नेवाले चुने हुए सहज संवेदनों के आधार पर अथवा अपने अचेतन में रूपायित होनेवाले प्रतीकों के द्वारा सोचता है, निर्णय करता है और मूल्यांकन करता है। वह सहज ही प्रतीक की प्रवृत्ति को लिए हुए है। उसके ज्ञानार्जन का तरीका भी उसकी प्रतीक रचना सम्बन्धी शक्ति पर निर्भर है। उसका प्रपंच मित्र और उससे उसके प्रतिसम्वेदन की रीति उसके सहज प्राणिविज्ञानीय गिरोहों से नियंत्रित रहते हैं जो उसके मन में सक्रिय रहनेवाली प्रतीक परम्परा के प्रवृत्त होने में सहायक होता है। इस परम्परा ने ज्ञान के विविध रूपों को विकसित कर लिया है। इनमें से प्रत्येक एक ऐसे लिंस के समान है जिसके द्वारा मनुष्य किसी सत्य का अनुभव करता है - वह भी ऐसा सत्य जिसको अनेक मानदण्डों - दृष्टिकोणों - से आँका जा सकता है।[2] इतिहास, विज्ञान, भाषा, धर्म, शिक्षा कला - ये सब ऐसी प्रतीक प्रणाली हैं जो मानव मन के विकास विस्तार का परिचय कराती हैं।

---

1. Modern Man in Search of a Soul. P. 144

2. Art and Education in Contemporary Culture. P. 299

तीसरा अध्याय

प्रागैतिहास - ।

तीसरा अध्याय

प्रतीकल्प (ARCHETYPES) - 1

वस्तुजगत के व्यापारों और अनुभवों से मनुष्य का मन आदि से ही प्रतिस्पन्दित रहा है । वह इन्द्रियों के द्वारा संवेदित संज्ञाओं (percepts) के आधार पर भावों का गठन करता है । अनुभवों से भावों तक पहुँचने के बीच चिंतन की रासायनिक प्रक्रिया चलती है । चिंतन तो मस्तिष्क का व्यापार है, जो मन के किसी न किसी पक्षु से नियंत्रित है । आधुनिक मनुष्य में यह व्यापार बहुत कुछ चेतन मन से नियंत्रित है ।[1] लेकिन प्रागैतिहासिक युग के प्रसुप्त मनुष्य में यह अचेतन से प्रेरित है ।[2] बौद्धत्व की जागृति तक बच्चों के बौद्धिक व्यापार भी अचेतन से ही नियमित है ।[3] चिंतन की यह प्रक्रिया, दरअसल, नृवंश की उत्पत्ति से ही शुरू हुई है ।[4] यह सच है कि साधारण जीवन के तल पर बाह्य परिस्थितियों और मानसिक अवस्थाओं के अनुसार चिंतन का स्वभाव व्यक्ति - व्यक्ति में भिन्न दिखाई पड़ता है । फिर भी कुछ विशेष प्रकार का चिंतन ऐसा होता है जिसमें कालदेश निरपेक्षतया प्रायः सादृश्य रखता है ।[5] संसार के विभिन्न जातियों के बीच प्रचलित लोक कथाएँ(legends) और पुराकथाएँ (mythe) इसके दृष्टान्त हैं । इसप्रकार के सादृश्य का कालदेशातिवर्तित्व

---

1. Modern Man in Search of a Soul. P. 109-10
2. Ibid. P. 109
3. Ibid. P. 112
4. Psychological Types. P. 377
5. Ibid. P. 377

हमें इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि ऐसा चिंतन किसी यांत्रिक मानसिक व्यापार का फल नहीं है, अपितु कुछ पूर्वनिश्चित व्यवस्था से सम्बद्ध होकर स्वयं सम्पन्न होनेवाला है।[1] आध्यात्मिक क्षेत्र, के ज्ञानियों से परामृष्ट (archetypal light) (परम ज्योति)[2] और नृवंश शास्त्रियों से संकेतित 'representation collective' (सामूहिक अभिव्यक्ति)[3] दोनों में चिंतन के ऐसे कुछ व्यक्ति - बाह्य पूर्वाधार की सूचना निहित रहती है।

यह व्यापार स्वयं सम्पन्न होनेवाला है तो इस पर चेतन - मन का कोई अधिकार नहीं है। इसलिए यह अचेतनगत व्यापार है। उसकी व्यवस्था भी अचेतन गत है। इसका यह मतलब है कि मन ऐन्द्रिय संवेदनों से गठित एक जड़ फलक नहीं है, प्रत्युत वह अनुभवों और संवेदनों पर अधिकार रखकर स्वनिष्कर्षों और अनुमानों पर पहुँचने में समर्थ पूर्वनिर्धारित साधन है।[4] इसलिए अनादि काल से वर्तमान तक मानवचित्त के स्वरूप को निश्चित करने में इन तत्वों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। अन्य शब्दों में, इन तत्वों की उपस्थिति ने मानव के अचेतन को वैयक्तिक धुंधलों और दमित आकांक्षाओं का गट्ठा मात्र न बना कर उसे चित्त की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के महत्वपूर्ण पद से मण्डित किया है।[5]

पूर्वनिर्धारित होने के कारण ये अचेतनगत तत्व मनुष्य के बौद्धिक विकास के बीच मन में उत्पन्न होनेवाले तत्व नहीं हो सकते, मन के द्वारा बाह्य

---

1. Psychological Types. P. 377
2. Archetypes and the Collective Unconscious P. 4
   (In the Corpus Hermeticum, God is called archetypal light).
3. Ibid. P. 5
   (The term 'Representation Collectives' used by Levy Bruhl to denote the symbolic figures in the primitive view of the world, could easily be applied to unconscious contents as well).
4. Psychological Types. P. 377
5. Psychological Types. P. 211
   (Also - 'His (Jung's) interpretation of psyche is inherently historical and is based on a social rather than a biological conception of man' - IRA PROGOFF, Ph.D., Jung's Psychology and its Social Meaning - Routledge and Kegan Paul, London) P. 10

संज्ञाओं के पहले उसमें विद्यमान है, और वैचारिक प्रक्रिया के प्रथम प्रस्फुटन के साथ प्रकट होने लगे हैं। इसलिए ये प्राग्भूत तत्व हैं जिनके द्वारा भाव - संवलित प्रतीकों का निर्माण होता है। इससे स्पष्ट होता है कि इन पूर्व निर्धारित रूपों (पूर्वचित्र - बिम्बों) और बाह्य जगत की वस्तुओं के बीच अन्य - अनन्य सम्बन्ध नहीं है। इनको भावों के आदर्श या मूलभूत रेखाएँ (basic lines) कह सकते हैं।

जैसे पहले सूचित किया गया, विभिन्न देशों और जातियों में प्रचलित मिथकों और लोक कथाओं में परिलक्षित सादृश्य तो इन अचेतनगत सहज भावरूपों की (thought-forms) सार्वजनीनता को प्रमाणित करता है। फिर भी प्रयोगसिद्ध (proved by experiment) न होकर अनुभवसिद्ध (proved by experience मात्र रह जाते हैं। इसका एक कारण यह है कि ये बिलकुल अमूर्त और अस्पष्ट तत्व हैं। दूसरा तो ये अचेतन चित्तावस्था (unconscious mental disposition) के रूप में हमेशा अपनी अभिव्यक्ति खातिर आकुल रहते हैं। फिर भी अपने शुद्ध रूप में अभिव्यक्ति पाने में ये असमर्थ हैं।[1] अतः ये अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में छिपकर प्रकट होते हैं। अर्थात् स्वयं मूर्तरूप धारण किए बिना तथ्यों का परिवर्तित रूप ले लेते हैं।[2] या कहें, तथ्यों का कंचुक पहन कर प्रकट होते हैं। अस्तित्व की अनुभवमूलक सत्यता के बावजूद, इनकी अस्पष्टता इतनी अधिक है कि इन्हें कोई तत्व भी नहीं कह सकते,[3] अपितु तथ्यों की संभावनाएँ कहनी चाहिए जो धर्ममूलक होती हैं।

---

1. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 5
2. Ibid. P. 5
3. Ibid. P. 5
   (Also Jung's Psychology and Its Social Meaning) P. 70

मन की अन्य सभी शक्तियों और सिद्धियों पर इन तत्वों का नियंत्रण रहता है । भ्रामक कल्पनाएँ, जो उच्चतर मानसिक व्यापार की उपज है, उपर्युक्त प्रस्ताव के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं । इन्हीं संभावनाओं को प्रागुबिम्ब (archetypes) नाम से अभिहित किया जाता है ।[1] प्रागुबिम्बों से गठित अचेतन मानसिक पक्ष का वर्जनाओं (repressions) से भी वैयक्तिक अचेतन से कोई सम्बन्ध नहीं है ।[2] सार्वजनीन वर्जनात्मक तत्वों से युक्त उस गहनतर अचेतन को सामूहिक अचेतन (collective unconscious) संज्ञा दी गई है ।

प्रागुबिम्ब की मनोवैज्ञानिक अवधारणा

प्रागुबिम्ब अबोध (unconscious) के तत्व हैं । इसलिए चेतन मन की जाग्रत अवस्था से उनका सम्बन्ध नहीं है । अर्थात् उनका व्यापार अचेतन मानसिक व्यापार की कोटि का है । इसप्रकार के व्यापार का प्रकट रूप स्वप्नों में परिलक्षित है ।[3] स्वप्न के द्वारा व्यक्ति की दमित आकांक्षाओं और कुंठाओं की परितृप्ति प्राप्त होती है ।[4] स्वप्न प्रायः प्रतीकात्मक है । साधारणतया कुंठाओं से संबन्धित स्वप्न व्यक्ति की जीवन - परिस्थितियों से और जान - पहिचान की वस्तुओं से सम्बद्ध होते हैं । वे व्यक्ति - व्यक्ति में भिन्न हो सकते हैं ।

लेकिन कुछ ऐसे स्वप्नों का वर्णन भी मिलता है जिनमें जाग्रत जीवन के वैयक्तिक अनुभवों की सीमा के परे की बातों का पता भी उपलब्ध है ।[5] ये बिलकुल

1. Jung's "Psychology" and Its Social Meaning. - - - - - - - - P. 70
2. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 3
3. Ibid. P. 5
4. Sigmund Freud: Collected Papers, Vol. IV. P. 16
5. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 9

(ऐसे स्वप्नों का विस्तृत वर्णन इस ग्रंथ के प्रथम अध्याय में दिया गया है ।)

चित्र 2

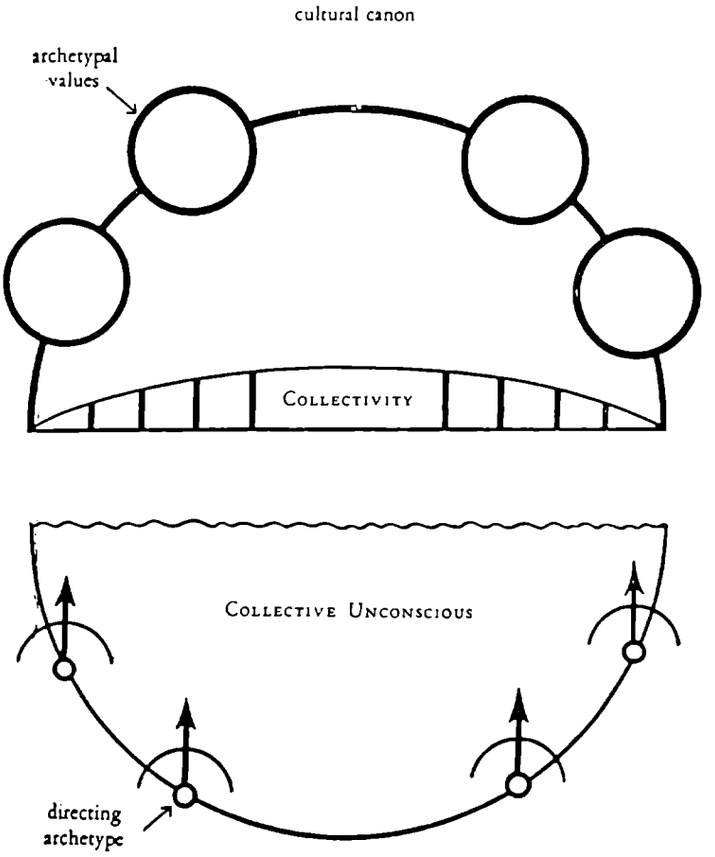

आर्किटाइप का जागरण

(Erich Neumann के Art and the Creative Unconscious से (P.108) उद्धृत)

पौराणिक और अन्य देश की सांस्कृतिक परम्परा से सम्बन्धित होती है जिनके बारे में व्यक्ति स्वप्न-द्रष्टा) का जानना असंभव ही है । यह तथ्य इस सत्य की ओर संकेत करता है कि मनुष्य के अचेतन मन के सभी व्यापारों को शुद्ध वैयक्तिक स्तर पर पूर्णतः नहीं आँका जा सकता है । उसके मन में उत्पन्न होनेवाले सभी बिम्बों व प्रतीकों का प्रश्न - स्थान एक ही नहीं है ।

अगर अचेतन पूर्णतः व्यक्तिगत होता, और उसमें केवल व्यक्तिगत कुंठाएँ भरी रहतीं, तो स्वप्न भी सर्वथा व्यक्ति के तल पर रह जाते । तब प्रश्न उठता है कि दूसरे प्रकार के स्वप्नों में प्रकट होनेवाले प्रतीक - बिम्बादि का स्रोत कौन है जो व्यक्ति के जीवन - सन्दर्भ और ज्ञान के बाहर विद्यमान है, और जो सार्वकालीन समान प्रवृत्ति की आवृत्ति को प्रमाणित करते हैं ? इसका उत्तर अचेतन के एक गहनतर पक्ष की उद्भावना पर निर्भर है । अचेतन केवल व्यक्तिगत नहीं है ।[1] उसके नीचे एक और पक्ष भी है, जिसपर व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं है ।[2] अर्थात् यह व्यक्ति के तल पर विकसित न होकर, परम्परा से, जन्म से, संप्राप्त है ।[3] उसका व्यापार भी, इस कारण व्यक्ति से परे मानवमात्र में समान विद्यमान है ।

कहने का तात्पर्य है कि उपर्युक्त सादृश्यद्योतक प्रतीक - बिम्बादि सामूहिक अचेतन से सहज ही उभर आए हुए हैं । इसका अर्थ यह बिलकुल नहीं है कि सामूहिक अचेतन बिम्बों और प्रतीकों या पौराणिक बातों का भण्डार घर हो, जिसमें जब चाहे, पैठकर उन्हें चुन लिया जाय । उसका मतलब केवल इतना है कि अचेतनगत व्यापार कुछ स्थिर सत्यों से नियन्त्रित है । पैतृक के रूप में उपलब्ध ये शक्तियाँ - ये स्थिर सत्य -

---

1. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 43
2. Ibid. P. 43
3. Ibid. P. 43

मानव - मन की तमोमय कोठरी में रखकर उसकी चिंतन प्रक्रिया को संभाल रही है ।[1]

इनकी उपस्थिति ही चित्त को निष्कर्ष - समर्थ सक्रीय - साधन बना देती है । सर्वोपरि, चिंतन की क्षमता चेतन मन के विकास का परिणाम न होकर बच्चे-बुढ़ों, प्रबुद्ध - संबुद्ध एवं उद्बुद्ध अबोध - सब प्रकार के व्यक्तियों की सामान्य पटुता सिद्ध होती है । विभिन्न देश की जनताओं के बीच प्रचलित मिथकों का विश्लेषण इन चिरंतनों कैश्लित्य को प्रमाणित करता है ।[2] इसके अतिरिक्त मिथकों के अध्ययन ने यह भी स्थापित किया है कि मनुष्य की ईश्वर सम्बन्धी धारणाएँ इन्हीं चिर तत्वों से प्रेरित हैं । ये ऐतिहासिक पितृबिम्ब (father-image) के पुनरुज्जीवन नहीं हैं। इसप्रकार, अबोध काव्य रचना (unconscious versific/ation) जिसमें भी सदृश बिम्ब और भाव सुलभ हैं, और मिथक दोनों एक ही स्रोत से प्रादुर्भूत हैं । यानी ऐसी काव्य - रचना से व्यक्तिगत अचेतन का सम्बन्ध नहीं है ।[3] थोड़े में, " मनुष्य के पास ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं जो उसने स्वयं अर्जित नहीं की, वरन अपने पूर्वजों से पैतृक के रूप में उसको प्राप्त हुईं । जब वह जीव पैदा हुआ था, तब वह केवल खाली बर्तन(tabula-rasa) नहीं था, केवल अबोध प्राणी था ।"[4]

सामूहिक अचेतन के सिद्धान्त ने इसप्रकार चित्त की अवधारणा को बदल दिया । तर्कमूलक भौतिकवादी मनोविश्लेषण को बदल दिया । तर्कमूलक भौतिकवादी मनोविश्लेषण मन की सभी काबिलियतों को पढ़ पाने में समर्थ नहीं हो सका क्योंकि उसने मानव की जन्तु कि ज्ञानीय दृष्टि से परखने का परिश्रम ही किया था ।[5] इसके फलस्वरूप,

---

1. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 44
2. Jung's Psychology and Its Social Meaning. P. 71
3. Modern Man in Search of a Soul. P. 185
4. Religion and Psychology of Jung. P. 50
5. Jung's Psychology and Its Social Meaning. P. 10

ऐतिहासिक आधार पर मानवीय प्रेरणाओं के मूल की खोज निकालने में वह असमर्थ रहा । मानव की जीवंतता के पीछे की मूलप्रेरणाओं की पहचान गहन स्तर अचेतन के उद्घाटन से ही संभव हो सका है ।[1] यह अचेतन, जैसे पहले स्पष्ट किया गया, मन (या बुद्धि) की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ठहरता है ।

अचेतन की इस नयी पहुँच(approach) के फलस्वरूप, युक्ति-रहित या अतर्किक (irrational) कहलानेवाले मनोव्यापारों के अध्ययन ने मानव मन के ऐतिहासिक स्वरूप को व्यक्त कर दिया ही नहीं, बल्कि उसको सामाजिक अर्थवत्ता (social meaning) से अन्वित भी किया ।[2] अचेतन गत मनोव्यापार केवल चिंता-धारा का द्योतक मात्र नहीं रह गया, वह मन की कुछ उत्कृष्ट योग्यताओं का परिचायक भी सिद्ध हुआ । अचेतन की प्राप्त इस नयी अर्थवत्ता ने मानव मन के चेतन पहलू को ठोस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर स्थिर कर दिया और मानवता की एकता का आधार मनो-वैज्ञानिक स्तर पर साधित हो सका ।

अचेतन के सामूहिक पहलू के आविष्कार ने मनोयंत्र को (psyche) सामाजिक नींव प्रदान की ही नहीं, बल्कि उसके आधुनिक स्वरूप के पीछे के क्रमिक विकास की ऐतिहासिक परम्परा की ओर भी संकेत किया है ।[3] उसने चेतन पहलू की अर्थवत्ता को समझने में और मानव के आन्तरिक जीवन की गहराइयों में पैठ पाने में अचेतन के अन्तस्पन्दनों का अन्वेषण अनिवार्य हुआ और उस खोज का परिणाम ही आर्किटाइप के आविष्कार में हो पाया था । कहना न होगा, आर्किटाइप ने वैसा जातिगत भिन्नता प्रकट

---

1. Jung's Psychology and Its Social Meaning. P. 10
2. Ibid. P. 10
3. Ibid. P. 10

करनेवाले मानव मात्र की 'सूत्रे मणिगणा इव'[1] बाँध रखनेवाले अन्तर्धित स्वरूप - तत्व को दिखा दिया है । यही मानवचित्त की एकात्मता का असली आधार भी है ।

प्रारूपिक्य का स्वरूप निर्धारण

प्रारूपिक्यों की सामान्य प्रकृति की जो चर्चा ऊपर की गई है, उससे यह स्पष्ट है कि ठोस वैज्ञानिक आधार पर उनकी किसी परिभाषा में समग्र रूप में बाँधना असंभव है । फिर भी निम्नलिखित शब्दों में उनके स्वरूप का सामान्य चित्र प्रस्तुत किया जाता है - प्रारूपिक्य स्वयं अचेतन स्थित सूक्ष्म सामूहिक चित्तावस्था में सुरक्षित हैं । वे मनुष्य की सर्जनशक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं । एक ही अथवा सदृश मिथकीय विषयों को (myth-motif) बार बार उत्पन्न करते हैं वे । अतः अचेतन के शक्तिस्रोत मान लिया जाता है उन्हें ।

वे सदैव व्यक्तिगत (विषयीगत - subjective or individual) विशेषताओं से समुचित होकर व्यक्ति के मानसिक व्यापार के रूप में प्रकट होते हैं । एक ही समय शक्ति स्रोत और कर्म दोनों (both active power and activation) हैं । लेकिन शक्ति से कर्म भिन्न है । वे शान्तिपूर्वक अपने प्रसारण (activation) की प्रतीक्षा में रहनेवाली निहित अवस्थाएँ नहीं है, प्रत्युत वे स्वयं साक्षात्कृत होने को आतुर होकर अवसर की ताक में रहनेवाली वासित चित्तावस्थाएँ हैं ।[2]

---

1. श्रीमद् भगवद्गीता : 7.7.
2. The Archetype, a latent disposition tending towards its own realization, forms part of the collective unconscious - Raymond Hostie, SJ. Religion and Psychology of Jung. P. 67

ठीक है कि प्रागबिम्ब का अस्तित्व मूर्त और वस्तुमूलक नहीं है । वह आदर्श मूलक है । लेकिन इस कारण उसे मिथ्यापद अथवा असत्य जटिल नहीं ठहराया जा सकता । वस्तुपरक तथ्यों पर आधारित विज्ञान के क्षेत्र में भी इसप्रकार के आदर्श - मूलक तत्वों की अस्तित्व पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है । उदाहरण के तौर पर वनस्पति विज्ञान की व्यवस्थाओं को लिया जा सकता है । उन व्यवस्थाओं का अस्तित्व प्रकृति में उपलब्ध वनस्पति - परिवार से प्रमाणित हो जाता है । इसप्रकार मानव जाति में कतिपय मिथकीय और धर्ममूलक सादृश्यों की निरंतर आवृत्ति होती दिखाई देती है । यह आवृत्ति उन व्यापारों के हेतुभूत कुछ तत्वों के अस्तित्व को प्रमाणित करती है । इसमें ऐसी कोई बात नहीं जो तर्क - संगत न हो ।

सितोपल (crystal) की अक्ष - व्यवस्था (axial system) से प्रागबिम्बों की तुलना करने पर भाव अधिक स्पष्ट हो जाता है । किसी मूल द्रव में सितोपल के गठन निश्चित करनेवाला तत्व अक्ष व्यवस्था है । लेकिन वह अपनी कोई भौतिक सत्ता नहीं रखती । वह आशय - मूलक है ।

जैसे अन्यत्र कहा गया है, ये प्रागबिम्ब प्रतीकों के गठन को निश्चित करते है । परन्तु अक्ष - व्यवस्था की तरह प्रागबिम्ब का कोई स्पष्ट या मूर्त रूप नहीं निर्दिष्ट किया जा सकता । वह आदर्श या तत्व भाग रहता है । अथवा भाव-रूपों (thought patterns) की संभावना मात्र रहता है । इस तुलना के द्वारा प्रागबिम्ब के स्वरूप एवं धर्म अधिक स्पष्ट हो पाये हैं । प्रागबिम्ब कुछ शक्ति स्रोतों के रूप में क्रियाशील रहते हैं । आर्किटाइप के प्रकट रूप जो बिम्ब, प्रतीक आदि है, उनकी प्रकृति (nature) बाह्य एवं आन्तरिक हेतुओं पर निर्भर है । फिर भी उन रूपों की चालक शक्ति के रूप में प्रागबिम्ब की प्रमुखता और प्रधानता बनी रहती है ।

प्राणबिम्ब का मनोवैज्ञानिक धर्म

उपर्युक्त विवेचन में आर्किटाइप की सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। अब हमें देखना है कि प्राणबिम्बों का मनोवैज्ञानिक महत्व क्या है। व्यक्ति के मानसिक व्यापारों में उनका कौन - सा महत्वपूर्ण धर्म है ?

हमने देखा कि पौराणिक बिम्ब और प्रतीक ऐसे प्राक्तन बिम्ब (archaic images) हैं जिनके द्वारा प्राणबिम्ब अपना साक्षात्कार पाते हैं।[1] निरंतर अभिव्यक्ति के आकुल रहने से ये चेतन मन के नियंत्रण से मुक्त मानसिक अवस्था में स्वयं प्रकट होते हैं।[2] ऐसी अवस्थाएँ स्वप्नों में साधारण है। प्रायः परिस्थितियों में रहनेवाले साधारण मनुष्य में ये स्वप्नों का रूप धारण करते हैं।[3] स्वप्नों में अद्भुत चमत्कारपूर्ण कथाओं और परी - सी अलौकिक सृष्टियों की कहानियों के द्वारा प्रयुक्त सम्मोहन (fascination) बन बैठते हैं।[4] स्वप्नों और शारीरिक अवसादन में पड़े व्यक्तियों में उन्माद (delirium) और मतिभ्रम (hallucination) की अवस्थाओं में ये गोचर होने लगते हैं।[5] जब ये व्यक्ति के चेतन मानसिक जीवन के साथ किसी निकट रहस्यपूर्ण सम्बन्ध में आ जाते हैं तो ये कलाकारों और कवियों को उद्वेलित करते हैं।[6] कलाकार या कवि सच्चे अर्थ में अपनी आन्तरिक सर्ग - शक्ति के कारण आत्म-निष्ठ एवं अन्तर्मुख होते हैं अर्थात् इन बिम्बों पर ही उनका ध्यान केन्द्रित होता है।[7]

---

1. 'They (myths) are rather symbolic expressions for the inner and unconscious psychic drama that becomes accessible to human consciousness by way of projection - that is by being mirrored in the events of nature'. An Anthology of the writings of C.G.Jung. ed. by Jolande Jacobi. P. 15. Also, Archetypes and the Collective Unconscious. P. 5.
2. Religion and Psychology of Jung. P. 6
3. Psychological Types. P.55
4. Collected Works of C.G.Jung. Vol.7. P. 6
5. Ibid. P.11
6. '....when joined in a close mysterious connection with conscious life, they inspire artists and poets'. Raymond Hostie SJ. Religion and Psychology of Jung. P. 6
7. Modern Man in Search of a Soul. P.19

चित्र ७

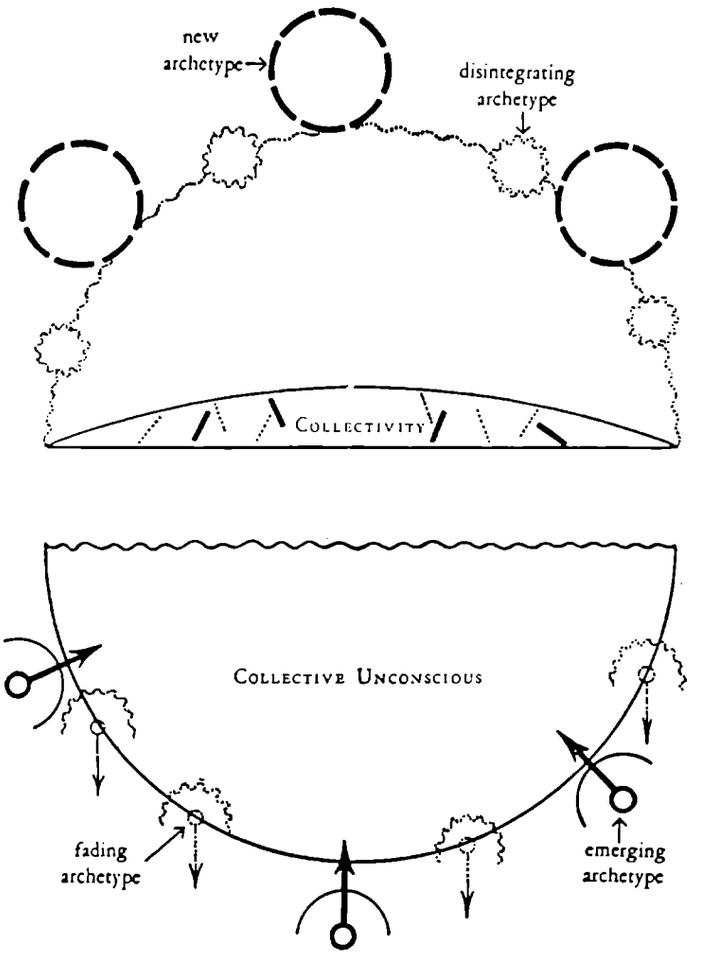

Fig. 7

(87)

आर्किटाइप का साक्षात्कार

(Erich Newman की Astaud the Creative Unconscious से उद्धृत P.109)

इसप्रकार के बिम्बों और प्रतीकों के पीछे आर्किटाइप के कार्य की कल्पना यों की जाती है - व्यक्ति या समूह वस्तुपरक तथ्यों का गठन करता रहता है। इसप्रकार स्वीकृत तथ्यों या संज्ञाओं में सब के सब आर्किटाइप के अपने अर्थ या उद्देश्य से मेल खानेवाले नहीं हैं। लेकिन जो मेल खानेवाले हैं उनका एक पूर्ण और उचित समवाय (constellation) आर्किटाइप में शक्ति भर देता है। अथवा उस समवाय से आर्किटाइप पूर्णांकित उत्तेजित हो जाते हैं।[1]

उत्तेजित प्रागुबिम्ब चेतन मन में ऐसा प्रवेश करते हैं कि वे सहजतः नहीं समझे जा सकें। इस अवसर पर केवल अव्यक्त मानसिक स्पन्दन (vague movements of the soul) ही अनुभूत हो सकता है। कभी कभी यह स्पन्दन मन्दगति को छोड़कर एकदम तीव्र मानसिक आन्दोलन (psychic storm) का रूप ले लेता है।[2]

परिणाम स्वरूप चेतन मन प्रागुबिम्ब की अस्पष्ट उपस्थिति महसूस करने लगता है। वह भी किसी गतिशील शक्ति के रूप में (dynamic form of energy) ऐसी दशा में दोनों के बीच एक प्रकार का पारस्परिक व्यापार (interaction) सम्पन्न हो जाता है जिससे प्रतीक उत्पन्न होता है।[3] अर्थात् व्यक्ति की दो पूर्ण ऐन्द्रिय संज्ञापरक वस्तुओं (representational) का संचय और संयोग करके उन्हें अर्थपूर्ण बना दिया जाता है। यहाँ प्रतीक की ऐन्द्रिय संज्ञापरक वस्तुएँ और तात्पर्य अन्य

---

1. 'An appropriate constellation, that is, a whole group of objective facts in line with the archetypes own meaning brings a charge of energy to the archetype and sets off' - Religion and Psychology of Jung. P. 67
2. The archetype thus charged with energy insinuates itself into consciousness, without being clearly perceived. Generally speaking vague movements of the soul are perceived. Occasionally these swell up and lead to an absolute psychic storm - Ibid. P. 67
3. The resulting interaction gives rise to a symbol in the sense that representational material contributed by the subject is ordered or constelled by the archetype and given whatever meaning it has - Ibid. P. 67

तत्व तो प्रारूपबिम्ब के बाह्यावरण या कंचुक मात्र है ।[1] प्रतीक की सारभूत वस्तु के रूप में प्रारूपबिम्ब ही उसके अन्दर समाए रहता है । प्रतीक - कंचुक काल देश गत भेद के अनुसार उत्पन्न विभिन्न परिस्थितियों के अनुरूप व्यक्ति या समूह के व्यक्तित्व(विशेषताओं) के आधार पर पृथकता प्रदर्शित कराता है ।[2]

चेतन मन केलिए प्रतीक व्यक्ति के अर्थ की उपज नहीं है । इसलिए वह चेतन पर निर्भर भी नहीं होता ।[3] लेकिन प्रतीक ऐसी बहुमुखी विशेषता रखता है कि उसकी अवहेलना चेतन मन नहीं कर पाता । वह स्वयं अपनी ओर चेतन मन को आकृष्ट करता है । मध्यवर्तित्व (mediation), चिंतन (reflection), और व्याख्यान (explanation) - इन तीन व्यापारों के द्वारा चेतन मन को प्रतीक अपनी तरफ आकृष्ट कराता रहता है ।[4] ये व्यापार सहज(spontaneous) किन्तु व्यवस्थित रूप में (नियमानुसार) सम्पन्न हो जाते हैं ।[5]

इसप्रकार चेतन मन से प्रतीक तीन प्रकार से ग्रहण किया जाता है । एक तो, वह व्यक्ति से सम्बद्ध रहता है । व्यक्ति एक हद तक प्रतीक के अर्थ समझ पाता है, परन्तु वह पूर्णतः कभी भी समझ में नहीं आता ।[6] इससे उसकी आकर्षकता बनी रहती है । उसका चैतन्य कभी नष्ट नहीं होता । दूसरे प्रकार में, पूर्णतः प्रतीक

---

1. Religion and Psychology of Jung. P. 67
2. Ibid. P. 67
3. Ibid. P. 68
4. Ibid. P. 68
5. Ibid. P. 68
6. 'The symbol can thus be received in three different ways by the consciousness. Either it is partly related to the subject, who penetrates its meaning but not fully, so that it preserves its attractiveness and vitality' - Ibid. P. 68

समझ लिया जाता है और चेतन मन उसे सम्पूर्ण रूप में आत्म सात कर ले सकता है ।[1] परिणामतः वह मिरा चिह्न या रूपक (allegory) मात्र रह जाता है । तीसरे में, प्रतीक चेतन मन को कोई अपरिचित अग्राह्य (uncomprehended) वस्तु लगने लगता है ।[2] वह चेतन मन में विरोधी तत्व बनकर मनोयंत्र में वियुक्तता (dissociation) की स्थिति उत्पन्न करता है । वह चेतन मन से आत्मा के टुकड़े की तरह या एक स्वतंत्र ग्रन्थी (complex autonomous) के रूप में अलग रह जाता है । ऐसी स्थिति में वह मनोरोग मूलक प्रतीक बनकर चेतन मन पर राज करने लगता है और उसे कमजोर कर देता है। इनमें से प्रथम प्रकार के प्रतीक ग्रहण की कला - साहित्यादि सृजनात्मक व्यापारों में हम देखते हैं ।[3]

मनोव्यापारों में आर्किटाइप के धर्मों की इस रूप रेखा से यह व्यक्त करने की चेष्टा की गयी है कि प्रागुबिम्बों और वस्तुपरक सत्यों के बीच क्रमिक पारस्परिक व्यापार कैसे सम्पन्न होता है और फलतः कैसे प्रतीकों का गठन होता है ।

आर्किटाइपों की संख्या अगणनीय है ।[4] जितनी ही वैयक्तिक - परिस्थितियाँ और उनकी आवृत्ति जीवन में होती रही है, आर्किटाइपों की उतनी ही संभावनाएँ रहती हैं । साथ ही एक ही समय अनेकों आर्किटाइपों का समान रूप से न सही, जाग्रत होना असंभव नहीं है । ऐसे प्रागुबिम्बों में स्त्रैण बिम्ब (anima),

---

1. ....It is completely understood: in this case it is totally assimilated by the consciousness and losee its life .....' - Religion and Psychology of Jung. P. 68
2. 'It may remain absolutely uncomprehended like a foreign body' - Ibid. P. 68
3. Collected Works of C.G. Jung. Vol. 7. P.108
4. Ibid. P. 108

पितृबिम्ब (father imago), छाया बिम्ब (shadow), प्रौढ़ विवेकी बिम्ब (archetype of wise old man), द्वि जन्म विषयक बिम्ब (dual birth motif), दिव्य युगल का बिम्ब (archetype of devine pair), व्यक्तित्वाभासी बिम्ब (archetype of persona), आत्म बिम्ब(sole image), ईश्वर बिम्ब (archetype of God) पुनर्जन्म बिम्ब (archetype of re-birth) आदि प्रमुख हैं।[1]

प्रारूपबिम्ब के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि अचेतन केवल पाशवीय प्रवृत्तियों का भण्डार नहीं है। वह गर्हणीय नहीं, अपितु स्तुत्यीय है। क्योंकि मनुष्य की कला, धर्म, रागात्मकता सब इस गहन मानसिक पक्ष में ही छिपी रहती है।[2] इस कारण सामूहिक अचेतन ने वस्तुतः फ्रायड के द्वारा निर्धारित अचेतन - सिद्धान्त की अपर्याप्तता का परिहार कर दिया है। साथ ही उसने मनुष्य की बहुमुखी सृजनात्मक क्षमताओं और उपलब्धियों को स्नायुरोग की उपज की कोटि से बचा लिया और उन्हें मानव की अमूल्य सम्पत्ति स्थापित की। कलाकार या कवि का गौरव बढ़ गया। वह निरा असुप्त अचेतन का शिकार नहीं ठहरा। वह व्यक्ति - निष्ठ आन्तरिक अवस्था से हमेशा परिचालित है, शासित है। वह प्रातिभज्ञान से सम्पन्न है। वह अधिक संवेदनशील है, सूक्ष्मग्राही है। अपने अचेतन मानसिक व्यापारों से तिलमिस कर रहने से वह हमेशा अपना भाव प्रतीकात्मक बिम्बविधान पर स्थिर रखता है।[3]

---

1. Archetypes and the Collective Unconscious. Chapter I,II,III and IV. Also, Psychological Types. P. 588,596 etc. (see definitions).
2. 'The creative process has feminine quality and the creative work arises from unconscious depths - We might say from the realm of mothers' - Modern Man in Search of a Soul. P. 196-7
3. 'Art is a new symbolic form ' which is able to live on 'side by side with philosophy and science and all the higher forms of thought'. Susanne Langer in 'Philosophy in a New Key', quoted in 'Literary Criticism a Short History. P. 705

सर्जनशीलता केवल कलाकारों में ही नहीं अपितु विज्ञान - क्षेत्र के मेधावियों में भी समान रूप से सुलभ है । प्रायः देखा जाता है कि बड़े बड़े वैज्ञानिक सिद्धान्तों के पीछे इस प्रकार के अबोध पूर्वाभास या अचेतन गत (सहजात बोध- intuition) भावों का सहज उद्रेक होता रहता है । एल्बर्ट आइन्स्टीन जैसे अपूर्व प्रतिभाशालियों की वाणी इसके प्रमाण है ।[1]

इसप्रकार कला साहित्य आदि का मूलस्रोत प्राग्बिम्ब सिद्ध होता है। ये ही मानवीय सृजनशक्ति के केन्द्र है । तब काव्य में बिखरी होनेवाले प्रतीकों व बिम्बों का प्राग्बिम्बीय दृष्टि से अध्ययन महत्वपूर्ण ठहरता है ।

---

1. 'And the greatest genius of them all, Albert Eistein, recounts in his autobiography how the broader implications of his earth shaking theory of relativity struck him with the force of a blow while he was stolling in the woods in Germany' - J.P. Chaplin, The Unconscious. P. 180.

चौथा अध्याय

प्राग्बिम्ब - १

चौथा अध्याय

प्रागबिम्ब - 2

फ्रायड के कामवृत्तिमूलक वैयक्तिक अचेतन से नितांत भिन्न सामूहिक अचेतन मानव - चित्त की विकास - परम्परा की आदिम दशा को उद्घाटित करता है । आदिम चित्त (archaic mind) के नाम से अभिहित यही मानसिक - पक्ष मनुष्य में चेतना और मन का उदय प्रमाणित करता है । मानव - व्यक्तित्व को निश्चित करनेवाला आन्तरिक पक्ष्य यही है । अनादि काल से मनुष्य - जीव के अन्तस्तल में वर्तमान रहनेवाले इस गहनतर अचेतन मानसिक पटल को सामूहिक बनानेवाले संस्कृत तत्व प्राग्-बिम्ब अथवा आद्यबिम्ब है ।[1] प्रागबिम्ब वे अरूपी क्षमता - संभावनाएँ है जो प्राणिमात्र के पूर्वजों के अनुभवों और उनके प्रतिस्पन्दन रूप व्यवहारों के निरंतर आवर्तन के संस्कारों से गठित है ।[2] मानव की मस्तिष्क - व्यवस्था की स्वनिष्कर्ष सर्जक(forcing certain conclusions) परम्परा प्राप्त ऐतिहासिक साधन बनाते हुए उसके सूक्ष्म तंतुओं में सहज प्रकृति के रूप में वे रम गए है ।[3]

ये आत्मसात्कृत - सत्य, प्रतीक धर्मी है । अतः प्राक्तन मन के व्यवहार प्रतीकात्मक अथवा बिम्बात्मक है । बिम्ब प्रणाली के माध्यम से ही बोधगम्य होना इन

---

1. C.G.Jung: The archetypes and the Collective Unconscious. P. 4.
   (Also, Collected Works of C.G. Jung, Vol.7. The Archetypes of the Collective Unconscious) P. 93
2. C.G.Jung: Development of Personality (Routledge and Kegan Paul). P.117
3. Ibid. P.117

अचेतन - तत्वों का स्वभाव है क्यों कि शुद्ध रूप में प्रकट होने में वे असमर्थ हैं। जैसे पिछले अध्याय में, 'आर्किटाइप' के मनोवैज्ञानिक कर्म की चर्चा के सन्दर्भ में स्पष्ट किया गया, इंद्रिय संवेदनों के प्रति प्रतिबन्धन में - अनुभूति की तीव्रता में स्थूल तथ्यात्मक बातों से गठित प्रतीकों में, उनकी रहस्यमयी नियामक शक्ति और प्राक्भूत तत्व बनकर वे प्रकाशित होते हैं। इसप्रकार प्रागुबिम्बों के सूक्ष्म रूप से दो भेद हम देख सकते हैं - (1) मूल तात्विक स्थिति और (2) जागृत क्रियाशील अवस्था। प्रतीक में स्वयं कार्य और कारण के रूप में आदिबिम्ब लक्षित होते हैं। उड्वर्थ ने मूल रूप को सहज प्रवृत्ति (अथवा क्रिया - प्रणाली का मूल स्रोत ( ) और आदि प्रतीक (अथवा चिरन्तन व्यापार का मूल स्रोत ( ) के रूप में दो ऊर्जा - केन्द्रों में विभाजित कर दिया है।[1] वास्तव में यहाँ, एक ही तत्व की दो अवस्थाओं की ओर ही संकेत है। मूलरूप प्रागुबिम्ब की शाश्वत्य ( ) स्थिति है, शुद्ध ऊर्जा मात्र रहता है। लेकिन परिस्थितियों से परिचालित होने पर तदनुरूप आकार स्वीकार - कर प्रकट होता है।

'मृततरंग नदी'(ripple-dead river bed) का नाम देकर युंग इस मूलरूप अवस्था की ओर संकेत करते हैं। सामूहिक अचेतन की उस 'मृततरंग सरणियों' में प्रागुबिम्ब की धारा बन्द मात्र है, प्रोत सूख नहीं गया है। वह प्रागुबिम्बीय प्रोत अन्तः सलिला बन कर उसमें वर्तमान है। वह जीवन के अनुभवों से रिस रिसकर उस गहरी अचेतन - गर्त में भरा हुआ है। वहाँ वह सुरक्षित है, जब चाहे उछलकर प्रवाहित हो सकता है।[2] दूसरे रूप को स्पष्ट करते हुए युंग का कहना है:

---

1. R.S. Woodworth: Contemporary Schools of Psychology. P. 201-3

2. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'रेत की नदी' कविता में सामूहिक अचेतन का बिम्बात्मक

" आधुनिक जीवन - प्रक्रिया की प्रत्याख्यानात्मक अभिव्यक्ति( )
है । यह शब्दों एवं मानस प्रतीतियों के बीच संगति द्वारा अर्थ प्रस्तुत करता है,
जिसके कोर अर्थ पहले असंगत और असंबद्ध प्रतीत होता है । इससे मानस की अपनी
शक्ति के अपव्यय से, जो अबोध, अव्यवस्थित प्रयत्नों के कारण होता है, मुक्ति मिलती है ।

- -

विजय इसप्रकार उपलब्ध है ,-

" रेत की नदी — मिलि मुझे राह में
मैंने दौड़ा घोड़ा — अहि कब क्या आयी
बोली - अतीत — छिपा है मेरे भीतर ।
जल है पर वह — भूला है लहराना,
वर्तमान मेरा अब तो — अनवरत दाह है - - - -
मैं ने कहा — अस्त : सलिला होना यह तुम्हारा
मुझे तो केवल देता है अस्तदाह, अर्थहीन लगती है अपनी यह राह ।
सी गई दो जहाँ — उद्दाम प्रखर धार
वहाँ मेरा प्यार — जीत कर भी रहा हार ।
चुप की वह — चुप का मैं
चाँदनी आई — वह उभरी नहीं ,
धूप तपी — वह सिकुड़ी नहीं ,
समय बीतता गया — रेत बढ़ती गयी
- - - — - - -
दब गया नाव — दब गया जाल
दब गई तैर कर — पार जाने का ख्याल
चिह्न भी तट के — जल के और थल के
धीरे धीरे खो गए — भाव एक हो गए ।

- साप्ताहिक हिन्दुस्तान । - 13 - 12 - 1967.

" आद्यबिम्ब और विस्मृत धारणा ( ) में अन्तर यह है कि आद्य बिम्ब उससे अधिक उपयोगी और शक्तिशाली है। यह सजीव है। आद्यबिम्ब स्मृतिपीछे पूर्ण व्यवस्था है, जो सर्जनात्मक ऊर्जा से संवलित है, क्योंकि आद्य - बिम्ब मानस - ऊर्जा का आनुवंशिक संस्थान ( ) है, एक मूलतत्व व्यवस्था है, जो न केवल ऊर्जा - प्रक्रिया का प्रकाशन है, अपितु अपने व्यवहार की क्षमता संभावनाओं से पूर्ण भी है।"[1]

इससे यह स्पष्ट होता है कि आद्यबिम्ब मानव की वासना, वंशानुगत प्राण चेतना और जातीय भावना से युग युग से संपृक्त रहकर नाना प्रकार की अर्थ संभावनाएँ रखते हैं। हर्बर्ट रीड तो युंग और अन्य मनोवैज्ञानिकों की प्राणबिम्ब संबन्धी मान्यताओं का समर्थन जीवविज्ञान और शरीर विज्ञान की दृष्टि से करते हैं। उन्होंने 'एनग्राम' की प्रमस्तिष्क बाह्यकों (cerebral cortex) पर पड़े संस्कार लेखों (imprints - cults) के रूप में स्वीकार करके शरीर विज्ञानीय आधार भी प्रदान किया है।[2]

इसप्रकार मानव के अचेतन मन के गहरे स्तर पर वंशानुक्रम से जन्म से ही, या कहीं जन्म के पहले से ही, विद्यमान रहकर नाना प्रकार से रहस्यात्मक तरीकों से उसकी मानसिक प्रक्रियाओं को प्रभावित और नियंत्रित करनेवाले प्राणबिम्ब समान अनुभवों की निरंतर आवृत्ति से गठित स्थिर चिह्न हैं।[3] अतः प्राणबिम्ब संख्या में कम हैं। एक ही प्राणबिम्ब के अनेक चेहरे हो सकते हैं। एक ही अनुभव से अनेक

---

1. C.G.Jung: Psychological Types. P. 555-60
2. Herbert Read: The Forms of the Things Unknown. P. 53-55
3. C.G.Jung: Psychological Types. P. 211, 370, 377.

दृष्टव्य : डा. नगेंद्र : काव्य बिम्ब : पृ.29 - 30.

प्रागुकियों का साक्षात्कार साधारण है । ऐसी अन्तर्निहित मूल सत्ताओं में - प्रागुकियों में - आद्यनारी (एनिमा - anima), छाया (archetype of shadow), प्रौढ़ विवेकी (archetype of wise old man), आद्यमाता (mother archetype), मूल पितृबिम्ब (Father Imago), व्यक्तित्वाभासी (persona), आत्म बिम्ब (self) आदि प्रमुख हैं ।

आद्यनारी : (anima)

प्रत्येक पुरुष के मन में मूलस्त्रैणसत्ता निहित है । उसप्रकार हर नारी के भीतर आदिपुरुष तत्व भी निहित है । इन दोनों का समवाय व्यक्ति का 'सौल - इमेज' (soul-image) बनता है ।

युंग के अनुसार विभिन्न जन - समुदायों में स्त्री - पुरुष युग्म के रूप में प्राप्त देवी - देवता - संकल्प के मूल में इस सार्वकालिक मनस्तत्व (soul-image) का अभिक्षेप ही दृष्टव्य है । ऐसी दिव्य - जोड़ियाँ (devine pair) विश्व में स्त्री - पुरुष - अस्तित्व के सदृश सर्वत्र प्राप्त हैं । उसकी परिकल्पना पुं - स्त्री जोड़ि के मोटिफ़ (syzygy-motif)[1] से इसीलिए उद्भावित है और इस चिरंतन प्रेरणा का मूल - प्रेरक तत्व स्वैर बिम्ब के अलावा और कुछ नहीं है । दिव्य युगल में प्रतीकित मातृ - पितृ रूपों के मूल में व्यक्ति के पार्थिव माँ बाप के आदर्शात्मक रूपों के प्रतिरूपन का भ्रम तो हो सकता है । लेकिन अभिक्षेप की प्रक्रिया की अचेतन (या अबोधपूर्वक

---

1. युंग ने अपने 'Archetypes and the Collective Unconscious' नामक ग्रन्थ में 'syzygy motif' की प्रमाणित करनेवाले अनेकों रूपों का वर्णन किया है । दे. C.G. Jung: Archetypes and the Collective Unconscious. P. 63-65

चित्र 4

वज्रनारियर

सहित धर्म की भारतीय दृष्टि

(See Archetypes and the Collective Unconscious by C.G. Jung. P. 63-64)

सम्पन्न होने की) स्थिति उस भ्रम का सृजन करते दिव्य - जोड़ी के प्रतीक के प्रौढ़ की अचेतन की गहराई में स्थित चिरन्तन नारी - पुरुष सत्ता से सम्बद्ध रहती है। इनमें से स्त्रैण - सत्ता ही मनुष्य की कल्पना की प्रेरक शक्ति रहती है। अतः कह सकते हैं कि इन दिव्य जोड़ियों में वास्तव में मानवास्त : स्थित स्त्रैण सत्ता का संप्रसारण ही सम्पन्न होता है। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों, और दार्शनिक पद्धतियों में स्त्रैण सत्ता - प्रेरित, और 'सोल इमेज' के प्रकाशन - स्वरूप 'दिव्य युगल' की कल्पनाएँ देखने को मिलती हैं।[1] चीन के 'यांग'(Yang) और 'यिन'(Yin), ईसाइयों के 'गॉड फादर' (God-father) और 'गॉड मदर' (God-mother) आदि संज्ञेय स्त्रैण सत्ता के साक्षात्कार को प्रमाणित करते हैं। 'गॉड मदर' और 'गॉड - फादर' द्विजन्म विषयक प्रतीक है (dual birth-motif), फिर भी उनका भी सम्बन्ध 'एनिमा' (anima) से ही है क्यों कि माता चिर नारी सत्ता का ही प्रकारान्तर है। भारतीय अर्द्ध नारीश्वर कल्पना के पीछे भी दिव्य - युग्म - बिम्ब की प्रेरणा ही प्रवृत्त रहती है[2]।

स्त्रैण बिम्ब अपने विस्तार (elaboration) पर और विशेषताएँ प्रकट करता है। विरोधी तत्वों के अनेकों संयोग नाना रूपेण प्रागबिम्ब - जगत में होते रहते हैं। उनमें से नारी - बिम्ब से सम्बद्ध संयोग भी एक है। फिर भी प्रबलता की दृष्टि से वह अन्य सभी संयोगों में अग्रतम है। अतः योन - मूलक सम्बन्ध न सूचित करनेवाले अन्य संयोगों का भी इसी तत्व के संयोगों की कोटि में वर्गीकरण किया जाता है। भारतीय कुंडलिनी - योग का सम्बन्ध इस कारण एनिमा से

---

1. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 59

2. चित्र देखिए।

किया गया है ।[1]

मनोविज्ञान में यह प्रक्रिया सर्वाधिक महत्वपूर्ण तब निकलता है जब कभी मनुष्य भावुकता और उसप्रकार के अन्य परिस्थितियों के प्रभाव के अधीन हो जाता है । उस स्थिति में वह स्त्री - पुरुषों और अन्य प्रिय बातों के साथ रागात्मक सम्बन्ध को तीव्रतर कर लेता है । उस तीव्रावेग से उत्पन्न चकितावस्था और भ्रामक कल्पनाएँ आदि आद्यनारी सत्ता की ही करामातें हैं । आद्यनारी - तत्व की दृढ़ और सशक्त संचितावस्था (strong constellation) और उत्तेजित स्थिति पुरुष को मृदु-चित्त, भावुक (touchy), जलन - प्रवृत्ति (jealous), बड़प्पन दिखानेवाला, एवं असहिष्णु बनाती है । तब वह स्वयं असन्तुष्ट (in a state of discontent) रहेगा और चारों तरफ असन्तुष्टि फैलाता रहेगा ॥[2] पुरुष में यौवन की अवस्था को छोड़कर बाकी तीनों अवस्थाओं में नारी तत्व का लीप खतरनाक है । युवावस्था पुरुषत्व पूर्णता - प्राप्ति का समय है । अतः मातासिमुख स्नेह - सत्तामूलक आकर्षणों से उसका मुक्त होना काम्य है । लेकिन जीवन के इस मध्याह्न के बाद रागात्मक तत्व का तिरोभाव वर्ड प्रकार की विफलताएँ व्यक्तित्व को पहुँचाएगा । ओजस्विता (vitality), अनुनयता (flexibility) और दयालुता (compassion) के मंदीभाव का वह हेतु बनेगा । परिणाम स्वरूप, अवास्तिक कार्यक्रम, (rigidity) कठोरता (crustiness), रूढ़तानता (stereotypy) अहेतुक कट्टर एकांगी दृष्टि (fanatical one-sidedness), दम्भार्मिता, पण्डितम्मन्यता (pedantry) या वैराग्य (resignation) विधि - सम्मुख निरुपाधिक समर्पण का विलक्षणभाव,

---

1. श्रीचक्र देखिए । (Cf. Avalon: 'The Serpent Power', Sri Chakra - Sambhara Tantra, Woodroffe, Shakti and Sakta).
2. Achetypes and the collective Unconscious. P. 70-71

चित्र 5

(यह एक प्रकार का पीढ़ा है।)

ग्लानि, अलसता, बालिशता, शराब की ओर झुकाव आदि उसमें विकसित होते हैं और जीवन अनार्थक एवं दुर्वह हो जाता है ।[1]

अतः जीवन को सरस, गतिमय, एवं जीवितव्य बनानेवाली शक्ति यही सत्ता है, यह तर्क के परे है । इसकी महिमा इस बात में निहित है कि वह जीवन का प्रागभूत तत्व है । प्राण - अमरवर है । प्रागैतिहासिक मनुष्य ने आत्मा को (soul) जीवन का जादुई श्वास कहा ।[2] तब प्राण या आत्मा के समान महत्व रखनेवाली यह मूलभूत स्नेह - सत्ता मानव जीवन को अर्थ-समृद्ध करा देती है । इसके साथ आनु - भाविक सम्बन्ध बनाए रखना जीवन को रसमय, आनन्दमय और अर्थपूर्ण बनाने लिए अनुपेक्षणीय है ।

अगर यह तत्व पुरुष के अचेतन के अन्तर्गत में रहकर उसके जीवन को गतियुक्त, रसमय बनाता है, उसके व्यक्तित्व को आनन्दमय और प्रेमिल रूप देता है। जीवन - व्यापारों में उसे निपुण बनाता है, कला - सृजन की ओर उसे प्रेरित करनेवाली आन्तरिक शक्ति भी वही है । उसकी कला स्नेह - सत्ता से अनुप्राणित है । उससे प्रेरित है, कला में वही अनुप्रविष्ट रहती है । तात्पर्य कि कला की मूल रागात्मक चेतना का प्रीत ही स्नेह - सत्ता है । मनुष्य का प्रेममूलक जीवन (love-life) इस बिम्ब का मनोविज्ञान ही प्रकट करता है (यौवन के उदय के साथ स्फुरित होनेवाले प्रेम - भाव में मातृबिम्ब का रूपान्तरण ही व्यक्त होता है । मातृबिम्ब स्वयं आदिनारी सत्ता का रूपान्तरण तो है ही विशाल दृष्टि से देखा जाय तो जीवन स्वयं राग पर - प्रेम पर - आधारित है । उस राग का, प्रेम और सौन्दर्य का मौलिक तत्व यह

---

1. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 71-72

2. Among primitives, the soul is the magic breath of life (hence the term 'anima') - Ibid. P. 26

स्निग्धा है, अथवा प्रेम और सौन्दर्य की चेतना को जागरित करनेवाली आन्तरिक सत्ता चिरनारी चिरंतन ही है। यही कारण है कि युंग ने इसे जीवन का मूल बिम्ब घोषित किया[1]। हेबर्टरीड ने कविता में रोमांटिक प्रवृत्ति की सार्वभौमता और सार्वकालिकता को स्वीकार करते हुए कला में अचेतन गत चिरंतनी बिम्ब के सर्वातिशायी प्रभुत्व का समर्थन ही किया है। महान कृतिकारों की रचनाओं में इस बिम्ब का प्रकाशन प्रचुरता के साथ उपलब्ध है। हिन्दी में आधुनिक कविता के क्षेत्र में प्रसाद(कामायनी), दिनकर (उर्वशी), पंत (पल्लव, वीणा आदि), निराला (राम की शक्ति-पूजा, सन्ध्या सुन्दरी), अज्ञेय (पूर्वा की कई कविताएँ) आदि कवियों की कविताएँ इस तत्व के प्रकाशन से आलोकित है।

दिनकर की उर्वशी में कहती है -

" मैं देशकाल से परे चिरन्तन नारी हूँ,
एकसी अमर मैं चिरयुवा सुकुमारी हूँ
मैं आत्मतेज यौवन की नित्य नवोन्मेषा "[2]

इन पंक्तियों में स्निग्धा का नित्य कन्या रूप बड़े ही स्पष्ट रूप में अवतरित हुआ है।

इस प्रकार, पाश्चात्य साहित्य में राइडर हगार्ड के लिखे हुए उपन्यास 'शे' (SHE) और 'उस की वापसी' (RETURN OF SHE) में आद्यनारी के प्रभावशाली चित्रण की ओर युंग इशारा करते है।[3] गेटे के 'फौस्ट' (FAUST) नाटक में भी चिरंतनी का प्रकाशन स्पष्ट रूप से प्राप्त है[4]। कलाकार की कारयित्री प्रतिभा को उत्तेजित करनेवाली इस अतल मनोवासी अनादि सत्ता तारिका, चन्द्रिका,

---

1. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 32
2. दिनकर : उर्वशी (उदयाचल, पटना-4, 1961) पृ. 99
3. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 71
4. See Faust Part II.

खिली, लहर, नौका गुफा, सूर्य, गौ आदि में प्रतीकित होकर कला - साहित्य में साक्षात्कार पाती है ।

महामातृबिम्ब : (Mother archetype)

स्नेह सत्ता के समान जीवन की मौलिक प्रेरणाओं में मातृसत्ता भी प्रमुख है । जैसे स्नेह - बिम्ब के सम्बन्ध में स्पष्ट किया गया, स्नेह सत्ता चेतना पुरुष तत्व से युक्त होकर अपना विस्तार कर लेती है । ऐसी जोड़ियों में मातृ - पितृ - युग्म (parental pair) की सम्भावना भी रहती है । मातृसत्ता, जो वस्तुतः स्नेहसत्ता - संभूत है, स्नेह सत्ता के अनुरूप ही है । यह स्नेहसत्ता की असाधारणता या दिव्यत्व की आभा से अन्वित करती है । या कहें, स्नेह सत्ता का उदात्त और उत्कृष्ट रूप ही मातृसत्ता में प्राप्त होता है ।

मातृसत्ता के असंख्य रूपान्तर पाए जाते हैं । नाना प्रकार से यह बिम्ब प्रकट होता है । सब प्रकार के मातृमूलक नाते - रिश्ते - जैसे माता, नानी, चाची, बहू, या माता के स्थान पर स्थित कोई भी नारी जैसे नर्स, गवर्नेस, आदि - मातृ-बिम्ब के विस्तार की सीमा में आते हैं । पौराणिक कथाओं में बड़ी संख्या में इस बिम्ब के विभिन्न मुखों का उद्घाटन हुआ है ।

जैसे इसके चेहरे अनेक हैं, वैसे इसके प्रतीक भी असंख्य हैं । अगणित प्रतीकों में वह प्रकाशित होता है । मुक्ति की अभिलाषा (या मोक्ष कामना मूलक भावना) को व्यंजित करनेवाले पदार्थों में परिष्कृत चमत्कारपूर्ण प्रतीकार्थ मातृबिम्ब - सम्बन्धी है । स्वर्ग, ईश्वरीय राज्य, अनीम जन्नतस्तम, आदि ऐसे प्रतीक हैं । आदर युक्त भय या त्रास (awe) और भक्ति को उत्पन्न करनेवाली वस्तुएँ जैसे देवालय, विश्वविद्यालय, नगर, या जनपद, आकाश, भूमि, शाद्ध, सागर, निश्चल जल, पाताल, चन्द्र आदि

मातृबिम्ब से संपृक्त प्रतीक है ।[1] उर्वरता तथा सफलता (fruitfulness) को सूचित करनेवाले पदार्थों और स्थानों के नामों का भी सम्बन्ध मातृबिम्ब से रहता है । इन सब के अतिरिक्त चट्टान, गुफा, कूआ, सिंग, गहरा कुआँ, ज्ञान स्नानोपयोगी तालाब, बर्तन, अथवा बर्तन के आकारवाले गुलाब, कमल आदि फूल मातृबिम्ब से संपृक्त प्रतीक है ।[2] घरेलू वस्तुएँ जैसे चूल्हा, पाचन के बर्तन, गर्भाशय, योनि, या तादृश वस्तुओं में भी महामातृसत्ता संप्रसारित होती है । गाय, गाय और अन्य पालतू और उपयोगी जानवरों से भी इस प्रामृबिम्ब का प्रतीक मूलक सम्बन्ध स्पष्ट है । सुरक्षा की भावना से युक्त होने के कारण मण्डल चक्र (जो वास्तव में पूर्णता का प्रतीक है) भी आदि माता - तत्व का प्रकट रूप माना जा सकता है ।

सात्विक, शुभ और भद्र स्वरूप को द्योतित करनेवाले इन प्रतीकों के अतिरिक्त माता के अशुभ रूप को प्रकट करनेवाले प्रतीक भी होते हैं । जादूगरनी (enchantress), बीभत्स रूप या लिसलिसेवाला जीव (जैसे बड़ी मछली, सर्प आदि), मरघट, गहरा पानी, मृत्यु इत्यादि माता के आतंककारी चेहरे से उत्पन्न प्रतीक है ।

मातृबिम्ब की विशेषताओं में उसकी सहज सहानुभूति, और अभयदान (शरण) सर्वप्रथम ठहरती है । नारी का आश्चर्यकारी जादुई प्रभुत्व, लक्षीतिशायी आत्मसौम्यत्व, और ज्ञान, सब प्रकार की प्रयोजनकारी और सहायक प्रेरणाएँ, सभी हितकारी बातें, उर्वरता और वृद्धि के पोषक तत्व - सब माता से सम्बद्ध है । अद्भुत रूपान्तरण और पुनर्जन्म के जगत (the place of magic transformation and rebirth) सम्पूर्ण अधोलोक और उसके सारे निवासी महामातृ सत्ता से प्रेरित और नियन्त्रित है ।

---

1. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 81

2. Ibid. P. 81

जो दुख भेदभरी थी, गुप्त और अन्धकारपूर्ण थी, जो ग्रसित करनेवाली, पथभ्रष्ट करनेवाली विनाश करनेवाली और डरानेवाली थी, उन सब में माता के आतंककारी पक्ष का विलास ही परिलक्षित होता है। नरक और मृतकों की दुनियाँ (प्रेतलोक) भी आदिमाता के विपरीत पक्ष को अनावृत करती है।

मातृसत्ता के इस दूसरे रूप का प्रकाशन प्राचीन भारतीय और पाश्चात्य साहित्य एवं दर्शन में उपलब्ध है। 'धर्थिन मेरी' में इस द्विमुखी व्यक्तित्ववाली आदिमाता का पूर्ण और ऐतिहासिक रूप संप्राप्त होता है। 'कन्या मेरी' प्रभु की शान्ति प्रदायिनी माता मात्र नहीं है, प्रत्युत उसका अपर पक्ष - आतंककारी (terrible) एवं दुःखद कष्ट दायक क्रॉस (cross) में प्रतीकित होता है।[1] भारत में सांख्य - दर्शन में अव्यक्त प्रकृति का जो रूप निरूपित हुआ है वह सत्व, रज और तम - इन तीनों गुणों से युक्त है। प्रकृति का यह त्रिगुणात्मक रूप मातृबिम्ब के ही तीन मुख्य पक्षों को व्यंजित करता है - रक्षक व पोषक (सत्व), आवेगपूर्ण और विकास मूलक (रज), और नाटकीय तमोगुण गुणों से युक्त (तम)। भारतीय - संस्कृति में उपलब्ध काली-संकल्प में महामातृ सत्ता के प्रेममयी और आतंककारी पक्षों का अपूर्व संयोग मिलता है।

वैयक्तिक जीवन में पार्थिव माता की प्रमुखता के कारण व्यक्ति के मन में पौराणिक कथाओं और लोकगीतों में पाई जानेवाली सार्वजनीनता मातृरूप में परिलक्षित है, लेकिन यह बात मातृबिम्ब की महिमा को अक्षुण्ण नहीं कर सकती। कारण कि बच्चों की मातृसम्बन्धी धारणाएँ पूर्णतः व्यक्ति - माता के आदर्श पर ही रूप लेनेवाली नहीं है। व्यक्ति - माता का प्रभाव इस पक्ष में अधिक है। अतः मातृसम्बन्धी धारणाओं का मूल व्यक्ति माता है परंतु बच्चे के मन की अगाधता में निहित रहनेवाले चिरन्तन आदर्श -

---

1. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 82.

चित्र 6

काली : आतंककारी और प्रेममयी माता का अपूर्व संयोग :
मातृबिम्ब का भारतीय प्रतीक

(See. Archetypes and the Collective Unconscious by C.G. Jung, P. 82)

स्वरूप प्राग्बिम्बों में ढूंढना चाहिए । साहित्य या कला में चित्रित माता का (मातृ - सत्ता - का) जो प्रभाव बच्चे की मातृ - धारणा के गठन पर पड़ता है, वह इस कारण, जैसे युंग कहते हैं, मात्र व्यक्ति माता से उत्पन्न नहीं है, अपितु अधिकांशतः बच्चे के अवचेतन में स्थित महामातृबिम्ब के अभिक्षेप का परिणाम है ।

मातृबिम्ब अन्य सभी बिम्बों से उत्कृष्ट है । वह मानव चित्त की सर्वाधिक प्रबल स्त्रैण सत्ता का महत्वीकृत रूप है । वह सब की आद्य मातृका है, मन का सर्वप्रथम सक्रिय होनेवाला आद्यबिम्ब है । इस पूर्वनिश्चित ढांचे में ही सभी संज्ञाओं का आधान किया जाता है । इस आद्य माता का प्रकाश दिनकर में असीम नारी के रूप में हुआ है -

" नारी के भीतर जो एक और नारी है
सीचा है, उनकी रक्षा पुरुषों में कौन करेगा ?
वह जो केवल पुरुष नहीं है, किंचित अधिक पुरुष से"[1] ।

'कामयनी' की श्रद्धा में भी आद्यमाता का प्रकाशन द्रष्टव्य है ।

पितृबिम्ब (Father-imago)

नारियों के भीतर रहनेवाली 'और नारी' की रक्षा करनेवाले 'अधिक - पुरुष' पितृबिम्ब की ओर संकेत करता है । मानव में व्यक्ति विकास के साथ यत्न-पूर्वक दमित हो जाने से सब से सशक्त रूप में अभिक्षिप्त होनेवाली (projected) अगम्यगमन विषयक भ्रामक कल्पनाएँ (incest fantasies) ही

---

1. दिनकर : उर्वशी, पृ. 150.

पितृबिम्ब प्रेरित मानी जाती थी। लेकिन मनोविज्ञान के विकास के साथ यह भी सिद्ध हुआ कि उन भ्रामक कल्पनाओं के अतिरिक्त, मानव के धार्मिक विचार भी उस मूल पितृवि के विस्तार का परिणाम है। यौन - वृत्ति के ही समान धार्मिक (आध्यात्मिक) चेतना भी मनुष्य की बलवती अन्तः प्रेरणा है। इसका प्रभाव व्यक्ति या समाज के व्यक्तित्व में - अस्तित्व में - किसी न किसी रूप में सदैव सक्रिय रहती है। युंग कहते हैं कि धर्मों के विकास के इतिहास में उपलब्ध ईश्वर सम्बन्धी सारी बातें, प्रायः मनुष्य के सामूहिक चित्रण (representation collectives), किसी 'रूप' (तत्व - संहिता) का समर्थन करनेवाली दृष्टि या व्यवहार - पद्धति - इन सब को मैं उसी अन्तर्गत मानता हूँ।"[1] इन में से अन्तिम जो रूप है, वह वर्गगत या जातिगत नाम की धारण करनेवाले धार्मिक सम्प्रदायों का दूसरा नाम मात्र है। कोई चाहे कहे कि उसकी कोई धार्मिक धारणा नहीं है, लेकिन, अगर कोई कहता है कि उसका अपना कोई परम भाव (dominating idea) नहीं है, जिससे वह शासित और परिचालित है, तो वह मानवता से अपना सम्बन्ध बिलकुल विच्छिन्न कर लेता है। मानव का भौतिकवाद, नास्तिकवाद, साम्यवाद, समाजवाद, स्वतंत्रतावाद, बुद्धिवाद, अस्तित्ववाद, क्यों गिनें, सब उसकी इस मुग्ध - सारल्य (innocence) को निर्मूल सिद्ध करते हैं। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में किसी न किसी प्रकार कहीं न कहीं वह किसी उच्चतर (महान) - supra-ordinate - तत्व या विचार से अभिभूत ही रहता है।

इसप्रकार यह विदित होता है कि किसी न किसी प्रकार का केन्द्र - भाव मनुष्य की धार्मिक चेतना को परिचालित करता है। उसके प्रभाव से मुक्त होना किसी के भी वश की बात नहीं। यह अनिवार्य नहीं कि वह ईश्वर पर केन्द्रित हो, बल्कि किसी

---

1. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 61-62

समान तत्व से सम्बन्धित होकर उसके जीवन व्यापार के एक प्रमुख और प्रबल पक्ष की - धुव विशेष चेतनिक गतिविधियों को नियंत्रित करता है ।

आस्तिकों में केन्द्र भाव ईश्वर का रूप लेता है । नास्तिकों कोलिए यह तत्व कोई प्रबल तत्व या सिद्धान्त ठहरता है । अतः यह अनिवार्य केन्द्रभाव (या उपरितत्व अथवा सामूहिक चित्रण) मूल पितृबिम्ब से प्रेरित सिद्ध होता है । उस आदिपिता का प्रतीकात्मक संसारण ही अथवा उसका स्थानान्तरण ही ऐसे नाना प्रकार के ईश्वरादि केन्द्रस्थ भावों में उपलब्ध होता है ।

अगर मातृसत्ता ममता का मूल तत्व है तो मानव की सनाथता की ताकत प्रदान करनेवाला तत्व पितृसत्ता है । मातृबिम्ब कई प्रकार से व्यक्त होकर प्रकृति के साथ मनुष्य का सम्बन्ध बाह्य और आभ्यंतर दोनों पक्षों में अभिव्यक्त करता है । वह ममता के स्निग्ध और सशक्त सूत्रों से उसे बाँधकर अकेलेपन से मुक्त और अनाथित रखता है । पितृबिम्ब तो सनाथता की ताकत से उसे शक्तिशाली, वीर, उत्साही और शासित रखता है ।

विश्वास की दृढ़ता जीवन की शक्ति है । वह मानव की सहज प्रेरणा है, सहज प्रवृत्ति है । अपने आन्तरिक सामूहिक चित्रपट (representation collectives) से रहित मनुष्य इस कारण असहाय प्रतिभास ही रहेगा । वही मानवता की निशान है । अचेतनगत पितृबिम्ब अन्य प्रागबिम्बों के समान ऊर्जा केन्द्र होने के कारण व्यक्ति के जाने - अनजाने वह क्रियारत होता ही रहेगा । मानव के आदिम मन की इस सार्वलौकिक वस्तु की उपेक्षा मानसिक विपन्नता का लक्षण है । अतः अध्यात्म का सामान्य रूप से परिदृश्यन ही व्यक्तियों में आस्तिकता, नास्तिकता, किसी तत्व विशेष में दृढ़ विश्वास के रूप में देखने को मिलता है ।

प्रौढ़ विवेकी - बिम्ब (Archetype of Wise old man)

प्रौढ़विवेकी अथवा वृद्ध ज्ञानी का बिम्ब मानव की अन्तश्चेतनागत दार्शनिक दृष्टि का परिचायक है। मूलतः यह पितृबिम्ब से सम्बन्धित है। पितृसत्ता के एक पहलू के रूप में इसे देख सकते हैं। पितृबिम्ब ईश्वर या किसी अन्य सत्य के रूप में मानव के अन्तर्स्थित सर्वातिशायी सामूहिक चित्र को प्रस्तुत करता है जिससे वह परिचालित है। प्रौढ़ विवेकी मानवीय पुरुष के रूप में आध्यात्मिक सत्ता को प्रदर्शित करता है। यह एक ओर गुरु का तेवर अपनाता है तो दूसरी ओर अर्थान्वेषी का। इसप्रकार प्रौढ़ विवेकी मानव के ज्ञान के पीछे प्रवृत्त रहता है। ज्ञान के दोनों पक्षों का - अन्वेषण और उद्बोधन - यह प्रतिनिधित्व करता है। अतः इसके दो रूप हैं : गुरु और अन्वेषी। पैगम्बर - सदृश प्रकृति, मसीहाई मुद्रा, बड़ी बड़ी बातें बोलने का स्वभाव, तत्वोद्बोधन आदि में प्रौढ़ विवेकी बिम्ब का स्वरूप ही होता है। इसके प्रतीकों में जादूगर, कर्मोपदेशक, वृद्ध, ज्ञानी, सन्त, नेता, शासक आदि पितृस्थानीय प्रतीक ठहराते हैं और बुढ़िया, मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर, जलाशय, आदि मातृस्थानीय भी।

जीवन और जगत की व्याख्या लिए मानव को समर्थ बनानेवाली शक्ति का मूल स्रोत उसमें निहित यह अर्थान्वेषी (Archetype of meaning) ही है। हम प्रपंच की अपनी अपनी व्याख्या करते जाते हैं और ये व्याख्याएँ और अर्थ-प्रतिभास ही संसार को गतिमय करती हैं। लेकिन युंग पूछते हैं, " हम कैसे जगत को अन्वयित करते हैं ? अन्तर्योगवा किस स्रोत से हम यह अर्थ निकालते हैं ?[1] " इसका उत्तर कालातिशायी प्राक्तन बिम्ब जगत में ही ढूँढा जा सकता है, क्यों कि आधुनिक मनुष्य की प्रपंच - व्याख्याओं में भी अनिवार्यतः उसी बिम्ब जगत के प्राचीन बिम्बों, प्रतीकों और

---

1. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 32

अभिप्रायों (motifs) का उपयोग ही होता रहता है । ये बिम्ब और अभिप्राय प्रायः मनुष्य के निर्वैयक्तिक चित्त में अनजाने ही उद्भावित प्रपंचजात का प्रकट रूप ही है। अतः युंग का कहना है कि अन्तर्यामी प्रौढ - विवेकी बिम्ब के अर्थविधी पक्ष को प्रमाणित करने लिए " यह काफी है कि कोई भी ऐसा महत्वपूर्ण भाव या दृष्टिकोण नहीं है जो अपना ऐतिहासिक पूर्वरूप (प्रागूरूप) नहीं रखता हो । आत्यंतिक स्थिति में ये सब उन प्राचीन प्रागबिम्बीय रूपों पर आधारित हैं जो उस समय से मानव के अन्दर स्थिर रहे हैं जब मानव की चेतनता (consciousness) बौद्धिक चिंतन नहीं करती थी, केवल ग्रहण (perceived) ही करती थी ।"[1] ऐसी स्थिति में विचार या भाव बौद्धिक प्रक्रिया का परिणाम न होकर अन्तर्दर्शन की चीजें (objects of inner perception) रह जाते हैं । अतः भाव तत्वतः मौलिक रूप में हमारे अन्दर स्वयं उन्मीलित होनेवाले हैं (revelation), न कि हमारे बौद्धिक चिंतन से बोधपूर्वक आविष्कृत ।

इसप्रकार भावोन्मीलन के सहज आन्तरिक व्यापार के प्रेरक तत्व अथवा जीवन व जगत के पीछे के अर्थ अर्थात् किसी भी महत्वपूर्ण भाव की जीव की ओर मानव को प्रवृत्त करनेवाली शक्ति यही प्रागबिम्बीय सत्ता है, अर्थात् प्रौढ विवेकी - बिम्ब ही है। निहितार्थ दृष्टिकोण इस पक्ष को युंग archetype of spirit कहते हैं ।

यह जीवन की अव्यवस्था के नीचे छिपे रहनेवाले देशकाल - निरपेक्ष अर्थ को प्रतीकित करता है । स्त्रैण सत्ता के समान यह भी मानवान्तर्भूत चिरन्तन तत्व है जो जीवन के विषम अन्धकार को ज्ञान की शलाका से भेद डालता है । जब एनिमा(enima) जीवन को सरस, ममतापूर्ण तथा जीवितव्य बनाती है, तो प्रौढ़ विवेकी गुरु के समान

---

1. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 33

ज्ञान की किरणों से अज्ञान तिमिर को दूर करके जीवन के गूढ़ार्थ को स्पष्ट कर देता है। अतः वह गुरु है, आचार्य है। उसके प्रभाव से कोई मुक्त नहीं। ईश्वर (supra-ordinate idea or representation collectives) निर्बली नीत्शे (Nietzsche) भी इस गूढ़ार्थ ज्ञानी की पकड़ से बाहर निकल आ नहीं सके हैं। नीत्शे के लिए वह ज़रथुस्त्र (ZARATHUSTRA) में साक्षात्कृत प्रतीत होता है[1]। जब कभी जीवन अनाथ और आधारहीन होकर पतनोन्मुखी अवस्था में पहुँच जाता है, अन्धकार के आतंक से भर जाता है, तो अर्धचेतना का यह मूल प्रोत तुरत जाग्रत होकर उसकी रक्षा के लिए अवतरित होता है। नीत्शे की " ज़रथुस्त्र ! ज़रथुस्त्र[2] ! " पुकार में सर्वनाश और पशुता के आतंक से त्रस्त व्यक्ति की निस्तार की अभिलाषा ही मुखर उठती है।

छायाबिम्ब (Archetype of shadow)

व्यक्तित्व के नकारात्मक कायामय (dark and negative aspect) पक्ष को छाया बिम्ब प्रकट करता है। यह व्यक्ति अथवा जाति का अपर रूप या विरोधी तत्वों का पक्ष है। अतः व्यक्तित्व का जीवन्त अंश है, और उसका सहजीव है। वह उसका (व्यक्ति का) शत्रु पक्ष भी क्यों कि वह हमेशा व्यक्ति को ललकारता है। उसकी अपनी दुर्बलता, विवशता, नालायकी (प्रभावहीनता) की याद दिलाता रहता है। ऐसी विवशता में व्यक्ति अपने प्रति ईमानदार रहता है और अपना यथार्थ समझ लेता है। सभ्यता की स्थिति में सामूहिक अचेतन की सहजावजीव मूलक सहायक व्यापारों की ओर व्यक्ति का ध्यान अनजाने ही जाता है। वही रूप लेनेवाले स्वप्नों में निषेधात्मक भाव की ताड़ लेने से, चित्त के अन्तस्तल में सुप्त रहनेवाली सहायक शक्तियाँ

---

1. Friedrich Nietzsche: Thus Spake Zarathustra P.

2. Ibid. P.

जाग पड़ती है और व्यक्ति की रक्षा के लिए पहुँच जाती है । ऐसी दुर्बलता के आत्म-बोध से ग्रस्त व्यक्ति के द्वारा अपनी सहायक अन्तः शक्ति का आमंत्रण ही प्रार्थना में परिलक्षित होता है ।

इसप्रकार छाया व्यक्ति को अपने असली रूप में प्रवेश पाने का संकरा मार्ग है । छाया के द्वारा जहाँ वह प्रविष्ट होता है वह तमोमय है । वह हमारे सामने अचेतन की गहराई का द्वार खोल देती है । छाया के इस संकरे मार्ग से गुजरना दुष्कर और दर्दनाक है, फिर भी वह व्यक्ति को अपने बारे में - अपनी सिद्धियों और सीमाओं के बारे में - अभिज्ञ करा देती है । यह ज्ञान प्रत्येक आत्मान्वेषी के लिए अनिवार्य है जो अपने सच्चे रूप को समझ लेना चाहता है । यही कार्य छाया करती है । यह इसलिए कि छाया के आगे की अचेतन की मूल द्रव्यराशि व्यासहीन खुलेपन और अन्त-हीन गहराई की है । उस ओर दृष्टि डालनेवाला व्यक्ति पहले पहल अपनी छाया ही देखता है, उसके बाद ही, उसके आगे ही उस जल में वर्तमान अन्य तत्वों की ओर दृष्टि जाती है । अतः अचेतन के मूल द्रव में व्यक्ति अपने में निहित ऊपर का अनुभव भी करता है ।[1] अचेतन की अनिश्चितता अथवा आदिमूलस्थिति निश्चितता की कौन - सी दिशा ले लेगी, कहा नहीं जा सकता । कारण कि वह स्वयं चालित है । बौधगम्यता के नियंत्रण के बाहर है । वहाँ व्यक्ति की स्थिति विपरीत है । वह वस्तु (object) में परिणत होता है । व्यक्ति (subject) का ध्यान जगत ले लेता है । जगत

---

1. 'Whoever looks into the mirror of the water will see first of all his own face ..... the meeting with ourselves belongs to the more unpleasant things than can be avoided so long as we can project everything negative into the environment ..... It is the world of water, where all life floats in suspension ..... where I experience the other in myself and the other-than-myself experiences me' - C.G. Jung: Archetypes and the Collective Unconscious. P. 20-22

(अचेतन जगत) ही कर्ता बनता है। व्यक्ति लुप्त प्राय या " अपने में विनष्ट " (lost in myself) हो जाता है। अर्थात् वह अचेतन जगत की शक्तियों के हाथ की वस्तु बनता है।

अचेतन की विपरीत शक्तियों का साक्षात्कार - व्यक्ति के अन्तर्भूत अपर तम का प्रकाशन - व्यक्ति केलिए ही नहीं, दुनिया केलिए भी खतरनाक है। अचेतन की उद्वेलित तरंगों के आघात से चेतन के भग्न होने की संभावना बनी रहती है। उसप्रका र भग्न होने से, व्यक्ति अपने व्यक्ति - बोध से विगलित होकर अचेतनस्थित नैतिक पशु की प्रेरणा में पड़कर क्या क्या नहीं कर डालेगा[1] ? व्यवस्था का खण्डन करेगा, आवेगपूर्ण भावोद्वेलन का वह वशीभूत हो जाएगा। अतः काया के द्वार का खुल जाना व्यक्ति के लिए खतरनाक है। व्यक्ति के सामने, कमियों और त्रुटियों से पूर्ण अपने आतंककारी चेहरे का उद्घाटन व्यक्ति के मन को धक्का लगा देता है, और समाज पर भी उसका बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है।[2]

अचेतन के इस खतरे से मुक्ति और बोधवत्ता की अक्षुण्णता ही धार्मिक अनुष्ठानों और विश्वासों के मूल उद्देश्य है। प्रेतात्माओं का उच्चाटन, मनौती मानने की प्रथा, सब इसप्रकार के कार्य है। चर्चों (churches) की स्थापना के पीछे भी नैतिक सत्ताओं का दुष्कृत्य की प्रवृत्ति लक्षित है।[3] वह ऐसे रोकथामों (barriers) का प्रतीक है। इन प्रतीकों का नष्ट होना अन्तर्वैयक्तिगत सामान्य अपर पशु को व्यक्ति और समाज में उन्मुक्त होने देता है। वह, न जाने, कितनी ही दुर्घटनाओं को जन्म न देगा। युंग के ही शब्दों में - " निंदा पड़ेगी, बोधवत्ता का सूरज ढल जाएगा, और

---

1. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 22
2. Ibid. P. 22
3. Ibid. P. 22

अचेतन का काला सागर उमड़ पड़ेगा ।"

मानव का यह तमोमय पक्ष कलाकारों की रचनाओं में कई प्रकार से प्रतीकित एवं प्रकाशित मिलता है । शेक्सपीयर का " कैलिबन", एटीवनसन का 'हाइड' मिल्टन का 'शैतान', 'फौस्ट' नाटक का 'मैफिस्टो-फिलिस' आदि चरित्र छाया बिम्ब के प्रतीकात्मक अभिव्यंजन हैं । प्रसाद की 'कामायनी' में श्रद्धा के साथ मनु अपनी छाया से प्रेरित होकर दुर्व्यवहार करता है । आधुनिक कवियों में छाया बिम्ब नाना प्रकार के प्रतीकों में संश्लिष्ट होकर सामने आता है । पौराणिक प्रतीक चरित्रों के शैलीगत के साथ पुनराविष्कार में भी यही बिम्बकुशिरत होता है । बौना, लघुमानव, वानर, मक्खी, सर्प आदि इस बिम्ब के प्रागबिम्बीय प्रतीकों के अन्तर्गत आते हैं ।[1] अक्षय विद्रूप, लघु-मानव के गुण - गान, छुई मोन बिम्ब - प्रतीक - प्रयोग, आदिमता आदि में भी छाया की प्रेरणा सक्रिय है । इस छाया बिम्ब का चित्रण धर्मवीर भारती की 'अंधा युग' कविता में प्राप्त है ।

" हम सब के कहीं एक अन्ध गह्वर है
जहाँ पशु अन्धा पशु वास वहीं करता है ।
स्वामी हमारे विवेक का
नैतिकता, मर्यादा, अनुशासित, वृत्तायर्ण
यह सब है अंधी प्रवृत्तियों की पीठाधि ।"[2]

इस बिम्ब के विभिन्न रूप निराला, अज्ञेय, मुक्तिबोध, भारत भूषण अग्रवाल आदि अन्य आधुनिक कवियों में भी पाए जाते हैं ।

---

1. शिवनन्दन प्रसाद : बिम्बविधान और आधुनिक हिन्दी कविता (भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर, प्रथम संस्करण, 1974) पृ.504.
2. धर्मवीर भारती : अन्धायुग : ('अंधा युग' काव्य संग्रह देखिए)

व्यक्तित्वाभासी बिम्ब (Archetype of persona)

अहं से सम्बद्ध है इसका धर्म । बाह्य जगत या समाज के साथ अपने सम्बन्ध को विशिष्ट (विशेषीकृत - साधारणेतर) रखने वैसिए व्यक्ति के अहं से स्वीकृत व्यवहार - व्यवस्था में यह परिलक्षित है । इसे 'अहंता' नाम से भी अभिहित किया जा सकता है । यह एक प्रकार का मुखौटा है । उसके पीछे असली मुख छिपा रहता है। आदर्श, कर्तव्य - निष्ठा आदि ऐसे मुख पर हैं जिनको पहनकर वह समाज के सामने आता है । वह लगातार परिश्रम करता रहता है कि उस मुखौटे के साथ उसके असली रूप का तादात्म्य हो जाय । वीरता, उत्सर्ग, दाक्षिण्य आदि से सम्बन्धित भावनाओं और व्यवहारों में यह प्रतिबिम्ब प्रतीकित होता है । पंत की वेदना ऐसे मुखौटे का दृष्टान्त है । निराला की वीरता, महादेवी की उत्सर्ग मूलक भावना आदि भी इस मूल बिम्ब की सूक्ष्म और स्थूल व्यंजनाएँ हैं । दायित्वों में लक्षित रहस्यवादिता एक हद तक व्यक्तित्वाभासी बिम्ब से प्रेरित है । आत्मगोपन - वृत्ति, मृत्यु - कामना और आदर्श प्रेम की ओर उन्मुखता में यह बिम्ब प्रकाशित होता है । भारत भूषण अग्रवाल की " ओ अप्रस्तुत मन" नामक कविता की ये पंक्तियाँ कवि के व्यक्तित्वाभासी चेहरे को व्यक्त करती है -

" यह नहीं होगा कि मेरा प्यार मुरझा जाय
यह नहीं होगा कि मेरा व्यक्ति ही खो जाय
और यह भी तो नहीं हो पाएगा संभव
पराग सिमटे और सिमट कर केन्द्र में सो जाय ।"[1]

---

1. भारत भूषण : ओ अप्रस्तुत मन

आत्म बिम्ब (Archetype of self)

यह बिम्ब मनीषा की पूर्णता का परिचायक है । नाना प्रकार के प्रतीकों के द्वारा विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों, अनुष्ठान - पद्धतियों, और मिथकों में प्रतीयित होकर यह सामने आता है । स्वस्तिक, चक्र, सूर्य, पद्म, युरोबोरस (अपनी पूंछ काटनेवाला सांप), शून्य आकाश, विराट समुद्र, आदि पूर्ण वृत्त में रहनेवाली अवयव मण्डलाकार की चीजें आत्मा के प्रतीक हैं ।[1] मण्डल - प्रतीक का पूर्णता - तत्व इस आत्म बिम्ब से सम्बन्धित है । यह सर्वोत्तम संश्लेष का उच्चतम प्रतीक है । इस बिम्ब का प्रकाशन कला - साहित्यादि में नाना प्रकार से देखने को मिलता है यथा -

" पत्तों पंखुरियां सम्मीलित
नूतन नैतिकता का सहस्रदल खिलता है
मानव व्यक्तित्व सरोवर में । "[2]

" काला सहस्रदल सम्मुख उपस्थित है
उसमें है कृष्णा रक्त ।
गीला सगाऊं और
नाभि नाल रेखा की समानान्तर राह से
नीचे जल धरती तक पहुंचूं तो
संभव है सागर का मूल सत्य
मुझे मिल जाएगा । "[3]

---

1. C.G. Jung: Psychology and Religion. P.65-83
2. मुक्ति बोध : एक अन्तर्यात्रा (चाँद का मुँह टेढ़ा है; भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, दूसरा संस्करण, 1968, पृ० 116 - 124)
3. वही

चित्र – 7

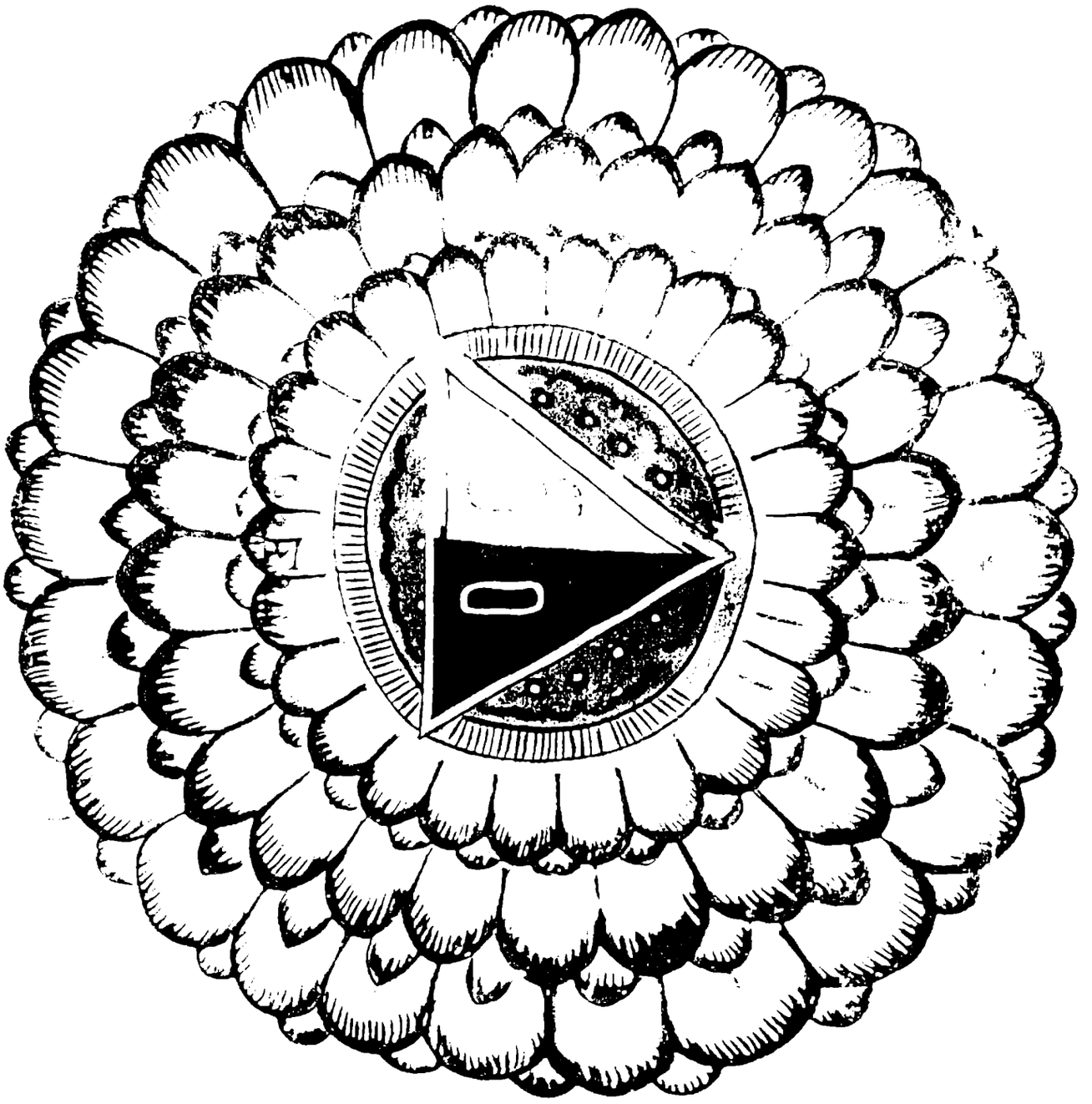

(निश्चिन्तता, पूर्णता, एवं ऐश्वर्य के प्रतीक कमल का मंडल प्रतीकों में महत्वपूर्ण स्थान है (दे॰ Heinrich Zimmer: The Art of Indian Asia) हठयोग का सहस्रार चक्र यहाँ स्मर्तव्य है।)

इनके अलावा, मानव की अन्तरात्मा में सहज ही वर्तमान आनन्दपिपासा, और ऐश्वर्य के भावों में प्रतीकित होनेवाला ईश्वरत्व (Archetype of God) दिव्ययुगल का बिम्ब (Archetype of devine pair), रूपान्तरण बिम्ब (archetype of trahsformation) चिड़िया बिम्ब(archetype of bird) आदि अनेक छोटे - मोटे प्रागबिम्बों का उल्लेख भी मिलता है । वास्तव में ये सब पूर्वचर्चित प्रमुख बिम्बों में से किसी के विस्तार के रूप में सामने आते हैं, जैसे दिव्य युगल का सम्बन्ध स्त्रीमा से और ईश्वरत्व का पितृबिम्ब और आत्म बिम्ब से रहता है ।

व्यक्ति के अचेतन मानसिक व्यापार को नियंत्रित करनेवाले प्रागबिम्बों का प्रकाशन कविता में बराबर होता रहता है । अतः कवि की अन्तरचेतना से कविता का सम्बन्ध स्वयंसिद्ध है । हमने पहले ही देखा कि दुनियाँ की विभिन्न जातियों के बीच प्रचलित मिथकों में भी इन अन्तरचेतनागत प्रागबिम्बों का साक्षात्कार ही अविरल रूप में सम्पन्न होता है । तब कविता की प्रागबिम्बीयता उसकी मिथकीय स्वभाव का समर्थन करती है और कला और मिथक की मूलभूत स्वायत्तता के निदर्शन के रूप में प्रागबिम्बी प्रतीकों को हम ले भी सकते हैं । भाव और भाषा की तादात्म्य - स्थिति जिस मिथ चित्तावस्था में संप्राप्त होती है उसे पुनरुद्भावन करने की क्षमता ये प्रागबिम्ब ही उसको प्रदान करते हैं । अतः प्रागबिम्ब कविता के प्राणभूत तत्व ठहरते हैं, उसकी सार्थ और सार्वभौम महत्व के आधार बनते हैं ।

पाँचवाँ अध्याय

मिश्रक

पाँचवाँ अध्याय

मिथक (MYTHS)

आधुनिक मनोविज्ञान के विकास के पहले तक मिथक को किसी ने भी गंभीर अध्ययन का विषय नहीं बनाया था । वह पूर्वजों की भ्रामक कल्पना से प्रेरित अयथार्थ और अतिरंजित कहानी के रूप में उपेक्षित रहता था ।[1] मनोरोग ग्रस्त व्यक्तियों के विकृत मानसिक व्यापार और मिथक में विवेचनापूर्ण दृष्टि रखने की आवश्यकता किसी को भी महसूस नहीं हुई । वैयक्तिक प्रसूत मनुष्य की ऐसी विचित्र कल्पनाओं का क्या महत्व हो सकता है ? यही मिथक के सम्बन्ध में सामान्य धारणा थी ।[2] इसलिए उसको जीवन के सन्दर्भों में रखकर आंकने की ओर किसी का ध्यान नहीं गया ।

मिथक झूठी कल्पना नहीं है, वह मानव की मूलभूत एकता का प्रमाण है ।

लेकिन ये प्राचीन विचित्र कल्पनाएँ विभिन्न जन समुदायों में समान रूप से प्रभूत मात्रा में उपलब्ध है ।[3] अगर ये कल्प मनस की मानसिक उपज है और निर्मूल भ्रामक कल्पनाएँ हैं, तो दुनिया भर की जनताओं के बीच में इनकी व्यापकता और कालातिवर्तिता का रहस्य क्या है ? यही नहीं, इनकी विषय - वस्तु (motif) की

---

1. Mercea Elide : Myth and Reality P. 2
2. Ibid. P. 2
3. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 7-8

आवृत्ति मनोरोगियों के कुछ विशेष प्रकार के स्वप्नों और आध्यात्मिक साधकों के अलौकिक दर्शनों (visions) में परिलक्षित होती है ।[1] ये सब मिथक सम्बन्धी उपर्युक्त धारणाओं की गलत सिद्ध करके मिथक की अचेतन मानसिक पक्ष से सामान्य व्यापार से सम्बन्धित स्थापित करते हैं । अर्थात्, उसकेलिए कुछ ऐसी सामान्य अचेतन मानसिक अवस्थिति की आवश्यकता है जो व्यक्ति तल के परे सब केलिए समान होती है और जिसकी उपज व्यष्टिगत न होकर समष्टि की होती है । कहने का तात्पर्य है कि मिथक कोरी झूठी कल्पना या निर्मूल मानसिक व्यापार नहीं है । प्रत्युत, वह प्रागनुभवों से नियोजित एवं नियमित होकर अबोधपूर्वक सम्पन्न होनेवाले व्यापार का परिणाम है ।[2] ये अचेतनगत तत्व तो पूर्वनिश्चित हैं, सार्वलौकिक बिम्बमूल हैं, चिरंतन हैं, और निरंतर आवश्यकतानुसार सक्रिय हैं ।[3] इसलिए जब कभी चेतन की पकड़ से अचेतन मुक्त हो जाता है तब ऐसे मिथकीय बिम्बों की आवृत्ति हो जाती है, तो वह बिलकुल स्वाभाविक ही है । ऐसे व्यापारों की प्रधानता प्रागैतिहासिक मनुष्य की चित्तावस्था में रहती है । उस अवस्था में मानव की व्यक्ति सत्ता से बढ़कर सामूहिक सत्ता प्रधान होती थी ।[4] लेकिन सभ्यता की प्रगति के साथ चेतन पक्ष और वस्तुनिष्ठ चिंतन (objective thinking)

---

1. Psychological Types P. 556
   (In all probability the most important mythological motives are common to all times and all races, I have in fact demonstrated a whole series of motives from Gracean mythology in the dreams and phantasies of thorough bred Negroes suffering from mental disorders).

ऐसे विशेष प्रकार के स्वप्नों का विस्तृत विवरण इस में है 'Archetypes and the Collective Unconscious (Collected Works of C.G.Jung, Vol.9, Part I, Routledge and Kegan Paul, London, 8th Edn. के प्रथम अध्याय (Archetypes of the Collective/ unconscious) में प्राप्त होता है ।
See also Long Drums and Cannons: Margueret Lawrence.

2. Psychological Types P. 377

3. They (archetypes) are the ruling powers, the gods, images of the dominant laws and principles and of typical regularly occurring events in the soul's circle of experience - Collected Works of C.G.Jung, Vol.7, P. 93

4. Modern Man in Search of a Soul. P. 166

चित्र – 8

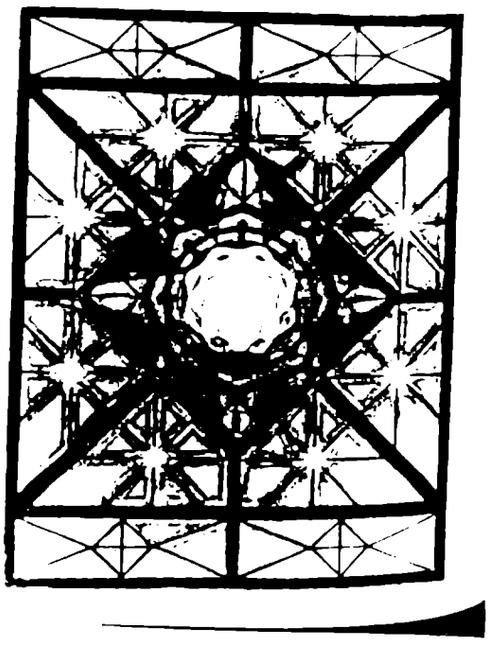

युंग से वार्णित एक
विशेष मण्डला आकृति

(see: 'Memories, Dreams, Reflections' by C.G. Jung. P. 223-224)

का विकास हो गया । परिणाम स्वरूप आधुनिक मनुष्य में दैनिक जीवन के व्यापारों और तत्सम्बन्ध नाना प्रकार के ऐन्द्रिय संवेदनों से भरे चेतन के नीचे अचेतन का यह पक्ष दब गया । ऐसी स्थिति में भी अभिव्यक्ति का आश्रय लेकर वह जड़ावस्था में स्थित है।[1] और जब कभी मुक्तावस्था को प्राप्त करता है तब वह जाग पड़ता है । इसप्रकार मन के गहनतम तल पर आधुनिक मनुष्य और प्रागैतिहासिक नरजीव के बीच का भेद मिट जाता है ।[2] अर्थात् प्रत्येक मनुष्य के अन्दर प्रागैतिहासिक नरजीव का अंश सूक्ष्म रूप में विद्यमान है ।[3] यह तथ्य मानव मात्र की मौलिक आन्तरिक एकता की स्थापना करता है । मिथक तो इस एकता का अभीष्टपूर्ण अभिव्यंजन है ।[4]

मिथक प्रागैतिहासिक मनुष्य का प्रागैतिहासिक चिन्तन का परिणाम है ।

स्पष्ट है कि मिथक कोई झूठी कल्पना नहीं है । प्रत्युत वह मानव राशि के महानतम सत्य का साक्षात्कार[5] है । यह प्रपंच और जीवन के सम्बन्ध में प्रागैतिहासिक मनुष्य के प्रागैतिहासिक चिंतन का सरूप है । प्रागैतिहासिक होने के कारण यह सत्य व्यक्ति के तल पर ही सीमित नहीं रहा, उसे वह समग्र समाज का संचारी करता है ।

आदिम युग के मानव की प्रतीकात्मकता - प्रागैतिहासिक मिथकों में

प्रागैतिहासिक मनुष्य की प्राकृतिक व्यापारों के वस्तुनिष्ठ विश्लेषण की आवश्यकता - अपने अस्तित्व को अलग और तटस्थ रखने की असमर्थता के कारण शायद -

1. Psychological Types. P. 560
2. Modern Man in Search of a Soul. P. 144, 146
3. Ibid. P. 144, 157
4. Psychological Types. P. 556-7
5. Myth and Reality. P. 1

नहीं मालूम पड़ती थी । अतः बाह्य प्रपंच को उसने अपने सामने रखकर नहीं देखा, प्रत्युत उसको अपनी आत्मा का - आन्तरिक जगत का - अटूट अंग बना लिया । भौतिक जगत के व्यापार उसकेलिए भौतिक से बढ़कर उसके मानसिक व्यापार की ही प्रतिबिम्बित करते थे । " प्रागैतिहासिक मनुष्य केलिए सूर्य को उदित और अस्त होते देखना मात्र काफी नहीं था । यह प्राकृतिक दृश्य समान रूप से एक मानसिक व्यापार भी हो जैसे सूरज अपनी गति में एक देवता या वीरनायक के भाग्य को भी सूचित करे ।[1] मिथकीय चिंतन की परम्परा में सभी प्राकृतिक व्यापार एवं वस्तुएँ इसप्रकार कोई न कोई मानसिक व्यापार बनकर उपस्थित होती है । लेकिन यह नहीं समझना चाहिए कि मिथक में उनकी स्थिति रूपक के रूप में है । वस्तुतः वे प्रागैतिहासिक मानव के अचेतनगत आन्तरिक व्यापारों के प्रतीकात्मक अभिव्यंजन है जो अभिक्षेप (projection) के द्वारा ही सुबोध हो सकते है ।[2] सस्यूर के मिथकीय चिंतन के पीछे इसप्रकार का प्रतीकवत्करण परिलक्षित होता है ।[3] मिथक के पीछे प्रवृत्त रहनेवाली चित्तावस्था पर प्रकाश डालते हुए स्नेट - कासियर का कथन है - " बाह्य जगत के व्यापार और पदार्थ अपना वस्तुगत अस्तित्व खो देते है । उसके बदले, वे उसकी ग्रहण शक्ति के अनुरूप फलदायकता या

---

1. The primitive is not content to see the sun rise and set. This external observation must at the same time be psychic event - that is the sun in its course must represent the fate of a God or hero ..... - Anthology of the writings of C.G. Jung. P. 15
2. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 6
   Also Cf. Chapter IV (Archaic Man) of Modern Man in Search of a Soul.
3. 'Upon the primitive level i.e. in the mentality of the primitives, the inner image is easily projected in space as a visual or auditory hallucination without being a pathological phenomenon'(Psychological Types)- P.554

प्रभाविष्णुता के आधार पर उसके आन्तरिक व्यापार के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेते हैं।[1]

मिथकीय चिंतन में आत्मनिष्ठता की प्रबलता

इसप्रकार हम देखते हैं कि प्रागैतिहासिक मनुष्य का प्रपंच - सम्बन्धी ज्ञान कदापि वस्तुनिष्ठ नहीं हो सकता। प्रागैतिहासिक मनुष्य का चिंतन, जैसे पहले कहा गया, प्रागबिम्बीय है।[2] प्रागबिम्ब स्वयं अपने साक्षात्कार के मुहूर्त की ताक में रहते हैं। उसीलिए बाह्य पदार्थों की सत्यता अनुपेक्षणीय है क्योंकि चेतन तक पहुंचते पहुंचते वे अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो बैठते हैं, और चेतन से गृहीत बाहरी तथ्यों का कंचुक पहन लेते हैं। ऐसी अवस्था में रूपान्वित भाव की भौतिक परिस्थिति का वस्तुनिष्ठ स्वभाव नष्ट हो जाता है। अर्थात बाह्य वस्तु पर आन्तरिक अवस्था का रंग चढ़ जाता है। थोड़े में, अचेतन आन्तरिक प्रेरणाओं के नियंत्रित प्रागैतिहासिक चिंतन में वस्तुनिष्ठता से बढ़कर आत्मनिष्ठता (subjectivity) की प्रबलता रहती है।[3] यहाँ प्रत्यक्ष जगत के पदार्थ वस्तुनिष्ठ चिंतन का उपजीव्य न होकर आन्तरिक व्यापार के अभिव्यंजन लिए आवश्यक प्रतीक की बाहरी सामग्री मात्र ठहरते हैं। जब युंग कहते हैं कि प्रकृति के सम्बन्ध में उसका ज्ञान सारांशतः कुछ अचेतन मानसिक व्यापार की भाषा और बाह्य कंचुक मात्र है[4], तब वे प्रागैतिहासिक चिंतन की इस मुख्य विशेषता - आत्मनिष्ठता - की ओर ही

---

1. 'The world of mythical ideas, precisely in its first and most immediate forms, appears closely bound up with the world of efficacy. Here lies the core of the magical world view, which is saturated with this atmosphere of efficacy, which is indeed nothing more than a translation and transposition of the world of subjective emotions and drives into a sensuous objective existence' - Ernst Cassirer - Philosophy of Symbolic forms. P. 157
2. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 6,7
3. Ibid. P. 6
   (Primitive man impresses us so strongly with his subjectivity that we should have really guessed long ago that myths refer to something psychic)
4. 'This knowledge of nature is essentially the language and outer dress of an unconscious psychic process' Ibid. P. 6

G3475

UNIVERSITY LIBRARY ★ COCHIN-22

संकेत करते हैं । इस आत्मनिष्ठता की प्रधानता का परिणाम यह हुआ कि मिथकीय चिंतन में, अर्थात् मिथकों में वस्तु जगत और आन्तरिक अनुभूति - प्रपंच के बीच किसी सीमा-रेखा का नितांत अभाव हो गया । उनकी दुनिया अनुभूति की होती है । उसका चिंतन किसी सुगठित भाव या विचार को गठित नहीं करता है । इसलिए वस्तुमुखी दृष्टि से देखा जाय तो यह चिंतन मूल्यहीन है । लेकिन यह वस्तुनिष्ठता की उपज तो नहीं है, आत्मनिष्ठता का परिणाम है । अतः मिथकों का अंकन आत्मनिष्ठता की दृष्टि से ही किया जाय, जिसमें मानसिक जीवन की प्रधानता रहती है । मिथकीय चिंतन का महत्व तब बढ़ता दिखाई पड़ेगा । अर्थात् मिथकों का मनोवैज्ञानिक मूल्य ऊँचा ठहरेगा । कारण कि ये प्रत्यक्ष जगत की वस्तुओं के भौतिक महत्व को गौण बना देते हैं और उनकेलिए कारणभूत आन्तरिक प्रेरणाएँ व्यक्ति के चरित्र-गठन में भौतिक परिस्थितियों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली सिद्ध होती है ।

मिथक और प्रकृत धार्मिक भावना : प्राकृतिक पदार्थों की चेतना

प्रकृत मनुष्य की इस आत्मनिष्ठता के सबसे प्रकट रूप उसकी धार्मिक भावनाओं में देखने को मिलते हैं ।[1] उसे बाह्य जगत के नाना प्रकार के जड़ और चेतन पदार्थ केवल पदार्थ मात्र नहीं होते हैं । उसके सामने वे असीम शक्ति से समुपेत होकर उपस्थित आत्मवन्त सत्ताएँ दिखाई पड़ते हैं । वस्तुतः प्राकृतिक वस्तुओं की ऐसी धारणा के पीछे प्रकृत मनुष्य के मन की प्रापंचिक परिस्थितिजन्य आशाओं और आकुलताओं का अबोध-पूर्वक अभिक्षेप (projection) ही सक्रिय रहता है ।[2] उसने प्रकृति में अपने

1. 'What is true of primitive lore is true in even higher degree of ruling world religions' - Archetypes and the Collective Unconscious. P. 7

2. Ibid. P. 7

अनुरूप एक चित्तावस्था (mentality) और चिच्छक्ति (will) के अभिप्रेरण को अपनाया । अर्थात् उसने जल, वायु, पशु - पक्षी, पेड़ - पौधे - सभी जड़ और चेतन पदार्थों में ऐसी एक चित्तावस्था और चिच्छक्ति को अनुभव किया जो उन पदार्थों के प्रबल प्रभाव से उसमें गठित मानसिक स्थिति के अनुरूप होती थी । कहने की आवश्यकता नहीं ये पदार्थ " मधुर सौम्य और दीप्त " आदि अपने नाना रूपों से उसे कभी आनन्दित करते थे, कभी भयभीत रखते थे, और कभी अद्भुत - रिरंसामित रखते थे । ऐसी परिस्थिति के साथ अपने अनिवार्य सम्बन्ध के ऐश्वर्य ने , उसकी आकुलता ने उन्हें संप्रीत रखने को प्रेरित किया । ऐसी स्थिति में, जैसे कासियर कहते हैं, " जो कुछ उसके सामने उपस्थित हुआ, वही उसके लिए देवता ठहरा ।"[1]

भक्ति का उदय : प्रकृति के विरुद्ध चेहरों के साक्षात्कार से प्रेरित

प्राकृतिक पदार्थों पर, इसप्रकार आत्मा या चैतन्य के आरोप ने प्राकृत मनुष्य के अन्दर भक्ति का भाव अंकुरित किया ।[2] अपने अभीष्टदायक के रूप में मूर्त रूप धारण करके उपस्थित ये वस्तुएँ उसकी आँखों के सामने अलौकिक छटा के परिवेश से मण्डित होकर रक्षक और भक्षक दोनों प्रकार से दीख पड़ी तो उनकी उपासना भक्ति - भाव - विभोर

---

1. 'In absolute immediacy the individual phenomenon is deified without the intervention of even the most rudimentary class concept; that one thing which you see before you, that and nothing else is the God' - Philosophy of Symbolic forms. P. 280

2. Michael Bell: Primitivism (Methuen and Co. Ltd., London, 1972). P. 10

प्रकृतम हृदय की सहज प्रेरणा से शुरू हुई ।[1]

जादूगरी का आविष्कार : दुर्देवताओं का उच्चाटन

जीवनदायक प्राकृतिक देवी - देवताओं की उपासना के साथ साथ, अपने अस्तित्व को दुःखमय एवं व्याकुल बनानेवाली विरुद्ध शक्तियों के प्रति भी उसकी सक्रीय चिंतावस्था जाग्रत रहती थी ।[2] बीमारी और महामारी किसी विशेषप्रकार के कीटाणुओं का व्यापार नहीं थी, अपितु वे मनुष्य और अन्य सांसारिक प्राणियों को सताने वैसिर अगोचर (अदृश्य) दुर्देवताओं के द्वारा नियुक्त कुठाराघात थीं । उनका उच्चाटन उपासना के द्वारा नहीं हो सकता था, उसकेलिए उसने जादूगरी (magic) का आविष्कार किया । प्रसिद्ध कलाविद् हर्बर्ट रीड इस जादूगरी से सम्बन्धित करके प्रकृतम मनुष्य में कलात्मक चेतन के प्रस्फुटन को मानते हैं ।[3] साथ ही बीमारियों से मुक्ति वैसिर विरोचनादि और रोगों से सम्बन्धित वस्तुओं की उत्पत्ति आदि का ज्ञान अनिवार्यतः जादूगर वैद्यक को होना चाहिए था क्योंकि ऐसी उत्पत्तियों की आनुश्रुति चिकित्सा का अटूट अंग था । इसप्रकार ज्ञानार्जन का कार्य अपनी उत्पत्ति के ज्ञान से शुरू होना चाहिए था । इसकेलिए व्यक्ति के ज्ञानार्जन कार्य के प्रारंभ में उसे फिर से उत्पत्ति के बिन्दु तक ले जाया जाता था ।[4]

---

1. Primitivism: (Given such a world-view it is natural that primitive man should attempt to come to terms with his environment not through scientific mastery but by appealing to the animistic powers. Elaborate propitiatory observances are to be found, for example, among many primitive peoples) - P. 10
2. Ibid. P. 11
3. Herbert Read: Art and Society, Faber and Faber, London, 4th Edn. 1967. P. 12
4. Most of these medical ritual chants begin by evoking the cosmogony .... (P. 26). 'These drawings (which strangely resemble the Indo-Tibetan mandala) successively reenact the events which took place in mythical times. As hears the cosmogonic myth and then the origin myths recited and contemplates this and paintings the patient is projected out of profane time into the fullness of primordial time, he is carried back to the origin of the world and is thus present at the cosmogony' -Myth and Reality. P. 26

धार्मिक अनुष्ठानों का विकास और संस्कृतियों के प्रारंभ में मिथकों की प्राप्ति

कहने का तात्पर्य है कि प्राकृतिक वस्तुओं पर आत्मा (या चेतना) का आरोप (primitive animism), देवताओं के रूप में उनका ग्रहण और उनके प्रतिनिधित्व का उदय (natural piety) और उनकी उपासना विशिष्ट स्वीकृत अनुष्ठित अनुष्ठान (rituals) - ये सब उपर्युक्त आत्मनिष्ठ प्रवृत्ति चिंता - धारा के व्यापक और वैविध्यपूर्ण अभिव्यंजन ही हैं।[1] इसप्रकार बाह्य प्रपंच के सम्बन्ध में और व्यक्तिगत जीवन के बारे में प्रातन मनुष्य का अपना दर्शन विकसित हुआ। और उसके अनुसार नानाप्रकार के विचार गठित हुए और धार्मिक अनुष्ठान एवं सामाजिक आचार-पद्धति विकसित हुई। ये आचार और विचार जो प्रागैतिहासिक मनुष्य के आत्मानुभूत सत्य और जीवन के आदर्श स्वरूप हैं, मिथकों के रूप में हर संस्कृति के प्रारंभ में प्राप्त होते हैं।[2]

मिथक और संस्कृति

इसप्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य के अवचेतन में निहित रहनेवाले चिरन्तन बिम्बों के द्वारा आत्मा के रहस्यों का उद्घाटन करते हैं मिथक। इसलिए

---

1. Primitivism. P. 11

2. 'In short, myths describe the various and sometimes dramatic break-throughs of the sacred into the world. It is this sudden break-through of the sacred that really 'establishes' the world and makes it what it is today' (P. 6) .... the foremost function of the myth is to reveal the exemplary models for all human rites and all significant human activities - diet or marriage, work or education, art or wisdom' (P. 8) ---- 'These stories are to the natives a statement of primeval, greater and more relevant reality by which the present life, fates and activities of mankind, determined, the knowledge of which supplies man with the motive for ritual and moral actions, as well as with indications as to how to perform them' - B. Malinoviski - Myth in Primitive Psychology - Myth and Reality. P. 19

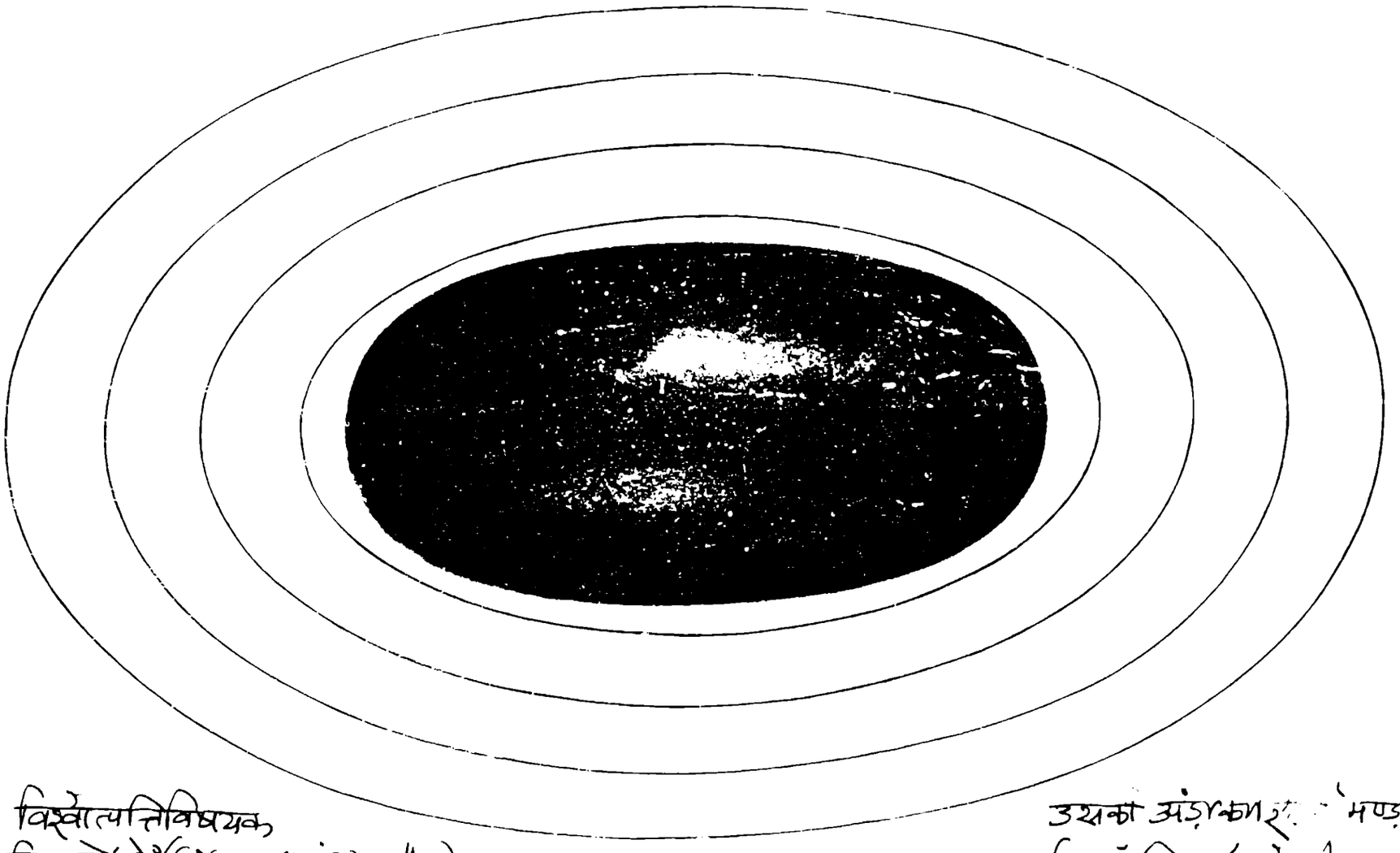

चित्र - 9

ब्रह्माण्ड

विश्वोत्पत्तिविषयक मिथकों में (Cosmogonic myths) 'ब्रह्माण्ड' की कल्पना सार्वलौकिक है (Cosmic egg)
See: Myth and Reality : M. Eliade)

उसका अंडाकार रूप 'मण्डला - सिम्बॉलिज़्म' को ही प्रकट करता है।

मिथकीय ज्ञान प्रस्तुतों केलिए परम ज्ञान है ।[1] यह ज्ञान मानव जीवन के सभी पहलुओं को संभाले करता है । अलौकिक या अनंत सत्ताओं के व्यापारों के रूप में यही ज्ञान विकीर्ण होता है । इसके द्वारा यह परम पवित्र ज्ञानोदय, व्यवहारों के परमादर्श, और दिव्य परम्परा के रूप में प्रत्येक जनता की धार्मिक भावनाओं का प्रारूप और संस्कृति का मूल स्वर स्वं चैतन्य बनकर स्थायित्व पा जाता है । कोई भी जनता अपना व्यक्तित्व ऐसे आन्तरिक आदर्शों पर आधारित आह्य व्यवहारों में प्रदर्शित करती है । इसीके द्वारा अन्य जनसमुदायों से वह अपने को अलग रख लेती है । ये आन्तरिक आदर्श हम मिथकों में प्राप्त कर सकते हैं, कोई भी राष्ट्र या जन - समूह निर्मूल रह नहीं सकता । उसके विकास और प्रगति केलिए ठोस परम्परा की जरूरत है । मिथक इस परम्परा की आवश्यकता को पूर्ण कर देता है ।[2]

ठीक है, मिथक का प्रारंभिक ओज और चैतन्य (spirit) कालान्तर में नष्ट हो गए हैं, खासकर तर्क और वस्तुनिष्ठ चिंतन के बल पर जगत और जीवन की अभिनेवाले बुद्धिवादिता और भौतिकवादिता के इस युग में । फिर भी संस्कृति

---

1. Myth and Reality. P. 113
   (Vide Chapter VIII, Greatness and Decadence of Myths).

2. 'Myths fulfils in primitive culture an indispensable function: it expresses, enhances, and codifies belief, it safeguards and enforces morality, it vouches for the efficiency of ritual and contains practical rules for the guidance of man. Myth is thus a vital ingradient of human civilization, it is not an idle tale, but a hard-worked active force, it is not an intellectual explanation or an artistic imagery but a pragmatic character of primitive faith and moral wisdom' - B. Malinoviski, Myth in Primitive Psychology, reproduced in Myth and Reality. P. 19

के रूप में, मिथक एक - ऐसी रहस्यमयी शक्ति बनकर, उभरकर सामने आता है जो जनता को अपने बारे में सचेत कर देता है और परम्परा से सम्बद्ध रख देता है।[1] मूल्यों के विघटन के वर्तमान युग में धर्म, कला, एवं साहित्य के क्षेत्र में प्रायः सर - जीव और मिथकों की ओर जो अपूर्व उन्मुखता दर्शनीय है, वह इस तथ्य का समर्थन करती है।[2]

मिथकीय पात्र, जैसे सूचित किया गया, अनीम हैं, और उनके व्यापार भी अनैतिहासिक हैं, उनकी सत्यता पर सन्देह करने अथवा उनको प्रश्न भरी दृष्टि से देखने की आवश्यकता ही आदिम मनुष्य को नहीं थी। या कहें, उनके व्यापार मनुष्य के लिए उत्तम जीवन के आदर्श हैं। शतपथ ब्राह्मण में निर्देश किया गया है -" ऐसा करो, क्योंकि प्रारंभ में देवों ने ऐसा किया था।[3] उनका अनुकरण करना मात्र मानव का धर्म था। सब प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों और सामाजिक रूढ़ियों के पीछे यही मानसिक अवस्था देखी जा सकती है। " देवों ने ऐसा किया, अतः मनुष्य भी ऐसा करता है।"[4] प्रवृत्तों के बीच में अब भी यही स्थिति है। उनकेलिए वह केवल आचारात्मक व्यापार मात्र नहीं है। ऐसे अनुष्ठानों में आत्मानुभूत सत्य की आत्म - रति का अनुभव भी है

---

1. अज्ञेय : प्रीत और सेतु - पृ.65
(मिथक एक प्रकार का रहस्यमय शक्ति स्रोत है।... जब भी, जहाँ भी हमारी रियलिटी की पहचान संदिग्ध होती है, तभी वहाँ हम मिथक का सहारा लेते हैं क्योंकि मिथक रियलिटी की पहचान का हमारा सब से पुराना साधन रहा है।)

2. Myth and Reality. P. 73-74

3. शतपथ ब्राह्मण 7, 2, 1, 4.

4. तैत्तरीय ब्राह्मण : 1, 5, 9, 4.

चित्र - 10

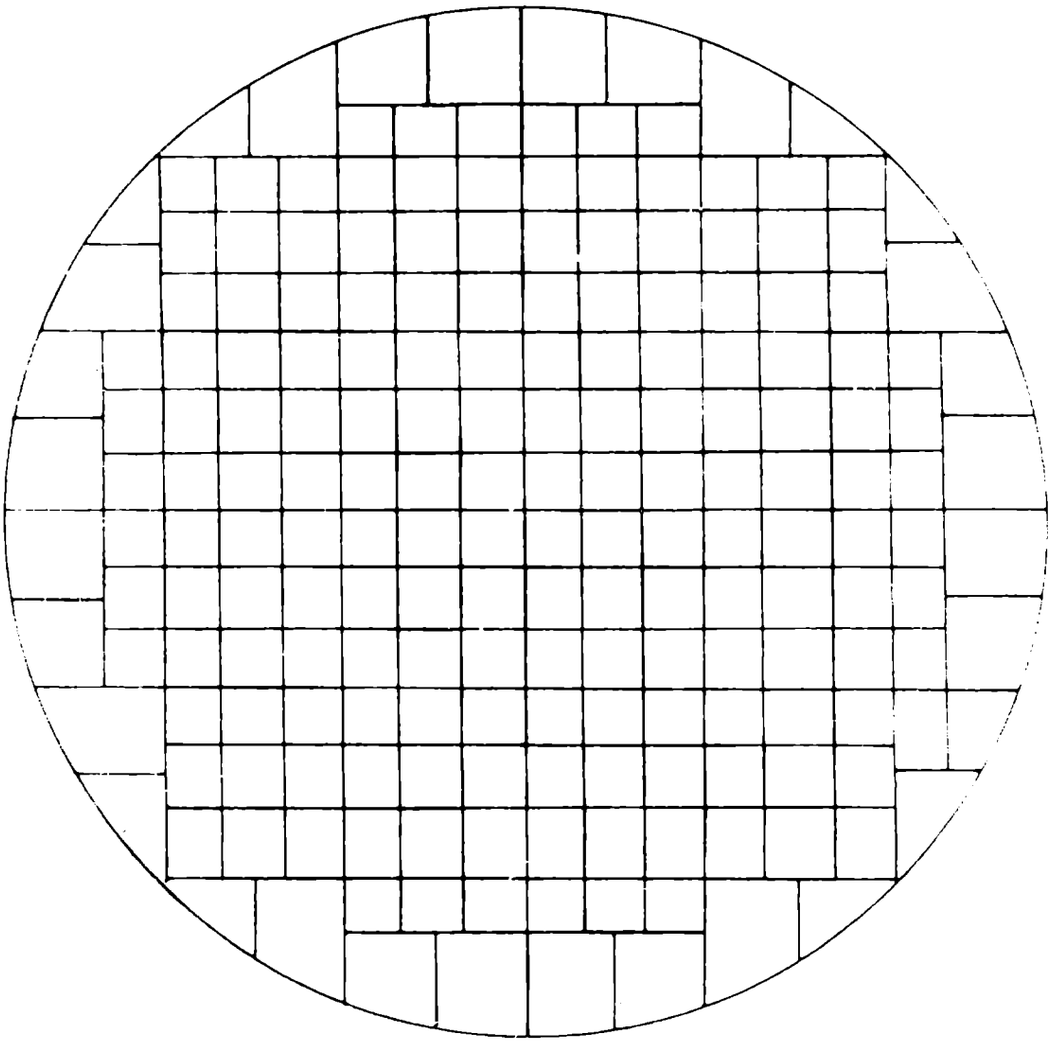

वैदिक त्रिमितीय रथचक्र वेदी

(एक बृहदाकार चक्र के रूप में अग्नि सजायी जाती है)

दे करती है । अर्थात्, ये व्यापार यांत्रिक नहीं है, हृदयस्पर्शी अनुभव ही है । क्योंकि, उनकेलिए मिथक जीवंत जीवन ही है ।

मिथक और कला

संस्कृति मूलतः मनुष्य के मानसिक जीवन से अभिन्न है । मिथक उसको दिशा - निर्देशन कराकर जीवन्त एवं गतिमय बना देता है । जिन परिस्थितियों ने व्यक्ति के मन में मिथक को जाग्रत किया, और उसे सम्पूर्ण समाज को हृदयंगम् बनाया, उन्हीं परिस्थितियों ने कलात्मक चेतना को भी प्रेरित किया है ।[1]

कला, मिथक और सामाजीकरण

मिथक आत्मनिष्ठता (subjectivity) से सम्बन्धित है । कला भी प्रपंच के प्रति अथवा जीवन के प्रति कलाकार के आत्मनिष्ठ मनोव्यापार से उद्भुत है । मिथक की तर्क - दृष्टि (rational approach) से देखना बेकार है । वह सहजानुभूति से गठित है ।[2] कला का उदय भी मानवचित्त के अतार्किक (irrational) तल से होता है, अतः वह सहजावबोध (intuition) की उपज मानी जाती है । आत्मनिष्ठता का सम्बन्ध कलासृजन के अर्थ में अथवा मिथकीय

---

1. 'In the last analysis, in the archaic societies as whereeverelse, culture arises and is renewed through the creative experiences of a few individuals. But since archaic culture gravitates around myths and these are constantly being studied and given new, more profound interpretations by the specialists in the sacred, it follows that the society as a whole is led towards the values and meanings discovered and conveyed by these few individuals'- Myth and Reality. P. 147
   Herbert Read: Art and Society. P. 111
2. 'Archetypal images can therefore be taken metaphorically, as intuitive concepts for physical phenomena' - Collected Works of C.G.Jung, Vol. 7. P. 93

प्रतीक के गठन के अवसर पर वैयक्तिक तत्व को छोड़कर और भी गहन और सार्वजनीन अचेतन मानसिक परत (layer) से ही जाता है जिससे कला और मिथक दोनों का सामान्यीकरण यथार्थ होता है ।[1]

हम देखते हैं कि मिथकीय प्रतीक तो आरंभ में व्यक्ति की मानसिक उपज के रूप में रूपान्वित होते हैं,[2] लेकिन अभिव्यक्तित होने पर वे समाज के प्रत्येक व्यक्ति की चीज़ हो जाते हैं । प्रत्येक व्यक्ति को वह अपना अनुभूत प्रतीत होने लगता है । अर्थात् वह समस्त समाज के चित्त के किसी पक्ष का समान रूप से स्पर्श करता है । प्रतीक में समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने ही हृदय का स्पन्दन महसूस करता है । कला के पक्ष में भी यही बात परिलक्षित होती है । बर्ट रिड के शब्दों में, कला वैयक्तिक रूप में शुरू होती है, और जहाँ तक समाज ऐसी वैयक्तिक अनुभूतियों को पहचानता है । और आत्मसात कर लेता है, कला समाज की चीज़ बन जाती है ।[3] यहाँ भारतीय साधारणीकरण सिद्धान्त, क्रोचे का अभिव्यंजनावाद, तथा, टी.एस.एलियट की कला की निर्वैयक्तिकता आदि ठोस मनोवैज्ञानिक आधार ग्रहण करते हैं ।

---

1. 'I speak of its (of images) archaic character when the images is in striking unisen with familiar mythological motives. In this expresses material primarily derived from the collective unconscious, while at the same time, it indicates that momentary conscious situation is influenced not so much from the side of the personal as from the collective' - Psychological Types. P. 555
.....The primordial image .... is always collective i.e. it is atleast common to entire nations or epochs. In all probability the most important mythological motives are common to all times and races .... Psychological Types P. 556
Also Ibid. P. 557

What is essential in a work of art is that it should rise far above the realm of personal life and speak from the spirit and heart of mankind. Modern Man in Search of a Soul. P. 194
'In the capacity of artist he is neither autoerotic, nor hetro erotic in any sense. He is objective and impersonal. Ibid. P. 194
Ibid. P. 197, 198

2. Herbert Read: Art and Society. P. ३

3. Ibid. P. ३

मिथकों का सामयिक महत्व

प्राचीन मनुष्य के प्रपंच संबन्धी ज्ञान की खाद एवं दैवेतरी भाषा की मिथक ।[1] नाना प्रकार के माध्यमों से उस ज्ञान को उसने प्रकट किया । कलात्मक चेतना का प्रथम स्फुरण इसी प्रकार हुआ । जैसे राधाकमल मुखर्जी कहते हैं ---- अध्यात्म कलासृजन के लिए आवश्यक दर्शन और मिथक प्रदान करता है, तो कला मिथकों को साकार करके मानवीय भावों और आकांक्षों को (emotions) रागात्मक अभिव्यक्ति देते हुए बिम्बों और प्रतीकों की सृष्टि करती है ।[2] वस्तुतः बदलती बाह्य और आभ्यंतर परिस्थितियों में पले आधुनिक मनुष्य की कलात्मक प्रेरणा के उद्रेक का मौलिक हेतु जीवन और प्रपंच के प्रति आत्मनिष्ठ प्रतिबन्धन ही है ।[3] बदलती परिस्थिति ने मानव सभ्यता की अभूत पूर्व प्रगति को देखा, वह उसके भौतिक विकास की साक्षी रही, उसकी हार्दिकता का ह्रास भी उसे देखना पड़ा, मूल्यों का विघटन उसी सामने ही तेज़ी से होता गया, जीवन की संकीर्णता और सतहीपन बढ़ता गया । अस्तित्व - सम्बन्धी नए नए प्रश्नों की बाढ़ सी हुई, नूतन सत्यों का साक्षात्कार हुआ, संवेदन के नवीन क्षेत्र एवं माध्यम उद्घाटित किए गए, वैज्ञानिक सत्यों के चढ़ाव में लड़खड़ाकर गिर पड़नेवाली

1. 'The world 'speaks' to man, and to understand its language he needs only to know the myths and decipher the symbols... In the last analysis, the world reveals itself as language' - Myth and Reality. P. 141

2. Radhakamal Mukherjee: Cosmic Art of India. P. 22
Also Myth and Reality ('these researches have brought about the role of creative individuals in the elaboration and transmission of myths ..... Now it is possible to devine' the source of inspiration for such a creative personality in an archaic society: They are 'crises''encounters','revelations', that is privileged religious experiences, accompanied and enriched by a host of particularly living and dramatic images and scenerios'). P. 146

3. 'The world knows nothing because it has made nothing. We know everything because we have made everything'. - W.B. Yeats. A general introduction for My Work, Compiled in Modern Poets on Modern Poetry, ed. by James Scully, Colins, 1969. P. 15
Also, Jean Paul Sartre - Situations, Fawcett World Lib., New York, 1966. P. 150

हृदयगत भावनाओं और मानवधर्म सम्बन्धी अवधारणाओं पर उसकी अन्तश्चेतना कराह उठी ।[1] इन सब के फलस्वरूप कला की - कविता की - विषय - वस्तु इन मिथकीय विषयों से कुछ अलग हो गई । फिर भी प्रागैतिहास प्रेरित ये चिरंतन प्रतीक और मिथकीय चिंतनधारा नई परिस्थिति के अनुरूप नए अर्थों के सहज एवं समर्थ संवाहक के रूप में कलात्मक रचना के विभिन्न संदर्भों में स्वयं प्रस्तुत होती रहती है ।

जिसप्रकार मिथक आत्मनिष्ठ प्रपंच ज्ञान का प्रतीकात्मक अभिव्यंजन है, उसीप्रकार कला भी आत्मानुभूत सत्य का - अनुभूति प्रक्रिया का - आत्मनिष्ठतापूर्ण अभि - व्यंजन है ।[2] दूसरे शब्दों में, कवि के आंतरीत अनुभूति प्रक्रिया को दृश्यवत् करने लिए जब प्रतीकों का सहारा लिया गया, तब मिथक का उदय कला ने देखा । यह देखने लायक है कि आज कवियों और कलाकारों की दृष्टि मिथकों की ओर रह गई है क्योंकि जैसे नोरतीप फ्राय कहते हैं, मिथक एक उत्कृष्ट साहित्यिक विधा है ।[3] मिथक, तब, ऐतिहासिक तथ्यों या शास्त्रीय तत्वों से सम्बन्धित जानकारी प्रदान करनेवाले तत्व नहीं है वह जनता को वैचारिक अस्तित्व और व्यक्तित्व प्रदान करने वाले है, वे ही हमारे चिंतन, व्यवहार और कर्म को नियंत्रित एवं निरूपित करते हैं, अतः मिथक और कला एक ही समय साध्य और साधन दोनों है । अर्थात् ज्ञान और माध्यम दोनों प्रकारों में वे महत्व - पूर्ण है । कहने का तात्पर्य है कि वे कला ज्ञान के एक ऐसे भण्डार की खोज देते हैं जो बिलकुल सद्भावबोध पर आधारित है और जिसे अपने में तथ्य का मापदण्ड निरूपयोगी

---

1. मलयालम के कवि डा.अक्कित्तम की 'ये गगारिन' कविता देखिए ।
2. Shelly - ed. R.A.Woodings (Macmillan and Co., 1968), Ch. 'The Political Symbolism of Prometheus Unbound' P. 130.
3. Northrop Frye, Anatomy of Criticism (Princeton, New Jersey, 1957). Myth, then, is one extreme of Literary design. P. 136

रह जाता है । कहने की ज़रूरत नहीं कि सहजावबोध चित्त की गहरी तह का व्यापार है, बल्कि कलात्मक सहजावबोध (artistic intuition) अचेतन के सामूहिक पक्ष की जो सर्वाधिक चेतना है, उससे सम्बद्ध है । वही सिद्धों के पीछे प्रवृत्त रहती है । कला की सामाजिकता के पीछे इस गहनतम अचेतन चित्तावस्था को मानते हुए ही हर्बर्ट रीड ने कहा - " कला अभिव्यक्ति की एक ऐसी विधा है, या एक ऐसी भाषा है जो किसी भाव को व्यंजित करने केलिए गोचर पदार्थों को काम में लाती है।"[1] इसलिए, उत्तम साहित्यिक रचना में (अन्य कलाओं में भी) प्रागैतिहासिक प्रतीकों और सिद्धकीय विधियों से गठित प्रतीकों की प्रत्यक्ष एवं परोक्ष विद्यमानता स्वाभाविक है । संसार भर की महान साहित्यिक एवं कलात्मक उपलब्धियाँ इसके प्रमाण प्रस्तुत करती हैं ।

---

1. Herbert Read: Art and Society. P. 6

द्वितीय खण्ड

पहला अध्याय

अज्ञेय : व्यक्तित्व की झलक

अज्ञेय

पहला अध्याय

अज्ञेय : व्यक्तित्व की झलक

(हारिल - धर्म में जीवन - मर्म के अन्वेषक की यायावरी)

मरुथल की चाह मनुष्य में स्वाभाविक है, फिर भी लीक छोड़ कर चलना मानव - समाज एकदम स्वीकार नहीं कर पाता । परम्परा या व्यवस्था के बन्धन का प्रयास किसी भी दिशा से किया जाय, सम्पूर्ण समाज या उसका कोई विभाग ऐसी चेष्टा का विरोध करना अपना कर्तव्य समझ लेता है । कभी कभी ये समस्या को विचार के क्षेत्र से भावना की भूमि (emotional level) पर ले जाते हैं और धार्मिक कट्टरता के साथ उसका सामना करके परम्परा की रक्षा करते हैं । उसमें वे विजयी होते हैं या नहीं, इससे बढ़कर महत्वपूर्ण बात यह है कि उसमें नए विचारों और दृष्टिकोणों के आलोक को स्वीकार करने में, पूर्वग्रहों के बंद कमरे में आलस्य जन्य सुप्तावस्था में पड़े परम्परा के फकीरों की असमर्थता एवं उसके प्रति असहिष्णुता अभिव्यंजित मिलती है ।

हिन्दी में आधुनिकता के प्रवक्ता और नए मूल्यों के अन्वेषक कवि

आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में प्रयोगवादी काव्यधारा और बाद में नई कविता को लेकर जो विवाद चल पड़ा उसके मूल में भी यही असहिष्णुता सक्रिय रही है । जहाँ तक विरोध की बात है, प्रयोगवादी कविता की स्थिति बिलकुल विषमतापूर्ण रही । प्रयोगवादी कविताएँ ही नहीं उनके रचयिता भी आलोचकों के हाथ से मुक्ति नहीं

पा सके । शायद कविता से बढ़कर कवि की आलोचना खूब चली ।[1]

यह सच है कि प्रयोगवादी कविता आलोचकों के लिए ही नहीं, अपितु समस्त सहृदयों के लिए बिल्कुल निराली चीज़ थी । लेकिन आलोचक उसकी अपूर्वता के सामने सकपका गए और वह उनके मापदण्डों में समा नहीं सकी । उसके नव संवेदना संवलित बिम्ब, नवीन सम्बन्ध (new association) सूचक प्रतीक और नवीनार्थ द्योतक शब्द - प्रयोग ने कविता को उनके लिए दुरूहता की ग्रन्थि बना दिया । वे उसके सामने विवश रह गए । उनकी असमर्थता ने कृति और कृतिकार के प्रति विरोध का रूपधारण कर लिया । ऐसी कविता कविता नहीं ठहरी, उसके कवि कवि नहीं रहे ।[2]

प्रयोगवादी कविता के विरोध में की गई आलोचना का प्रधान लक्ष्य सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय था क्योंकि हिन्दी में प्रयोगवादी कविता के पुरस्कर्ता एवं प्रमुख कवि वे ही हैं । बीसवीं सदी के तीसरे चौथे दशकों में एकदम नई एवं जटिल संवेदनाओं से अनुप्राणित कुछ अपूर्व राग और तान अपनी कविता की 'असाध्य वीणा' के द्वारा सुनाते हुए काव्य क्षेत्र में उतरे थे अज्ञेय । आरम्भ से ही उसकी अपूर्वता की ओर सब का ध्यान आकृष्ट हुआ था ।[3] उनके व्यक्तित्व का प्रभाव विरोधियों और सहयोगियों पर समान रूप से रहा है । कोई भी उनकी वाणी को अनसुनी नहीं कर सका है ।[4]

---

1. द्रष्टव्य : नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य : प्रयोगवाद शीर्षक निबन्ध देखिए।
2. विद्या निवास मिश्र : आज के लोकप्रिय कवि : अज्ञेय : पृ. 3
3. द्रष्टव्य : विजयनारायण साही : लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस-लेख । डा. नामवरसिंह : कविता के नए प्रतिमान, 'तारसप्तक का इतिहास की भूमिका' शीर्षक लेख ।
4. श्री विद्यानिवास मिश्र : आज के लोकप्रिय कवि : अज्ञेय : पृ.3

एक प्रकार की अनिवार्यता उनके व्यक्तित्व में स्पष्ट अनुभूत होती है ।[1] प्रारंभ में जो उनके विरोधी रहे हैं, वे आज उनकी स्वीकार करने को बाध्य हो गए हैं । युवा पीढ़ी के कवि अपने को अज्ञेय पीढ़ी कहलाने में गौरव का अनुभव करते हैं ।

अज्ञेय के व्यक्तित्व के इस दुर्निवार प्रभुत्व के मूल में लम्बी अवधि की आधीनहीन और आत्मोत्सर्गपूर्ण तथा निर्मम परिश्रम एवं विस्तृत अनुभव की पूँजी रही है । कवि - सुलभ निष्ठा के साथ युग-सत्य की खोज करने लिए आवश्यक मनोभूमि कैसे उनमें तैयार हुई, इसको जानने लिए उनकी जीवन - यात्रा की एक झांकि प्राप्त करना आवश्यक है ।

जन्म और बचपन : शिक्षा का आरंभ और साहित्य - रुचि का उदय

जालन्धर के कर्तारपुर के भनोत सारस्वत ब्राह्मण कुल के सदस्य हैं अज्ञेय । उनके पिता हीरानन्द शास्त्री प्रसिद्ध पुरातत्व वेत्ता थे । वे भारत के पुरातत्व विभाग में उच्चपदाधिकारी थे, सरकारी नौकरी के कारण शास्त्रीजी को देश के विभिन्न स्थानों में रहना पड़ा था । इस भ्रमण के बीच वे सपरिवार कसया (प्राचीन कुशी नगर)[2] में भी रहे थे । वहाँ 1911 मार्च 7 को सच्चिदानन्द का जन्म हुआ ।[3]

शैशव उनका लखनऊ में बीता । लेकिन शिक्षा का आरंभ हुआ जम्मू और काश्मीर में । पिता तो परम्परा प्रेमी थे और देश, धर्म और भाषा के बड़े अभिमानी । वे अपने बच्चों के व्यक्तित्व के विकास पर दत्तावधान थे । अतः परम्परागत

---

1. कविता के नए प्रतिमान : पृ.36
   (वह कविता में सबसे पहले विरोध अज्ञेय का हुआ, स्वीकृत भी सबसे पहले वही हुए ।)
2. कवितश्री - अज्ञेय : सिंगाराम शरण गुप्त द्वारा संपादित पुनर्मुद्रित, 2013, साहित्य सदन, झाँसी, पृ.1
3. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि : अज्ञेय : पृ.6.

ढंग से संस्कृताध्ययन के साथ साथ बेटे बालक सच्चिदानन्द को अंग्रेज़ी की शिक्षा भी दी जाने लगी। सात आठ वर्षों के बाद शास्त्री - परिवार नालंदा पहुँचा तो पिता के मुँह से ही 'सच्चा' का हिन्दी अध्ययन भी शुरू हुआ। शास्त्रीजी हिन्दुस्तानी के विरोधी थे, अतः ज़िद करते थे कि बेटा शुद्ध हिन्दी ही सीखे ले। नालंदा से पटना आए तो हिन्दी अध्ययन ने प्रगति की। वहाँ शास्त्री के पुराने मित्र राय बहादुर हीरालाल ही उसकी प्रगति की जाँच करते थे। शास्त्री परिवार के अन्य मित्र थे स्व. राखालदास बन्दोपाध्याय। उनसे बंगला का अभ्यास भी उन्हें प्राप्त हुआ।[1] स्व. काशीप्रसाद जायसवाल भी शास्त्री के बड़े दोस्त थे। इन महानुभावों की संगति ने अज्ञेय के छोटे मन पर दुतरफ़ाप्रभाव डाला। एक ओर उसने उनमें भारतीय संस्कृति एवं राष्ट्रीयता का बीज जगाया तो दूसरी ओर अंग्रेज़ी विरोध का बीज बो दिया। साथ ही साथ बंगला के अध्ययन ने उनकी सहज साहित्यिक चित्तवृत्ति के सामने नया क्षेत्र खोल दिया। बंगला के प्रतिष्ठित लेखक बंकिम चंद्र के 'बाल रामायण', 'बालमहाभारत', 'बालशिव' और 'इन्दिरा' जैसी पुस्तकें और हरिनारायण आप्टे एवं राखालदास बंदोपाध्याय के ऐतिहासिक उपन्यास उन्होंने पढ़ लिए।[2] फलस्वरूप साहित्य की ओर उन्मुखता दिखाई देने लगी।

प्रकृति - सौन्दर्य की ओर आकर्षण और अंग्रेज़ी - साहित्य का सम्पर्क

पटना से वे ऊटकमंड पहुँचे। वहाँ नीलगिरि का उद्दाम प्राकृतिक छटा ने उन्हें मुग्ध कर डाला। प्रकृति की सुषमा को इतने निकट देख लेने का उनके लिए यह पहला अवसर था।[3] यहीं उटकमंड के मध्वाचार्य के हाथों उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। यहीं अंगरेज़ी से बाह्यायन में परिवर्तन भी की गया। यहीं अठ के पंडितों से

---

1. आज के लोकप्रिय कवि अज्ञेय : पृ.7
2. वही . पृ.7
3. वही . पृ.7

उन्होंने तमिल और संस्कृत का अध्ययन किया।[1] भगवद्गीता भी यहीं रहकर उन्होंने पढ़ी। अज्ञेय के व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से यह अवधि बड़ी महत्वपूर्ण है। बेटे के चारित्रिक विकास पर सजग दृष्टि रखनेवाले पिता ने उन्हें अन्य धर्मों के ग्रंथों को पढ़ने की प्रेरणा दी। पिताजी के पुस्तकालय में संग्रहीत अंग्रेज़ी लेखकों की उत्तम रचनाओं ने उनके सामने ज्ञान के नए द्वार खोल डाले। वर्ड्सवर्थ, टेनिसन, लांगफेलो, और ह्विटमैन की कविताओं, शेक्सपीयर, मार्लो, बेस्टर के नाटकों, मिल्टन, जार्ज एलियट, डिकेन्स, ठाकरे, गोल्डस्मिथ, तालस्ताय, तुर्गनिव, गोगोल, विक्टर ह्यूगो और मेलविल के उपन्यासों को पढ़कर उन्होंने पाश्चात्य साहित्य का अच्छा परिचय प्राप्त किया और विश्व साहित्य के महान नायकों से प्रभाव ग्रहण किया।

हिन्दी के प्राचीन साहित्य का अध्ययन

अंग्रेज़ी साहित्य के साथ साथ वात्स्यायन ने हिन्दी के प्रामाणिक लेखकों एवं प्राचीन कवियों की रचनाओं का अध्ययन भी किया। पंडित गौरीदत्त शिवदत्त औझा और विश्वेश्वर नाथ रेऊ आदि इतिहासकारों की इतिहास सम्बन्धी कृतियों और तुलसी तथा मीरा जैसे वैष्णव कवियों की कविताओं को अध्ययन का विषय बनाया गया। ऐसे लेखकों में सच्चिदानन्द के किशोर मन पर टेनिसन की लयबद्ध भाषा का प्रभाव बहुत बड़ा था। इस प्रभाव ने उनसे टेनिसन के अनुकरण में अंग्रेज़ी कविताएँ प्रभूत मात्रा में लिखवा ली थीं। ह्यूगो की औपन्यासिक कला का भी कम आकर्षण नहीं था। साहित्य के इस निरन्तर अध्ययन से उनमें पहले ही अंकुरित सृजनात्मक चेतना शीघ्र ही : विकसित होने लगी कि 'आनन्द बन्धु' का प्रणयन हुआ।

साहित्यिक अध्ययन के बीचों बीच मैट्रिक की परीक्षा भी उन्हें देनी थी। उन्होंने पंजाब से मैट्रिक की प्राइवेट परीक्षा ही दी। अपनी परीक्षा के आसपास

एक बार उन्हें माता - समेत पंजाब जाना पड़ा । वह समय ऐसा था जब पंजाब में जालियांवाला बाग का हत्याकांड घटित हो चुका था । वहाँ के लोगों के दुःख का प्रत्यक्ष-दर्शन उनके मन में पहले ही बोये गए अंग्रेज़ी - विरोध को अंकुरित करने में समर्थ हुआ । अंग्रेज़ी - साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह की इस जाग्रत भावना के कारण एक बार अपने ही सहपाठी अंग्रेज़ बालकों की उन्होंने खूब मरम्मत की और हमेशा के लिए स्कूल को छोड़ दिया।

कालेजी शिक्षा का आरंभ और प्रो. हेन्डेर्सन से भेंट

मैट्रिक पास करके वे विज्ञान लेकर इंटरमीडियट पढ़ने के लिए मद्रास क्रिश्चियन कालेज में प्रविष्ट हुए । गणित, भौतिक विज्ञान (physics) और संस्कृत मुख्य विषय थे । वे सब से अधिक प्रभावित हुए अपने अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर हेंडेर्सन से । प्रो. हेन्डेर्सन ने अज्ञेय की प्रतिभा को जान लिया । दोनों के बीच में आत्मीयता बढ़ी । अज्ञेय के मन को साहित्य की ओर उन्होंने अपने पांडित्यपूर्ण संवादों से आकृष्ट किया, साहित्य में अज्ञेय की रुचि बढ़ती गयी । दोनों की आत्मीयता भी बढ़ती रही । हेन्डेर्सन वास्तव में भारतीय संस्कृति और कला - साहित्यादि के अनन्य भक्त थे ।

टागोर - अध्ययन - मण्डल की स्थापना, नाना विषयक अध्ययन, कला - क्षेत्रों की यात्रा, प्रकृति प्रेम और सौन्दर्य चेतना का विकास

रवीन्द्रनाथ टागोर के प्रति उनके हृदय में बड़ी श्रद्धा थी । हेन्डेर्सन की सहायता से अज्ञेय ने टागोर - अध्ययन - मण्डल की स्थापना की । इसके अतिरिक्त इन दोनों ने मिलकर रस्किन के सौन्दर्य - शास्त्र और आचार शास्त्र का अध्ययन किया । भारतीय चित्रकला, मूर्तिकला एवं वास्तुकला से भरे हुए भारतीय कलाक्षेत्रों के अनेक बार संदर्शन के द्वारा स्थापत्य और शिल्प दोनों का रागबोध परिपक्व होता गया ।[1]

---

1. आज के लोकप्रिय कवि : अज्ञेय पृ.9.

इसके साथ दक्षिण भारत के मन्दिरों में अभिव्यक्ति अनुपम शिल्पकला चातुरी ने उनमें विद्यमान चित्रकार को उद्दीपित किया। नीलगिरी की प्राकृतिक सुषमा ने उनके अन्दर के प्रकृति - प्रेमी को अपनी ओर हठात् आकर्षित किया और उनके हृदय की सौन्दर्य चेतना और प्रकृति प्रेम को चिरजागृत ही रखा।

लाहौर के फर्मन कालिज में प्रवेश, क्रान्तिकारी दल से संबन्ध

1927 में इंटरमीडियट पास करके वात्स्यायन ने लाहौर के फर्मन कालिज में बी.एस.सी में प्रवेश पाया। यहाँ वे 'नौजवान - भारत सभा' के सम्पर्क में आए और 'हिन्दुस्तान सोशियलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी' नामक क्रान्तिकारी दल के प्रमुख कर्मचारियों से परिचित हुए। उनमें चन्द्रशेखर आज़ाद, सुखदेव, और भगवतीचरण वोहरा आदि के नाम प्रथम उल्लेखनीय हैं। लेकिन उस समय वे सक्रिय रूप से क्रान्तिकारी आन्दोलन में भाग लेने नहीं लगे थे। 1929 में पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में लाहौर में जो कांग्रेस अधिवेशन हुआ था, उसमें वे स्वयं सेवक अफसर के रूप में काम करते थे। उस अवसर पर Irvin की सवारी देने के गांधीजी के प्रस्ताव का विरोध करनेवाले 'इंकलाब जिन्दाबाद' के नारे से अधिवेशन के अन्तरिक्ष को मुखरित कर रहे थे। अज्ञेय पर उसका असर शायद पड़ा था। उसी साल बी.एस.सी पास करके वे अंग्रेज़ी एम.ए.में प्रविष्ट हुए। तब से क्रान्तिकारी दल से उनका सम्बन्ध घनिष्ठ हुआ। वे वस्तुतः उसमें भर्ती हुए। देवराज, कमलकृष्ण आदि भी उनके साथ थे।

कालिज में विज्ञान का छात्र, क्रान्तिकारी दल का सक्रिय कर्मचारी,

प्रो.बनेट और प्रो. डानियल का प्रभाव

लाहौर में अमेरिकी प्रोफेसर वे. एम.बनेट और प्रोफेसर डानियल के साथ अज्ञेय का विशेष सम्बन्ध था। इन दोनों प्रोफेसरों ने उनपर गहरा प्रभाव डाला। प्रो. बनेट के साथ उनका सम्बन्ध पहली जेल यात्रा तक जारी रहा। भौतिक-

विज्ञान के अध्यापक होने पर भी प्रो. सिंह विज्ञानेतर विषयों पर भी रुचि रखनेवाले थे। उन्होंने ही विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की प्रेरणा अज्ञेय को दी थी। दूसरी ओर प्रो. डानियल ने क्रांतिकारियों की ओर उनकी रुचि बढ़ा दी। अध्ययन और क्रान्तिकारी कार्य इस समय साथ साथ चल रहे थे।

क्रान्तिकारी कार्य और जेलवास

क्रान्तिकारी कार्यों में उनका प्रथम प्रयास भगतसिंह को छुड़ाने का था। लेकिन एक दुर्घटना में भगवती चरण वोहरा के शहीद हो जाने के कारण यह कार्य स्थगित कर दिया गया। उसके बाद दिल्ली - हिमालय टॉयलट फैक्टरी के बहाने बम बनाने का कारखाना स्थापित किया। उसमें अज्ञेय वैज्ञानिक का काम करते थे। उसके पश्चात अमृतसर में पिस्तौलों की मरम्मत और कारतूस भरने के कारखाने की स्थापना से वे सम्बन्धित रहे। लेकिन 15 नवम्बर 1930 को वे अपने साथी देवराज और कमल कृष्ण के साथ गिरफ्तार किए गए। यह उनकी पहली जेल - यात्रा थी। एक महीने लाहौर जिले में, फिर अमृतसर की हवालात में रखे गए। 'आर्म्स - एक्ट' वाले मुकदमे से छूट जाने के तुरन्त बाद दिल्ली में नया मुकदमा शुरू हुआ। 1931 से लेकर 1933 तक यह चलता रहा। अज्ञेय इस समय दिल्ली जेल में काल कोठरी में बंदी रहे।

अध्ययन में विस्तार और साहित्यिक परिश्रम

एकान्तता की इस लम्बी अवधि की निष्क्रियता को तोड़ने अध्यात्मवाद से लेकर मनोविज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र और कानून इन सब विषयों को पढ़ने का अवसर प्रदान किया। साथ ही आत्म मंथन की उपज को शब्द बद्ध करने का अवकाश भी उन्हें प्राप्त हुआ। 'चिंता,' 'विपथगा' की अधिकांश कहानियाँ, और 'शेखर : एक जीवन

उपन्यास इस समय प्रकाशित हुए ।[1] अज्ञेय की तत्कालीन अशान्तिपूर्ण मानसिक अवस्था का आभास इन रचनाओं में प्राप्त हो सकता है । यह समय घोर - आत्म मंथन, शारीरिक यातना, और स्वजन मृत्यु की पीड़ा से संकुल था । यद्यपि 1934 में वे जेल से मुक्त हो सके, फिर भी किसी दूसरे कानून के अनुसार वे फिर लाहौर में नज़र बन्द किए गए । वहीं 'कोठरी की बात' की गई । और 'चिंता' का लिपि बद्ध कर दिया गया । साथ ही कहानियों को छपने का कार्य भी शुरू हुआ ।

माता और छोटे भाई की मृत्यु और अन्य प्रिय जन वियोग और अन्य आघातों की पीड़ा के दिन

नज़रबंदी से वे मुक्त हुए, तुरन्त बाद 1934 मध्य में घर के अन्दर नज़रबंदी हुई । घर लौटने पर अपनी माता और सब से प्रिय छोटे भाई के वियोग की खबर ने उनका स्वागत किया । तुरन्त बाद पिताजी की नौकरी से निवृत्ति ने उनकी रही सही रोज़ी का ज़रिया भी बन्द कर डाला । नज़र बंदी की इस वेला में वे डलहौज़ी और लाहौर में रहते थे । यह सात साल की लम्बी अवधि है । इस समय ऐसी अनेक घटनाएँ घटित हुईं जिनकी छाप छोड़ गई रही गई । राजी के फल से अंग्रेज मारने के फलस्वरूप मुकदमे की टोपी उतार गई थी । यह शाश्वत दर्द का हेतु हुआ है । क्रान्तिकारी दल के अनेकों साथी आदर्शच्युत हुए, फलस्वरूप स्वजन मृत्यु का आत्म पीड़न का अनुभव अनिवार्य हो गया । पहले ही अव्यक्त स्वकेन्द्रिता (अलिएनेशन) की इस आत्मपीड़न ने बढ़ा दिया । इस बीच एक ऐसे व्यक्ति का आकस्मिक निधन हो गया जिस से अज्ञेय का घनिष्ट रागात्मक सम्बन्ध रहता था और जो उनके जीवन में ओज और तेज का नित्य -

---

१. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि : अज्ञेय : पृ.11

प्रीत रहा था । इस घटना ने उनके हृदय पर गहरी और स्थाई चोट लगा दी है। उन्होंने 'प्रेम की पीर' का अनुभव किया ।

जीवन का विस्तार : पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश

राजनैतिक कार्यकलाप और जेल यात्रा के कारण वात्स्यायन अध्ययन पूरा नहीं कर सके । उसे पूर्ण कर लेने के बदले उन्होंने पहले जीविका का अन्वेषण आरंभ किया । सबसे पहले एक आश्रम खोलने की सोची । पिताजी अपने बेटे को भिक्षुवेश में देखना नहीं चाहते थे । उन्होंने पुत्र की डाटा, आश्रम की बात टाल दी गयी । फिर उनका ध्यान पत्र - कारिता की ओर मुड़ा । ऐसे वे 'सैनिक' के सम्पादक मण्डल में आए । वहाँ उनका सेवा - काल केवल साल भर रहा । वहाँ रहते मेरठ के किसान - आन्दोलन में काम किया । हिन्दी क्षेत्र के अनेक प्रसिद्ध और महान लेखकों से परिचय भी इस अवधि में वे पा सके । चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, हरिकृष्ण प्रेमी, राम-विलास शर्मा, प्रकाशचन्द गुप्त, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, और नेमी चन्द्र जैन आदि लेखक उनमें प्रसिद्ध है, इन सब प्रतिष्ठ साहित्यिकों के परिचय एवं सम्पर्क ने उनकी राजनैतिक दृष्टि में परिवर्तन का डाला । राजनैतिक विचार में भरी परिवर्तन दृष्टिगत हुआ । पूर्वार्पित मूर्ति की पुनः प्रतिष्ठा अपने हृदय में कर ली । गांधीजी के प्रति तिरस्कार के स्थान पर सत्कार बढ़ा । सुभाष बाबू के लिए श्रद्धा कम हो गई । नेहरू की बौद्धिक सच्चाई (intellectual honesty) का प्रभाव ही उन में रह सका । इसप्रकार चिन्तन के नए आलोक में राजनैतिक नेताओं के व्यक्तित्व के बारे में परिवर्तन के स्वयं अनुभव कर सके ।[1]

---

1. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि : अज्ञेय : पृ.12

'विशाल भारत' में भर्ती, कलकत्ता - निवास, नागरबोध का अंकुरण

सैनिक से विशाल भारत की दूरी एक वर्ष की थी। बनारसी दास-चतुर्वेदी के आग्रह से वे 'विशाल भारत' में आए थे। उसमें कार्य करते हुए कलकत्ता में रहे। सुरेंद्र दत्त, बुद्धदेव बसु, हजारी प्रसाद द्विवेदी, अन्नदा साहनी और पुलिन सेन से यहीं वे परिचित हुए। कलकत्ता के निवास ने वात्स्यायन को एक महा-नगर को निकट से देख लेने का अवसर दिया। [illegible] अनुभव बहुत ही तीखा लगा। नागरिक जीवन के विमानवीकृत पक्ष का बड़ा भारी आघात उनकी संवेदनशीलता पर लग गया।

इसप्रकार 'विशाल-भारत' के सेवा-काल ने उन्हें एक ओर सौहृद की शीतलता प्रदान की तो दूसरी ओर नागरिक जीवन की यांत्रिकता जन्य हृदय-शून्यता की कटुआहट पिलायी। जो ही, डेढ़ वर्ष के बाद 'विशाल भारत' छोड़ बड़ोदा में अपने पिता पास जब वे आए तब उनके पास कुछ महत्वपूर्ण अनुभव की पूँजी थी। पत्रकारिता के आदर्शात्मक और व्यावहारिक पक्ष के बीच के अन्तर - उनकी विकलता-का बोध स्वानुभव के द्वारा वे पा सके। इस अनुभव ने सामाजिक जीवन की परिस्थितियों व यथार्थों से उन्हें सचेत कर दिया। यथार्थता के इस बदले बोध ने उन्हें दुनिया का सामना करने के योग्य बना दिया।

रेडियो की नौकरी, 'विपथगा' का प्रकाशन : आत्मविश्वास का विकास

पिताजी ने आग्रह किया कि वे विदेश जाकर अध्ययन पूरा करें। लेकिन उस समय तक महायुद्ध छिड़ गया था। अतः अध्ययन अधूरा ही रहा। फिर-भी निष्क्रिय नहीं रहे। अखिल इंडिया रेडियो में नौकरी करने लगे। पत्रकारिता और रेडियो की नौकरी के द्वारा अज्ञेय हिन्दी साहित्य के भीतर गहराई तक पैठ सके और उसकी विविध धाराओं को पकड़ पाये। साथ ही साहित्यिक क्षेत्र के व्यक्तियों से परिचय भी

बढ़ा सके ।[1] अपने जीवन - पथ का निर्णय कर सकने का दृढ़ संकल्प उनमें विकसित हो सका । प्रथम कहानी संग्रह 'विपथगा' का प्रकाशन इस बीच 1937 में किया गया ।

सिविल मैरेज, 'शेखर : एक जीवनी' का प्रकाशन, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' का सम्पादन

1940 में वात्स्यायन ने सिविल मैरेज कर लिया, यह उनके आत्म-विश्वास का द्योतक है । बहुत जल्दी यह विवाह उनकेलिए अशान्ति का कारण बना । अतः वे अपनी पत्नी से अलग मेरठ में अधिक रहने लगे । वे फिर से राजनैतिक कार्यों में लग गए । 1941 में 'शेखर : एक जीवनी' प्रकाशित हुआ । मेरठ में उन्होंने सौभ्यवतीजी के सह योग से 'हिन्दी साहित्य परिषद' की स्थापना की । उसीसिए 1942में आधुनिक हिन्दी साहित्य ' का सम्पादन किया ।

फैसिज्म का विरोध और सेना में भर्ती

फैसिज्म के विरोधी थे अज्ञेय । अतः 1942 के आन्दोलन को अनुपयोगी मानकर दिल्ली में उसी साल अखिल भारतीय फैसिस्ट - विरोधी सम्मेलन का आयोजन उन्होंने किया । यह सम्मेलन अपनी एकता को बनाए रख नहीं सका । उसमें दल बंदियाँ होने लगी । एक ओर प्रगतिशील लेखकों के नाम पर राम विलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान आदि का अलग दल हुआ तो दूसरी ओर अज्ञेय और मुक्तिबोध के नेतृत्व में अलग दल बन गया । पहला दल जब अपने ढंग फैसिस्ट - विरोध में युद्ध की पूर्णतः अनावश्यक घोषित उससे अलग रहा, तो अज्ञेय अपने फैसिस्ट विरोध के बावजूद देश की सुरक्षा की दृष्टि से युद्ध को अनिवार्य मानकर 1943में सेना में भर्ती हुए ।[2]

1. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि अज्ञेय : पृ.13
2. अज्ञेय : आत्मनेपद, पृ.194 ; सिंधु का गद्य खंड : पृ.102

प्रतिरोध - अभियान की तैयारी का काम करते हुए वे 1945 तक कोहिमा फ्रंट पर रहे । असमी वर्मा फ्रंट पर नियुक्त होने से अज्ञेय को अपने काम के स्वभाव से साक्षात् रूप में युद्ध में लगे रहने की जरूरत नहीं पड़ी ।[1] फ्रंट के पीछे के हिस्से के मनोबल की जाँच करना और युद्ध के प्रतिरोध का वातावरण उत्पन्न करना ही उनका काम था । फिर भी युद्ध का कई रूपों में अनुभव उन्हें प्राप्त हुआ । प्रिय - अप्रिय की दृष्टि से अप्रिय अनुभव ही अधिक हुए हैं ।[2] उसके अतिरिक्त महत्वपूर्ण बात यह है कि असम के जन जीवन और वहाँ की वैष्णव संस्कृति का निकटतर परिचय प्राप्त करने का सुअवसर उन्हें मिला ।

सैनिक वृत्ति के बीच में ही 1943 में तारसप्तक का सम्पादन

युद्ध और शान्ति की इस विरोधी स्थिति की झाँकी " मेजर चौधरी की वापसी" जैसी कहानियों में मिलती है । वास्तव में यह समय ऐसा था जिसमें एक ओर अज्ञेय बौद्धिक स्तर पर राजनैतिक अक्ल - पुक्त के साथ आलोडित हो रहे थे, वहीं दूसरी ओर उनका संवेदनशील हृदय नए बात - प्रतिघातों की विक्षमता से भुजर रहा था । सैनिक वृत्ति के इस बीच में ही 1943 में 'तारसप्तक' का सम्पादन उन्होंने किया । फिर 1944 में 'शेखर : एक जीवनी' का द्वितीय भाग प्रकाशित हुआ । 'परम्परा और श्रीकान्त,' (अनूदित) का भी उन्होंने इस अवधि में प्रकाशन किया । 1945 में पूर्वरचित 'कोठरी की बात' छप गयी । 1945 तक आते वे युद्ध के यथार्थ से ऊब गये । युद्ध को एक सहज मानवीय स्थिति के रूप में स्वीकार करना उन्हें दुष्कर था । अनिवार्यतावश स्वीकार करना पड़ने पर भी युद्ध के साथ बहुत समय तक संबद्ध रहना अज्ञेय जैसे हृदयालु को असंभव था । अतः 1946 में सेना से मुक्ति पाकर घर लौटे ।

---

1. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि : अज्ञेय पृ.14
2. वही - पृ.14

पिता का निधन और साहित्य की अज्ञेय का आत्मसम्बंध और 1947 में प्रतीक का प्रकाशन

उसी वर्ष (1946) गुरुदास पुर में पिता का देहावसान हुआ। अपने पुत्र को संस्कृति के वाहक के रूप में देखना चाहते थे पिता। साहित्य के साधक होने के नाते संस्कृति का प्रसार करने का दायित्व अज्ञेय ने अपने ऊपर ले रखा। अतः पिता की इच्छा की पूर्ति को लक्ष्य बनाकर उन्होंने अपने साहित्यिक कार्यों में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन कर डाला। गुरुदासपुर से मेरठ आकर 'हिन्दी साहित्य परिषद्' की केन्द्र बनाकर साहित्य की नई धारा का प्रसार एवं प्रचार किया। 1941 में ही 'चक्रव्यूह', 'प्रिजन डेज एण्ड अदर पोयम्स' और 'द रिकग्नेशन' भी प्रकाशित हुए। 1947 मार्च में अज्ञेय ने अपने साहित्यिक कार्यों के विस्तार के लिए इलाहाबाद में निवास बनाया और 'प्रतीक' नामक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया।

'हरी घास पर क्षण भर' और शरणार्थी का प्रकाशन

प्रतीक का प्रकाशन हिन्दी में एक महत्वपूर्ण घटना ही है। इसके माध्यम से अज्ञेय ने संस्कृति, कला एवं साहित्य के परम्पराश्रितत्व का आमूलाग्र विवेचन करके साहित्य सम्बन्धी अपनी धारणाओं का प्रतिपादन किया। नई पीढ़ी के अनेक लेखकों ने अपनी प्रतिभा का उन्मीलन 'प्रतीक' के माध्यम से ही किया। कवि ने 'प्रतीक' को अपना सब कुछ माना, उसमें अपना सर्वस्व लगाया, और उसको जीवन्त रखने के लिए उन्हें अकथनीय आर्थिक हानि सहनी पड़ी। आर्थिक विषमता से मुक्ति पाने के लिए उन्हें वर्षों तक कठिन परिश्रम करना पड़ा। 'प्रतीक' के लिए ही दो साल तक रेडियो में नौकरी की अज्ञेय ने। इन सब प्रयत्नों के बावजूद 'प्रतीक' केवल 1952 तक ही चल सका।

विडम्बना की बात यह है कि इतने उच्च स्तर की पत्रिका होने पर भी, हिन्दी की नई कविता की प्रतिष्ठायक होने पर भी, अज्ञेय जैसे प्रतिभावान लेखक के आत्म - समर्पण - पूर्वक परिश्रम रहने पर भी प्रतीक को आर्थिक विवशता की वजह से ही बंद होना पड़ा । नए आलोचकों को उसने माध्यम दिया, नए कवियों को प्रोत्साहित किया, फिर भी सहृदयों की ओर से उसको जारी रखने लिए कोई भी उदारतापूर्ण कार्य नहीं हुआ, यह खेद की बात है । फिर भी प्रतीक अज्ञेय के मन में स्थायी स्मृति बनकर जीवन्त रहता है । 1947 - 50 के बीच में प्रतीक के प्रकाशन के साथ अन्य साहित्यिक परिश्रम के रूप में 'हरी घास पर क्षण भर' और 'शरणार्थी' का प्रकाशन हुआ ।

प्रतीक बंद, नदी के द्वीप और दूसरा सप्तक का प्रकाशन

1950 में दिल्ली रेडियो में काम करते वक्त कपिला मालिक से उनका परिचय हुआ । यह परिचय बाद में घनिष्ट प्रेम - सम्बन्ध में - परिणत हो गया । प्रतीक के बन्द होने पर (1952) अगले दो - तीन वर्ष वे यायावरी में लगे रहे । भारत के नाना कला - तीर्थों का भ्रमण करके वात्स्यायन ने अपनी सौन्दर्य दृष्टि को ताज़ा बनाए रखा । इस बीच फोटो ग्रेफी में भी वे दक्षता पा चुके थे । बचपन में ही दक्षिण के जिन कला - केन्द्रों ने उनकी सौन्दर्य - चेतना को जगा दिया था, वहाँ की भारतीय संस्कृति की मूर्त अभिव्यंजनों के साक्षात्कार से उनका चित्त प्रसन्न हो गया । थोड़े में, इन भारतीय यात्राओं में अज्ञेय नयी दृष्टि से भारतीय कला एवं संस्कृति को देख सके, और मूल्यांकन कर सके । प्रकृति की रम्यीयता का अनुभव कर सके । भारत - दर्शन के इस दौरान 'बावरा अहेरी', 'नदी के द्वीप', 'दूसरा सप्तक', 'अरे यायावर रहेगा याद' एवं जयदोल का प्रकाशन हुआ ।

प्रथम विदेश - यात्रा : पश्चिम यूरोप की यात्रा : 1957 में कपिला मालिक से विवाह

भारत पर्यटन की समाप्ति पर अप्रैल 1955 में सच्चिदानन्द वात्स्यायन युनेस्को के निमंत्रण पर परिश्रम यूरोप की यात्रा पर निकले । यह उनकी प्रथम विदेश-यात्रा थी । इस यात्रा से कई प्रकार से वे लाभान्वित थी । इस यात्रा से कईप्रकार से वे लाभान्वित हो सके । आस्ट्रिया में पी.ई.एन. कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था । वहाँ पर चार्ल्स मार्गिन और भारत विद् ग्लासेनाप से भेंट हुई । हंगेरियन शरणार्थी - मैनिस स्येर्तेट से मिलने का अवसर भी उन्हें मिला । हंगेरी की संवेदना का गहरा प्रभाव अज्ञेय पर पड़ ही गया । अपने पुराने दोस्त मार्टिन आलवुड के अतिथि बनकर स्वीडन में भी रहे । वहाँ लेपलेंड में बर्फ में यात्रा की तो एक बार भटक गए । इसप्रकार बरफ में भटक जाने और बटफ का कैदी हो जाने की एक कहानी स्वीडी लेखिका सारा - लीडमैन से सुन रखी थी, पहले ही । बाद में प्रकाशित " इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, 'अपने अपने अजनबी', 'एक बूंद सहसा उछली' आदि रचनाओं की प्रेरणा तो यह यात्रा ही थी । यूरोप से लौटने पर अपने प्रेम - सम्बन्ध को 1956 जुलाई 7 में विवाह के द्वारा शाश्वत कर लिया ।

गार्हस्थ्य - जीवन, जापान और फिलिपीन की यात्रा

विवाह के बाद वे प्रयाग में पत्नी समेत कुछ समय तक रहे और कुल्लु और अल्मोड़ा की वसन्तसुषमा निहारने निकले । 1957 अगस्त तक गार्हस्थ्य जीवन में लगे रहने के पश्चात् वे जापान और फिलिपीन की यात्रा केलिए निकल पड़े । लेकिन बीच में कुछ दिनों केलिए भारत लौट आए, और फिर जापान लौट गए । 1957 में उनके भारत में रहते समय " इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' का प्रकाशन हो चुका था । जापान में उन्होंने वहाँ के प्रतिष्ठित साहित्यकारों से भेंट की । स्वर्गीय यासुनारी कवावाता,

जुनीचीरो तानीज़ाकी, ओयामा, सुगियामा, और मायदे से कवि का परिचय इस यात्रा के बीच में ही हुआ था ।

जापान में ऐसी कई विशेषताएँ उन्हें दिखाई पड़ीं जो भारत की आधुनिक जनता केलिए हितकारी सिद्ध हो सकती है । तकनीकी प्रगति के बीच में भी सांस्कृतिक मूल्यों का संरक्षण एवं निर्वाह जापान की सबसे बड़ी विशेषता रहती है । इस बात ने अज्ञेय में दृढ़ धारणा पैदाकर दी कि पश्चिमी सभ्यता का बाहरी कंचुक पहन होने पर भी आन्तरिक संवेदन शीलता एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध बनाए रखना मुश्किल नहीं है । अतः आधुनिकता केलिए परम्परा से सम्बन्ध - विच्छेद करने की ज़रूरत नहीं है । ऐसा करना आत्म घातक भी है । जापान की युद्धानन्तर पीढ़ी में परिलक्षित परम्परा - विच्छित्ति ने जिस मूल्य - संघर्ष और तज्जन्य अस्थिरता को जन्म दिया है, वह इस बात की ओर संकेत करती है, कि प्राचीन मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा ही स्थिरता का एक मात्र उपाय है । सांस्कृतिक व्यक्तित्व को नष्ट करना, किसी राष्ट्र के लिए कितना हानिकारक है, इसका स्पष्ट प्रमाण अज्ञेय को फिलिपीन में उपलब्ध हुआ । वहाँ के बुद्धिजीवी अपनी संस्कृति के प्रतिसचेत नहीं है । उसकी सुरक्षापर वे ध्यान नहीं देते । फलतः पश्चिमी सभ्यता की तरंगों ने फिलिपीन को बेहद स्व - रहित बना डाला । अपनी भाषा पर उनका अभिमान नहीं रहा । वहाँ की भाषा तगा लोग नाममात्र केलिए राष्ट्रीय भाषा है । अपने देश और परिस्थितियों के अनुभवों के प्रकाश में अज्ञेय ने वहाँ के लेखकों को तागालोक आंदोलन शुरू करने और देश की सांस्कृतिक परम्परा को बनाए रखने की प्रेरणा दी । अज्ञेय की दृष्टि में किसी देश के सांस्कृतिक व्यक्तित्व को पश्चिमी सभ्यता के साँचे में ढाला खतरनाक है ।

वियत्नाम की यात्रा, लौटकर रचना कार्य में रत

दक्षिण पूर्वी एशिया के जन जीवन ने अज्ञेय की इस धारणा को दृढ़तर बना दिया । 1957 में अज्ञेय ने वियत्नाम की यात्रा भी की उस समय ही वहाँ के जन जीवन पर मजहबी संघर्ष की काली घटाओं की छाया पड़ते उन्होंने देखा था । इस सैर के बाद अप्रैल 1958 को वे स्वदेश लौट आए और अगले दो वर्ष याने 1960 तक दिल्ली में ही रहे । इस समय उन्होंने यात्रा के द्वारा अर्जित अनुभवों को लिपि बद्ध कर डाला और अनुभूतियों को शाब्दिक अभिव्यक्ति दे दी । 'अरी ओ करुणा प्रभामय' इस समय की रचना है जो 1957 में प्रकाशित हुई । 'आत्मनेपद', 'अपने अपने अजनबी', 'ये तेरे प्रतिरूप' इन ग्रन्थों का अधिकांश भाग भी विश्राम की इस वेला में लिखा गया । इस बीच सुमित्रानन्दन पंत की षष्टिपूर्ति पर हिन्दी के प्रकृति काव्य का संकलन 'रूपाम्बरा' का संपादन भी किया गया (1960 में) । 'तीसरा सप्तक' भी इसी अवधि तक छप गया था ।

प्रयोगवादी अज्ञेय का पूर्ण विकास

1958 से 1960 तक की अवधि कृतिकार अज्ञेय के जीवन में महत्व-पूर्ण है । अब तक वे प्रयोग कर्ता के रूप में हिन्दी साहित्य क्षेत्र में विख्यात हो चुके थे। लेकिन कभी भी साहित्यिक मान्यताओं के व्याख्याता बनकर प्रकट नहीं हुए थे । वे केवल कृतिकार ही रहे । लेकिन प्रयोगवाद और अज्ञेय को लेकर साहित्य में चल रही चर्चा ने उन्हें अपने सत्य के प्रतिपादन केलिए विवश किया । पहले पहल प्रयागविश्वविद्यालय की हिन्दी परिषद के सामने व्याख्याता के रूप में अज्ञेय खड़े हुए । वहाँ निराला के साहित्य पर उन्होंने व्याख्यान दिया । फिर मद्रास के 'अखिल भारतीय सम्मेलन,' में कथा साहित्य की गोष्ठी के अध्यक्ष के रूप में कथा के भारतीय रूप का सांगोपांग विवेचन किया ।

'साहित्यिकी' के सामने 'भारत की प्रतिभा' पर अज्ञेय का भाषण वैचारिक गंभीरता एवं बौद्धिक प्रखरता से परिपुष्ट था । इन व्याख्यानों ने साहित्य - जगत पर अज्ञेय की प्रतिभा की अमिट छाप लगाई है ।

द्वितीय यूरोप - प्रवास, पियेर - चि - वीर के मठ में वास, मसीही संस्कृति में अवगाहन : हिन्दुत्व में निखार

अप्रैल 1960 को अज्ञेय दूसरी बार यूनेस्को के निमंत्रण पर यूरोप चले गए । उनकी अन्तर्मुखी जिज्ञासा इस बार मसीही संस्कृति के आध्यात्मिक पक्ष को पकड़ने की ओर प्रवृत्त हुई । पहली यात्रा के संदर्भ में कार्ल याकर्स के साथ विचार - विमर्श हुआ । उसके आधार पर मसीही संस्कृति का बौद्धिक पक्ष कवि ने गहराई से समझ लिया । अतः अब उस आध्यात्मिक पक्ष का ग्रहण उनका लक्ष्य हुआ । एतदर्थ साधना की गहराई में पैठने की अदम्य इच्छा हुई । वे पेरिस मासीन्यो से मिले । फ्रांस के कट्टर वैधीलिक पादरी पियेर दानियेलु से भी भेंट की । पियेर - चि - वीर- मठ में मौन रहते थे । वहाँ के अध्यक्ष से कभी धार्मिक चर्चा के लिए अवकाश मिल जाता था । चर्चाओं से यह अवगत हुआ कि सीमित काल बोध के अन्दर ही मसीही अनुशासन चल रहा है ।[1] वह विश्व से असंपृक्त है । विश्व या मानवता से उसको सम्बन्धित रखने के लिए ईसाइयत को समूह से बीच कर व्यक्ति में परिमित किया जाए । ईसाइयत की ओर से संसार को प्राप्त अवदान यह है कि दूसरे के पाप का बोझ अपने ऊपर ओढ़ लेना ही परम पुरुषार्थ है । लेकिन पाप को अपने ऊपर लाद लेना, सहज पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार करना मतिभ्रम है । ऐसे, मसीही धर्म के आध्यात्मिक पक्ष का ज्ञान वस्तुतः उनके अन्दर के हिन्दुत्व को अधिकाधिक निखारने में ही सहायक हुआ ।[2]

---

1. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि अज्ञेय : पृ.23
2. वही : पृ.23

तीसरी विदेशयात्रा - अमेरिका का पर्यटन - पेतृक से प्रति अपनेपन की वृद्धि

दूसरी यूरोप - यात्रा केवल दो - तीन महीनों केलिए ही थी। उनकी अगली विदेश - यात्रा अमेरिका के कालिफोर्निया विश्वविद्यालय में भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के अध्यापक के रूप में हुई। यह यात्रा सितम्बर 1961 में हुई। कालिफोर्निया का प्रवास 1964 तक था। पर बीच बीच में वे स्वदेश भी आया करते थे। वस्तुतः अमेरिका से अज्ञेय का कोई मानसिक सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ। वहाँ की आधुनिक सभ्यता के सामने रख कर भारतीय संस्कृतिक व परम्परा को परखने पर भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की चमक घटती दिखाई पड़ी। उनके मन में अपने देश और पेतृक से प्रति अपनापन बढ़ता गया।[1]

अगिन के पार द्वार का प्रकाशन : साहित्य अकादमी से पुरस्कार की प्राप्ति

अमेरिका का प्रवास साहित्यिक रचना और अध्ययन की दृष्टि से महत्व-पूर्ण नहीं था। अमेरिका से दिन आन्तरिक अनुभव की नयी प्रक्रिया की दृष्टि से ही अधि-कारपूर्ण है। अपने अकेलेपन की निष्ठिता में ही अज्ञेय पूर्णतः भारतीय बन सके। 'अपने अपने अजनबी' 'एक बूँद सहसा उछली' और 'अगिन के पार द्वार' इस बीच प्रकाशित हुए। इसप्रकार निरंतर परिश्रम और मानसिक उलझ - पुलझने उन्हें अपने स्वास्थ्य पर ध्यान रखने न दिया। उनका स्वास्थ्य बिलकुल खराब हो गया था। अमेरिका से चल दे 1964 जुलाई में भारत लौट आए तो दिल का दौरा हुआ। पत्नी व पत्ता की सेवा और अपने आत्मविश्वास के बल पर वे रोगमुक्त हो सके। 1964 में कविता संग्रह 'अगिन के पार द्वार' पर पुरस्कार देकर साहित्य अकादमी ने अज्ञेय को सम्मानित किया।

---

1. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि अज्ञेय - पृ.23

दिल्ली का दौरा, अस्तित्व की अनिश्चितता का तीव्र बोध कष्ट सहन की समर्थता और समर्पण की वृद्धि

सांपत्तिक स्वत्व लाभ ने अज्ञेय की स्वतंत्र कार्यव्यापार से कई प्रकार से रोक दिया। यह स्थिति अज्ञेय में मानसिक परिवर्तन का हेतु हुई। शील उनका स्थाई भाव हुआ। कष्ट - सहन की समर्थता शायद बढ़ गई। कर्तव्य के प्रति पूर्वापेक्षा जागरूक हो गए। और कम्प्रोमाइज में पूर्व आत्म समर्पण स्वीकार किया गया, मानो अस्तित्व की अनिश्चितता के प्रति ने पूर्वापेक्षा सचेत हुए हों।

दिनमान का सम्पादकत्व

इस कारण, अपनी पत्नी और मित्रों के विरोध की परवाह किए बिना वे दिनमान पत्रिका के सम्पादक बने। 'दिनमान' में काम करने के पीछे कुछ साहित्येतर उद्देश्य भी रहा था। एक तो यह कि वे हिन्दी पत्रकारिता के स्तर को ऊँचा उठाना चाहते थे।[1] दूसरा तो, वे सहृदय पाठकों के दायरे से बाहर जनसाधारण के मध्य में भी स्वयं ग्रहणीय बनना चाहते थे[2] और दिनमान को उसका सबल माध्यम समझते थे। एक सजग नागरिक की हैसियत से देश के प्रति अपना दायित्व निभाना भी आवश्यक लगा।[3] उन्होंने देखा कि पेशेवर राजनेताओं के हाथों में पड़कर देश अधः पतन की ओर सद्यःगति से जा रहा है। जनता को इस अधः पतन के प्रति सचेत करना आवश्यक था।[4] उसके हेतुभूत राजनेताओं के विरुद्ध आवाज़ उठाने का सशक्त माध्यम बना दिनमान।[5] अज्ञेय की अपनी

---

1. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि अज्ञेय : पृ.26
2. वही - पृ. 26
3. वही - पृ.26
4. वही - पृ.26
5. वही - पृ.26

राष्ट्रीय प्रतिबद्धता यही रही । पत्रकारिता के इन दिनों में ही भाषा की शक्ति और सिद्धियों के मौलिक तत्वों पर विचार करने का अवसर कवि को मिला, (काव्य भाषा की नहीं) । उन्होंने अनुभव किया की हिन्दी भाषा की नींव अन्य भाषाओं के ही समान उसकी प्रेषणीयता में है । प्रेषणीयता ही भाषा की आन्तरिक शक्ति है ।[1] अतः यह प्रेषणीयता भाषा के प्रयोक्ता (उपयोक्ता) की रुचि, उद्बुद्धता एवं जिज्ञासा की व्याप्ति पर निर्भर है ।[2] अतः हिन्दी की प्रेषणीयता बढ़ाने के लिए नाना विषयों में पाठकों की जिज्ञासा और रुचि को बढ़ाने लायक लेखों और अन्य रचनाओं का सृजन हिन्दी में हो । इस दृढ़ धारणा के बलपर अज्ञेय ने अपनी कल्पना शक्ति एवं संगठन क्षमता और मनोनियोग के द्वारा दिनमान को भारत की श्रेष्ठ पत्रिका बना डाला ।

साधारण तौर पर दुनिया की चलती बातों के वर्णन से परे 'दिनमान' ने पत्रकारिता का एक परिमार्जित संस्कार पाठकों को दे दिया । भारतीय राष्ट्रीय विचार - धारा का व्यक्त एवं मूर्त और स्वतः पूर्ण रूप पाठक के मन में दृढ़ हो जाय, यही उनकी इच्छा थी । इसप्रकार उन्नत आदर्श से प्रेरित होने के कारण 'दिनमान' पत्रिकाओं में कुछ अलग व्यक्तित्व पा सका ।[3] लेकिन स्वयं 'दिनमान' उनका लक्ष्य नहीं था । अतः 'दिनमान' के उत्तरदायित्वों से अपने को हमेशा के लिए सम्बद्ध रखना उनके लिए मुश्किल था । जब उनको लगा कि राजनैतिक प्रतिबद्धता की दृष्टि से अपना कर्तव्य निभ गया तो वे तुरंत ही उससे अलग हो गए ।

इष्ट जन वियोग और दुःख के दिन फिर

इस बीच (1965 में ही) अज्ञेय के जीवन में दो - तीन दुःख पूर्ण घटनाएँ हुईं । उनका छोटा भाई पूर्वानंद अपनी जीवन लीला समाप्त कर चला गया ।

---

1. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि अज्ञेय : पृ.26
2. वही - पृ.26
3. वही - पृ.26 - 7

तुरन्त बाद उनके आत्मीय दद्दा मैथिलीशरण गुप्त स्वर्गवासी हो गए । साथी मुक्ति बोध का निधन भी इसके पीछे हुआ । इष्ट जनों का वियोग जन्य दुःख एक ओर उनके हृदय पर गहरी चोट पहुँचा रहा था तो दूसरी ओर भाई की मृत्यु ने परिवार के दायित्व का भार उनके कंधों पर लाद दिया । अज्ञेय पूर्वाधिक शीघ्रग्रस्त और उत्साह हीन हुए । दुःख जन्य शान्त भाव निर्वेद की स्थिति में पहुँच गया । निर्ममता एवं आत्मसमर्पण की भावना बढ़ गई।

पूर्वी यूरोप की पहली यात्रा

1966 में अज्ञेय पहली बार पूर्वी यूरोप के पर्यटन के लिए निकले । जिसप्रकार पूर्वी यूरोप के राजनैतिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों को जानने की इच्छा उनमें हुई थी, उसीप्रकार वहाँ के साहित्यिकों में भी भारत के सांस्कृतिक उत्कर्ष की जिज्ञासा जागृत हुई । शासकीय माध्यमों के द्वारा भाव का जो चित्र उन्हें उपलब्ध था, वह बहुत कुछ पूर्वाग्रह ग्रस्त, एकांगी और अधूरा था । इससे वे तृप्त नहीं थे । जिज्ञासा की पारस्परिक निवृत्ति के बीच में यूगोस्लाविया के नोबिल पुरस्कार विजेता आन्द्रिच और स्लोवेनी कवि मातिर बोर से अज्ञेय की मुलाकात हुई । वहाँ उन्होंने हिन्दी कविता एवं उपन्यास के यूगोस्लाव अनुवाद किए , और यूगोस्लाव कविता और उपन्यासों के हिन्दी अनुवाद की योजना भी बनाई । साहित्य की अनेक परम्पराएँ और अनेक भाषाएँ और उपभाषाएँ रखनेवाली यूगोस्लाविया की स्थिति एक हद तक भारत की जैसी है, यद्यपि राजनैतिक स्तर पर स्थिति अलग है ।

भारत लौटने पर अज्ञेय 1967 जनवरी तक यहीं रहे । इस बीच बीकानेर, अजमेर, शिमला, दिल्ली और एर्णाकुलम के आयोजनों में भाग लेते रहे । एर्णाकुलम के अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन में वे अध्यक्ष रहे थे । इन अधिवेशनों में उन्होंने समस्त भारतीय उपलब्धि के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक हिन्दी साहित्य पर अपने विचारों को दृढ़ता-पूर्वक स्पष्ट किया । भाषा - शैली की स्पष्टता के अतिरिक्त अज्ञेय में अपनी भाषा की अस्मिता के बोध की तीव्रता भी इन अधिवेशनों के सदस्यों को अनुभूयमान हुई । उनकी दृष्टि में

अंग्रेज़ी "अधिक से अधिक भारत के अभारतीय जन की भाषा है ।"[1] भारत का तादात्म्य इस भाषा अंग्रेज़ी से नहीं हो सकता उन्होंने सोचा ।[2]

अस्ट्रेलिया का प्रवास

1967 जनवरी में " एशियायी देशों में साहित्य विनिमय" विषय पर आयोजित सेमिनार में भाग लेने केलिए वे अस्ट्रेलिया गए । वहाँ चीनी, जापानी, हिन्देशियायी, फिलिपीन्, भारत तथा अस्ट्रेलिया के प्रतिनिधि सम्मिलित थे । उस यात्रा में भारत में वर्तमान अंग्रेज़ी दासता की अधिकता समझ लेने में उन्हें सहायता पहुँचायी । अस्ट्रेलिया तथा अन्य देशों के बीच सामाजिक दृष्टि से तारतम्य का अवसर भी उन्हें मिला । उन सब देशों की परिस्थितियों के सामने अपने देश की स्थिति को रखकर वहाँ की समस्याओं की गहराई में पैठने का मौका भी अस्ट्रेलिया की यात्रा से प्राप्त हुआ ।

जन्म देश में

उसी वर्ष वसन्तर्तु में दिल्ली के मैक्समुलर भवन में आयोजित गोष्ठी में अज्ञेय ने भाषा और अस्मिता क्षेत्र पर निबन्ध प्रस्तुत किया । भारतीय साहित्य की परम्परा को प्रकाशित करने का परिश्रम भी इसी समय शुरू हुआ । उसकेलिए वैदिक साहित्य से लेकर आज तक के भारतीय साहित्य की महत्वपूर्ण रचनाओं का अंग्रेज़ी में अनुवाद आरंभ किया । इसमें उन्हें अपने अंग्रेज़ी कवि मित्र लेमाउनेजन और श्री विश्वनिवास मिश्र से काफी सहायता मिली है ।[3]

---

1. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि अज्ञेय : पृ.28
2. वही - पृ.29
3. वही - पृ. 30

कितनी नावों में कितनी बार का प्रकाशन

1965 - 67 के बीच अज्ञेय के दो काव्य संग्रह प्रकाशित हुए - 'सुनहले शैवाल' और 'कितनी नावों में कितनी बार'। साथ ही 'बयालम' और 'हरी घास पर क्षण भर' की कविताओं को 'पूर्वी' में एकत्रित किया गया। आप का पहला नाटक 'उत्तर प्रियदर्शी' भी इसी अवधि की देन है। 'अपने अपने अजनबी का अंग्रेज़ी अनुवाद ' टू ईच हिस स्ट्रेंजर' (To Each His Stranger) के रूप में इसी अवधि में हुआ। अज्ञेय की साहित्यालोचन - पटुता एवं हिन्दी की नई सर्जनशील के निदर्शन के रूप में आप का 'हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' इस बीच सामने आया। भारतीय साहित्य के विविध पक्षों पर अंग्रेज़ी में निबन्ध - पुस्तिका तैयार की गई।

1967 के उत्तरार्द्ध में 'पूर्वी - सूर्वी' बिहार की देखने के लिए वे निकले। भीषण मानवीय संकट के प्रत्यक्ष दर्शन के द्वारा रोमांचानुभव प्राप्त कर उसके साझीदार होने के उद्देश्य के साथ साथ ऐसी अप्रत्याशित दुर्घटना की ओर सदय संवेदनशील लोगों का ध्यान आकृष्ट करना भी उनकी बिहार यात्रा का लक्ष्य था। इसप्रकार अज्ञेय में सतत जाग्रत संवेदनशील मनुष्य और समाज से प्रतिबद्ध पत्रकार दोनों चरितार्थ हुए। उन्होंने उस दुर्घटना के कलापूर्ण चित्र खींचकर दिल्ली में प्रदर्शित किए। अपनी पत्रिका 'दिनमान' के द्वारा उन्होंने पढ़े-लिखे आदमी को ऐसे गहरे संकट की भीषणता समझाने और उसमें ऐसे संकट के सम्बन्ध में लज्जा और दुःख जगाने की कोशिश की।

युगोस्लाविया की यात्रा

1968 के फरवरी अन्त तक वे भारत में ही रहे। उसके बाद वे फिर यूरोप की सैर - पर निकले। इसबार भी युगोस्लाविया गए। वहाँ बेलग्रेड में उन्होंने भारतीय साहित्य पर भाषण दिए। युगोस्लाविया की मुख्य भाषा सर्बियायी में उनकी कविताओं का अनुवाद किया गया और एक संग्रह प्रकाशित भी हुआ। युगोस्लाविया से अज्ञेय चेकोस्लोवाकिया गए। वहाँ के साहित्यकारों के साथ समसामयिक मानवीय समस्याओं पर चर्चा हुई।

बर्कले में कालिफोर्निया विश्वविद्यालय में रीडर्स प्रोफेसर

1969 के प्रारंभ में कालिफोर्निया विश्वविद्यालय, बर्कले में 'रीडर्स प्रोफेसर' के पद के लिए अज्ञेय को आमंत्रित किया गया। बर्कले में उन्होंने 'काव्य कविता से दृश्य कविता तक' शीर्षक पर भाषण माला प्रस्तुत की। इन व्याख्यानों के दौरान उन्होंने कविता के आविष्कार के फलस्वरूप कविता के स्वरूप पर आए परिवर्तन पर प्रकाश डाला। और काव्य में मानवीय आत्मीयता की पहचान करायी। कालिफोर्निया में मार्च तक रहे। उसके बाद शिकागो विश्वविद्यालय चले गए। 'भाषा और अस्मिता' तथा 'आख्यान में काल की समस्या' पर वहाँ व्याख्यान दिया गया। इस भाषा में विभिन्न संस्कृतियों में मानव के विभिन्न अनुभवों में काल की अवधारणा के वैशाल्य का सूक्ष्म एवं सर्वांगीण विवेचन किया गया।[1] कवि की कल्पना यह है कि भाषा केवल सामाजिक प्रश्न नहीं बल्कि वह व्यक्ति से संबन्धित समस्या है।

विस्तृत यूरोप पर्यटन और व्याख्यान - परम्परा

शिकागो में चन्द दिनों बिताने के बाद पुनः बर्कले लौटे और जून के मध्य तक वहीं ठहरे। 1969 जून - जुलाई में फिर से देशाटन में लग गए। इस बार स्वीडेन, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड, स्विट्जरलैंड, इटली और ग्रीस आदि देश उनकी यात्रा की परिधि में आए। दृश्य - दर्शन की साधारण - कुतूहलता से अधिक इस यात्रा का कुछ और उद्देश्य था। आधुनिक यांत्रिकता के दुर्वहभरा के दबाव से उत्पन्न नई सांस्कृतिक परिस्थिति का दर्शन इस यात्रा का मुख्य लक्ष्य था। इस पर्यटन से विराम लेकर वे अगस्त 1969 में भारत लौट आए। सितम्बर में 'दिनमान' से त्यागपत्र देकर वे फिर अक्टूबर में

---

1. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि अज्ञेय : पृ.32

बर्कले चले गए । इसके आस पास हिन्दी सम्मेलन के द्वारा 'साहित्य - वाचस्पति' की उपाधि से वे सम्मानित हुए थे । बर्कले में वह और साहित्य के संरचनात्मक और आस्वादपरक समीक्षा से सम्बद्ध विषयों पर उन्हें व्याख्यान देना था । अध्यापन का विषय मुख्यतः तीन रहे - आधुनिक उपन्यास, अंतः सांस्कृतिक संप्रेषण, और काव्य का आस्वाद । इसके साथ पूर्वाश्रम 'प्राचीन भारतीय कविता के अंग्रेज़ी रूपान्तर का कार्य पूरा किया गया । बीच बीच स्वाध्ययन केलिए भी काफी अवकाश उन्होंने पा लिया था । विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं के अध्ययन के द्वारा भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को पकड़ पाने का अवसर उन्हें मिला । इसप्रकार विदेश के प्रवास तो काव्य रचना केलिए नई ज़मीन तैयार कर लेने में उन्हें सहायक सिद्ध हुए हैं । लेकिन इसके बीच ही, उनके पारिवारिक जीवन में कुछ दुःखद तनाव होने लगे थे और इसके परिणाम स्वरूप 1969 में कपिलाजी से अज्ञेय अलग हो गए । पारिवारिक जीवन की इस बेचैनी और विकलता की छाया उनकी तत्कालीन कविताओं में परिलक्षित होती है ।

1970 जून तक बर्कले विश्वविद्यालय में रहने के बाद अज्ञेय मेक्सिको गए । वहाँ उन्हें प्राचीन अमेरिकी संस्कृति के नमूनों को देखने को मिले । साथ ही वहाँ के जन जीवन पर स्पेनी संस्कृति के माध्यम से उसी भारतीयता का प्रभाव भी उन्होंने पाया जो भारतीयों के स्वभाव में भी उपलब्ध है । मेक्सिको की यात्रा के अनन्तर एक एक महीने इंग्लैंड, जर्मनी, इंग्लैंड और ग्रीस में रहे । जर्मनी में बोन और हाइडलबर्ग विश्वविद्यालयों में 'समाज में लेखक की भूमिका', 'साहित्य में समय बोध, और 'काव्य में संप्रेषण की समस्याएँ' - इन विषयों पर भाषण दिए । ग्रीस में ऐथेन्स नामक स्थान पर रहे । प्राचीन ग्रीक कविता के वातावरण को आत्मसात करके कवि ने अनेकों सुन्दर कविताओं का प्रणयन किया है ।

अमेरिका में अज्ञेय : भीड़ में अकेले

यद्यपि अज्ञेय अमेरिका में काफी लम्बी अवधि तक रहे और अध्ययन-अध्यापन के कार्यों में लगे हुए थे, फिर भी अमेरिकी संस्कृति एवं जन जीवन से वे विलमिल नहीं सके । घोर गृहातुरता की भावना ने उन्हें पकड़े रखा । अतः भीड़ में अकेले ही थे ।

तुरन्त ही उनका मन अमेरिका से ऊब गया था । वे एक प्रकार से विरक्त हुए । इस कारण 1970 के अन्त में भारत लौट आने पर वे 1971 जून तक दिल्ली में अपने अवैतनिक से दीक्षित में बद्ध रहे । अपनी स्वतंत्रता की सीमा में बंध रहकर अध्ययन की साधना करके व्यक्तित्व को सुगठित एवं परिपुष्ट बनाने का यह अच्छा अवसर ही हुआ । अपनी उद्गारों को वाणी देने से भी वे इस समय अलग ही रहे । फिर भी 1971 मार्च में विक्रम विश्वविद्यालय ने इस अनन्य साहित्य - व्यसनी को डी. लिट. उपाधि देकर सम्मानित किया ।

जोधपुर विश्वविद्यालय में प्रोफेसर

तदनन्तर 1971 जुलाई में जोधपुर विश्वविद्यालय में तुलनात्मक साहित्य के प्रोफेसर के पद पर वे नियुक्त हुए । तुलनात्मक साहित्य के साथ साथ भाषानुशीलन सम्बन्धी कार्यों के वे निदेशक भी थे । इस पद को स्वीकार करते हुए उनका विचार था कि भाषाओं और संस्कृतियों के संवाद की बात भारतीय परिवेश पर अधिक सार्थकता के साथ की जा सकती है, लेकिन व्यावहारिक क्षेत्र में बात उतनी आसान नहीं थी जितनी कि अज्ञेय ने समझी । यद्यपि अपनी दृष्टि के अनुकूल तुलनात्मक साहित्य विभाग के विकास के लिए आवश्यक रूपरेखा तो उन्होंने तैयार की, लेकिन तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियाँ एवं तकनीकी रुकावटों(बाधाओं) के चंगुल में पड़कर उनकी आकांक्षा कार्यान्वित नहीं हो पायी । इस कारण साल भर की नौकरी के बाद 1972 सितम्बर में उन्होंने वहाँ से त्यागपत्र दे दिया ।

टोक्यो - यात्रा

नवंबर 1972 में वे टोक्यो गए । वहाँ उस समय जापानी अन्त - राष्ट्रीय सम्मेलन सम्पन्न हो रहा था । उस सम्मेलन में उन्होंने " प्राचीन संस्कृति और धर्म" शब्द की अध्यक्षता की । वहाँ से लौटकर दिसम्बर 1972 में मोटर गाड़ी से राजस्थान की लम्बी यात्रा की । इस बीच जयपुर में 'काल बोध' पर लम्बा व्याख्यान देने का अवसर भी मिला ।

' एवरीमैन ' का सम्पादकत्व

1972 के अन्त और 1973 के प्रारंभ की अवधि में श्री जयप्रकाश - नारायण के आग्रह पर अंग्रेज़ी में प्रकाशित एक नए वैचारिक साप्ताहिक ' एवरीमैन '(EVERY MAN) का सम्पादकत्व अज्ञेय ने स्वीकार किया, करीब एक साल वत्सिर 'एवरीमैन की सेवा में वे लगे रहे । इसके अन्दर उस साप्ताहिक की एक निश्चित रूप (सुगठित कलेवर) प्राप्त हुआ । उसका वास्तविक मूल्य भी बढ़ गया । 1973 दिसम्बर में परिस्थितिवश उन्हें उस पद से स्वयं अलग होना पड़ा । इसके पश्चात उन्होंने अपने मित्रों और सहकर्मियों के साथ चर्चा करके 'प्रतीक' के पुनः प्रकाशन पर विचार किया । फल स्वरूप 1973 दिसम्बर से 'नया प्रतीक' प्रकाशित होने लगा । वह भी पहले की तरह नई पीढ़ी की नई आकांक्षाओं और नई प्रतिभाओं की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम सिद्ध हो गया था ।

भारत - पर्यटन फिर : काव्य - संग्रहों का प्रकाशन

भारतीय कला और प्राकृतिक सुषमा के चिरन्तन आकर्षण में पड़कर 1973 और 1974 में अज्ञेय कुमार्यू के पार्वतीय प्रदेश और दक्षिण के दक्षाओं के पुनः दर्शन वत्सिर निकल पड़े और कला एवं प्रकृति से अपने लगाव को पुनः ताज़ा कर लिया । प्रकृति के इस विलोभनीय सौन्दर्य ने एक ही वर्ष में कई बार उनसे कुमार्यू की यात्रा करायी । और नन्दादेवी की उपत्यका की छटा पर कई कविताएँ भी लिखा ली । प्रकृति और सागर की चैतन्यपूर्ण सुषमा में को निहारते वक्त भी उनका मन भारत पर होने वाले दूरगामी राजनैतिक परिवर्तनों और समाज में व्याप्त होनेवाली खतरनाक मूल्यहीनता से आलोकित भी रहता था । तीन कविता संग्रह - " बावरा अहेरी, (1969), 'सागर मुद्रा' (1970), 'पहले मैं सन्नाटा बनता हूँ " (1973) - और 'सिंधु का गद कोरे'(1973) नामक विचारात्मक लेखों का संग्रह, रचनाकार के स्वतंत्र टिप्पणी 'भवन्ती'(1973) और 'अन्तरा' का प्रकाशन इस बीच हुआ था । इस समय की रचनाओं में परिस्थितिजन्य बेचैनी और अस्थिरता

आन्तरिक पक्ष में स्पष्ट परिलक्षित है । और भाषा का ठेठपन आदरी विशेषता के रूप में दृष्टिगत है ।

जर्मनी के हाइडल बर्ग विश्व विद्यालय व्याख्यान माला की तैयारी

1976 की राजनैतिक परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं थीं । इसलिए उस वातावरण से मुक्त होने के लिए उन्होंने जर्मनी के हाइडलबर्ग विश्वविद्यालय का निमंत्रण स्वीकार किया । वहाँ वे जर्मन विचारधारा का बहुत निकट का परिचय प्राप्त करने के कार्य में लगे और साथ ही एक व्याख्यान क्रम भी तैयार करने लगे । इसमें अपने पहचाने भारतीय व्यक्तियों की जोड़ी तस्वीर रखकर तारतम्य का प्रयत्न है । (एक ही क्षेत्र के दो विशिष्ट व्यक्तियों को आमने - सामने रखकर उनके पारस्परिक अन्तरों को प्रकाशित करने की चेष्टा की गई है)। जोड़ियों के इस क्रम में राहुल सांकृत्यायन और हीरानन्द शास्त्री (पुरातत्व वेत्ता), जयप्रकाश नारायण और नरेन्द्र देव (राजनैतिक विचारक), रामकृष्ण दास और नन्द लाल बोस (कलामर्मज्ञ), सुमित्रानन्दन पंत और निराला (कवि), यशपाल और आज़ाद (क्रान्तिकारी) आदियों के चित्र हैं । हाइडल बर्ग में रहते समय उन्होंने अपने देश की मौलिक परम्परा को [illegible] पहचान लिया । आधुनिक परिस्थिति में संप्रेषण की समस्या की जटिलता भी गंभीर चिंतन का विषय हुई । प्राचीन और नवीन के अध्ययन के द्वारा समकालीनता को विशाल परिप्रेक्ष्य में देखने का सुअवसर उन्हें मिला । इसका फल यह हुआ कि भारतीय जीवन दृष्टि के आधारभूत शाश्वत मूल्यों की वर्तमान परिस्थिति में अनिवार्यता का बोध उनमें दृढतर हुआ और उनके प्रति उनमें पहले जगी आस्था तो प्रबल हो गई ।

हाइडल बर्ग में साहित्यिक परिश्रम

चिंतन और अध्ययन के द्वारा अपनी भारतीयता को तेज और मंजी हुई बनाने के साथ साथ हाइडल बर्ग में अनेक साहित्यिक कार्यों में भी बराबर लगे रहे । उनकी कविताओं का एक अनेकांकित संकलन (हिन्दी मूल - सहित जर्मन - अनुवाद) ठौर-ठिकाने

(स्टेंगा - आटे) प्रकाशित किया गया। जर्मनी के लेखक हाइने, गोटिंगलिन, ब्रिखे, गाटफ्रीड बेन, ट्रेल आदि की कविताओं का जर्मन से हिन्दी में काव्यानुवाद किया। वहाँ से वे ग्रीस के रोड्स द्वीप से होकर 1976 सितम्बर भारत लौटे।

पुनः भारत में - तत्कालीन परिस्थितियों के प्रति प्रतिक्रिया

भारत की तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति में परिवर्तन हुआ नहीं था। अज्ञेय जैसे व्यक्ति के लिए यह स्थिति दुःख और लज्जा की बात रही। अतः उससे संघर्ष करने जैसे वे मैदान में उतरे। लोकसभा चुनाव के पहले उन्होंने देश के बुद्धिजीवियों को संगठित किया। उनके मत में 1976 की राजनैतिक परिस्थिति की दासता को पहचानने के साथ साथ ऐसी परिस्थितियों की फिर संभावनाओं को भी दूर करने जैसे लोगों को सजग रहना आवश्यक है। नागरिक के रूप में इस काम को अपना दायित्व समझकर (न कि 1977 की सरकार उनके लिए स्वीकार्य है, या वे सरकार जैसे अधिक वरेण्य है), उन्होंने 1977 अगस्त में नवभारत टाइम्स के सम्पादक का काम स्वीकार किया। उनका विचार था कि विवेकिता का स्वर अनसुना न रहे।

सृजनात्मक कार्य

इस बीच में अज्ञेय ने अपने सृजनात्मक कार्यों की मौलिकता पर किसी प्रकार की आंच आने नहीं दी, लेखन - कार्य बराबर चलता रहा। 'अपतन', 'बीज-विधी', आदि लेख - संग्रह और ' महावृक्ष के नीचे ' नामक काव्य - संग्रह (1977) और संवत्सर नामक काल सम्बन्धी रचना का प्रकाशन इस अवधि में हुआ था। 'चौथा सप्तक' का सम्पादन प्रकाशन भी हो चुका है। वे कन्नड - साहित्य सम्मेलन द्वारा भी सम्मानित हुए हैं। 'संवत्सर' वास्तव में अज्ञेय की सूक्ष्म दृष्टि, गंभीर तात्विक चिंतन, विवेचन की कुशलता

आदि का उत्तम निदर्शन ही है । उसमें बाहरी जीवन और साहित्यिक जीवन में काम की अवधारणा की विवेचना का सफल प्रयास किया गया है, अपने असुलझनीय साहित्यिक व्यक्तित्व एवं योग्यता के अंगीकार के रूप में 1978 में वे प्रेस कमीशन के सदस्य मनोनीत भी हुए हैं।

यह सही अज्ञेय की जीवन यात्रा की रूप रेखा, कवि के जीवन के इस सामान्य अवलोकन से हम उनके व्यक्तित्व के कुछ ऐसे पहलुओं से परिचित हो सकते हैं जो उनके कृतित्व के मूल में वर्तमान हैं और जो उन्हें अपने समकालीनों से अलग कर दिखाते हैं । वस्तुतः कृतित्व में दृष्टिगत नूतनता एवं अजनबीपन उनके व्यक्तित्व की इस अद्वितीयता के पार्श्वप्रकाश में ही सुबोध एवं सार्थक हो सकते हैं । इसका कारण यह है कि किसी भी कवि काव्य स्वरूप उसके व्यक्तित्व की प्रकृति पर आश्रित होकर गठित होता है ।[1]

' सदेजाति '

अज्ञेय के व्यक्तित्व की सब से बड़ी विशेषता उसकी गद्यात्मकता है । वह उनके व्यक्ति - स्वरूप (personality) का अटूट अंग ही माना जाय । ' लय - युक्त गति '[2] के प्रति वचन में ही उत्पन्न सहज आत्मकेन्द्रित कवि की इस आन्तरिक विशेषता का बहिःप्रकाश ही हो सकता है । यह है उनकी सारी उपलब्धियों के पीछे की चालक शक्ति भी । उसने, न जाने, उन्हें कितने ही ' नए अनजाने पानी में '[3] धुला दिया है ?

---

1. Herbert Read: Form in Modern Poetry. P. 5

2. अज्ञेय, लिखि कागद कोरे, - अज्ञेय अपनी निगाह में शीर्षक लेख - पृ.25

3. अज्ञेय, कितनी नावों में कितनी बार, पृ० 90.

इस आकर्षण की तीव्रता और महत्व हम तभी समझ सकते हैं, जब हम जानते हैं कि आज का अज्ञेय - व्यक्ति की अद्वितीयता के समर्थक, विचारक और सम्मान्य के प्रतिष्ठापक कवि अज्ञेय - बचपन का 'संगीथी', 'समाज भीरु' और 'एकान्त प्रिय शिशु' था।[1] 'घुमती भुमीरी' के घुमाव में विश्व प्रपंच की लय को ताड़ लेने की क्षमता और उसी लय युक्त भाषा में निबन्धित करने की सहज शक्ति चार वर्ष की आयु के बालक ने अबोध-पूर्वक प्रकट की तो उसका कारण भी इस आन्तरिक आवेग के बिना क्या हो सकता है ?[2]

अनावेग योग की स्थिति साधना

गज्जर आवेग की इस विशेषता के साथ उनके व्यक्तित्व के मूल में आवेग हीनता की वृत्ति सदैव प्रवृत्त रहती है। अज्ञेय की बाल्यकालीन जीवन परिस्थितियाँ ऐसी मनोवृत्ति के विकास में सहायक थी। मातृवात्सल्य काफी मात्रा में उन्हें प्राप्त नहीं था, भ्रातृप्रेम के स्थान में उन्हें मिली ईर्ष्या और अपनी आन्तरिक सम्पदा की अवहेलना।[3] संभव था उनका व्यक्तित्व कुण्ठित हो जाए। इस परिस्थिति में माँ और भाइयों से अलग होकर ननिहाल के चिरसाहचर्य में पिता के पास उन्होंने शान्ति और आन्तरिक सुरक्षा का अनुभव किया। पिता की संगति के नैरन्तर्य ने उनको विपरीत परिस्थितियों से जनित मानसिक कुंठाओं से मुक्त रखा और पिता की छाया में ही मातृ - भ्रातृ प्रेम की कमी को वे पूरा कर सके। जिज्ञासु बालक के सामने पिता साधारण पिता के स्तर से ऊँचा उठकर आदर्श की स्थिति को पहुँच गए थे। उस आदर्श से वे निरंतर अनुशासित एवं परिचालित रहे हैं। पन्द्रह वर्ष की बनी स्थितता की इस अवधि ने साहचर्य के सहज सौहार्द से, स्निग्ध छुटे

---

1. लिखि कागद कोरे - पृ.23
2. अज्ञेय, आत्मनेपद - पृ.20
3. अज्ञेय वही - पृ.183

व्यवहार से अज्ञेय को वंचित रखा तो अज्ञेय उससे अभ्यस्त ही हो गए । कालान्तर में यह अलगाव उन्हें लाभदायक ही सिद्ध हुआ क्यों कि एक स्थान पर वे कह देते हैं कि " एक गहरे स्तर पर एक अव्यक्त और अमुखर जीवन हमें बांधे हुए है ऐसा मैं मानता हूं - उतना ही काफी भी समझता हूं - व्यक्ति उतना शक्ति देता है, उससे अधिक भी होता है, वह अवरोध करता है, व्यक्ति के विकास में बाधक होता है ।[1] ऐसी घोर आसंग हीनता के कारण ही एकांतता के बदलते परिवेशों में रखे जाने पर भी अपने सभी कार्य स्वयं कर लेने में उन्हें किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई । स्वाश्रयता बढ़ी, अन्तर्मुखीनता गहरी हुई, सर्वांगीण यायावरी जीवन की स्वाभाविक रीति हुई । यायावर को कहां किससे आसंग ? किसका भय ?

स्वाभाविक है कि अज्ञेय नए परिग्रह जोड़ते गए , लेकिन वे उनकी प्रगति में बाधा नहीं हुए । एकांत प्रियता उनमें इतनी बढ़ गई थी कि अधिक सामाजिकता किसी भी अवस्था में उन्हें असह्य ही थी ।[2] अपनी एकांतता के कंचुक के अन्दर आत्म - साधना में लीन रहना ही वे अधिक पसंद करते थे । यहीं तो वे बिल में कान कोठरी नहीं मांग लेते ।[3]

जैसे गद्यात्मकता उनके व्यक्तित्व का प्रकाशित तत्व है, वैसे एकान्तप्रियता उनके जीवन का स्वभाव ही चुकी है । कहीं चुप रहना किस साधारण मनुष्य के वश की बात है ? विरोध के ये दोनों तत्व उनकी कृतियों में भी लक्षित होते हैं । जब एक ओर - सागर की तरंगित गति उन्हें मोहित करती है । तब पर्वत का स्थिरत्व गांभीर्य उनकेलिए सदैव मनोमोहक है ।[4] अज्ञेय का बहुमुखी व्यक्तित्व ऐसे अनेकों विरोधी पक्षों का समवाय है।

---

1. आत्मनेपद, पृ.182
2. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि अज्ञेय, पृ.11
3. सिंधु कागट कौरे, पृ.24, 25
4. वही पृ.27

' जीवन की खिल्लियाँ उड़ाने ' पर भी जीवन वेसिरे धमेला उत्सर्ग करते रहना, मृत्यु की अनिवार्यता के सामने निर्मूल रहने पर भी मरने से निरंतर वेठना, 'असीम' ईश्वर की अद्वितीयता को यथार्थ स्वीकार करने पर भी असीम से मिलने की आतुरता, उस आतुरता की व्यर्थता से उत्पन्न आकुलता में अस्तित्व की सार्थकता ढूँढना, खण्डित सत्यों की परम चरितार्थता मानना - यह सब अज्ञेय के बहुमुखी व्यक्तित्व में अन्तर्निहित विरोध के बाह्य स्फुरण हैं ।

' कुर्वन्नेवेह कर्माणि - - '

अनासक्त वृत्ति वस्तुतः 'निस्तरंगेऽब्धि' है अज्ञेय में । उनके समूचे चेतनिक व्यक्तित्व में यह कुण्डलित गई है । उन्होंने हिन्दी काव्य क्षेत्र में नई काव्य सरणी का उद्घाटन किया तो वह इसलिए नहीं कि वे युगप्रवर्तक कहलाएँ, बल्कि इसलिए कि परम्परा के प्रति अपना दायित्व निभा सकें । इस कारण प्रारंभ में अपनी कविताओं के विरोध में की गई आलोचना का प्रत्याख्यान करना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा । आलोचकों ने अज्ञेय के इस मौन को धृष्टता समझा । इसका दोष अज्ञेय का नहीं हो सकता है, उन आलोचकों का, जो अज्ञेय को समझने की चेष्टा नहीं करते हैं, या समझने में असमर्थ रहे । अनासक्त अज्ञेय केसिरे दायित्व के प्रति पूर्ण समर्पण है । जिसका दृष्टान्त सब प्राप्त होता है जब दिल का दौरा होने पर भी 'दिनमान' के प्रकाशन के कार्य में पूर्वाधिक लगन और आस्था से वे निमग्न हो जाते हैं ।[1]

इस दायित्व बोध का निर्भीक प्रत्याख्यान फिर कर्णधार हम देख चुके हैं । राजनीतिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी दल के सदस्य की हैसियत से उन्होंने जो यातनाएँ झेलीं, वह दायित्वपूर्ण नागरिक का कर्तव्य ही वे मानते हैं । 1976 में जयप्रकाश नारायण से मिलना और फिर 'नवभारत टाइम्स' के सम्पादक के रूप में किए गए कार्यों में भी यही

---

1. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि अज्ञेय पृ.26

दायित्व बोध प्रवृत्त रहता है । राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य के सामने - नागरिक के दायित्व की ललकार प्राप्त होते ही - ये प्रिय - अप्रिय की चिंता के बिना देश के हितार्थ रण क्षेत्र में उतर जाते हैं । देश के प्रति इसी दायित्व - चेतना ने उन्हें द्वितीय महायुद्ध में सैनिक वर्दी पहना दी थी ।

' जननी जन्म भूमिश्च ' - - -

अपनी जन्मभूमि की लाज रखना नागरिक का कर्तव्य है । भारत अज्ञेय के लिए सागर वेष्ठित और पर्वत परिवेष्टित स्थ भूप्रदेश मात्र नहीं है । यह उनके लिए एक सांस्कृतिक इकाई है । अपने पिता के मुख से प्राप्त सांस्कृतिक पैतृक की बातें, पिता में विद्यमान राष्ट्राभिमान, भाषा - वर्ण सम्बन्धी निष्कर्ष आदि अज्ञेय में पैतृक के रूप में देश प्रेम की भावना को जगाने में समर्थ हुए हैं । साथ ही बालपन के विविध परिवेश ने प्रकृति के विभिन्न रूपों का साक्षात्कार कराकर एक ओर उनमें पूर्वविरासत भावुकता एवं सौन्दर्य चेतना को उद्दीप्त किया तो दूसरी ओर दक्षिण भारत की यात्राएँ और कलाकृतियों के दृश्य भारतीय संस्कृति एवं कला के प्रति उनके मन में श्रद्धा को बढ़ाने में सहायक और वे भारतीय होने का तीव्र अभिमान करने लगे ।

पारम्परागत संस्कृत - अध्ययन के साथ प्राप्त अंग्रेज़ी शिक्षा ने संस्कृति के आधार परंपरा की गहरी समझ देने से उन्हें बचाए रखा और भारतीय संस्कृति की आत्मा को पकड़ पाने में समर्थ किया । भारतीयता की महिमा की चमक बाद में उनके हर प्रवास के समय उत्तरोत्तर बढ़ती रही और वे अधिकाधिक भारतीय होते गए । इसप्रकार अंग्रेज़ी शिक्षा, पाश्चात्य विचारों से परिचय, पाश्चात्य जीवन एवं सभ्यता से सम्पर्क और पश्चिमी दर्शन में अवगाहन ने अज्ञेय को भारतीय संस्कृति एवं चिंतन के मर्म को पकड़ लेने में सहायता पहुँचायी और 'पूर्व भारतीय' बनने में उनको देर नहीं लगी । जैसे विद्या निवास मिश्र कहते हैं -

" जबतक वे पण्डित पिता की काया में पलते रहे तब तक वे बाह्य संस्कारों में स्वदेशी थे, भीतर से वे विदेशी सभ्यता के प्रत्याख्यान लिए विचारों में विदेशी थे । पर सम्मुख वे विदेशी सैनिकों के साथ द्वितीय महायुद्ध में लड़े, जब उन्होंने तीन तीन बार विदेश भ्रमण किया, तब देश की ओर उनका वास्तविक समर्पण हुआ ।[1]

' निज भाषा उन्नति अहै '

देश के प्रति अपने इस समर्पण ने राजनैतिक क्षेत्र में किसी दल से निरूपायिक प्रतिबद्धता से उन्हें अलग रखा और उनका दायित्व पूर्णतः देश के प्रति रहा । इसप्रकार परम्परा के प्रति अपना दायित्व रूढ़िग्रस्तता की जकड़ता से वे नहीं मानते हैं ।[2] पिता की इच्छा के अनुसार संस्कृति के वाहक तो वे हुए क्यों कि वे साहित्य के साधक हैं ।[3] परम्परा से संबद्ध रहने का मतलब गतानुगतिकता के कलंक का पिष्ट पेषण नहीं । शाब्दिक माध्यम का परिष्कार करके नवपरिवेशों से गृहीत नए संवेदनों की अभिव्यक्ति लिए आवश्यक नए अर्थों का संस्कार उसमें भर देने में ही साहित्य और परम्परा का सम्बन्ध चरितार्थ होता है । इस-प्रकार भाषा और संस्कृति के बीच के अटूट सम्बन्ध से अज्ञेय पूर्णतः अभिज्ञ हैं । अतः अंग्रेज़ी पर पूर्ण अधिकार होने पर भी वे उसे अपनी भाषा नहीं मानते हैं । उनकी दृष्टि में अंग्रेज़ी भारत के अभारतीय जन की भाषा है ।[4] अज्ञेय बहुभाषाविद् हैं, फिर भी हिन्दी की सेवा भारत की सेवा मानते हैं ।[5] मातृभाषा के प्रति अपनी इस भावना के कारण ही फिलिपीन के लोगों को अपनी राष्ट्रीय भाषा तगालोग की उन्नति करने का उन्होंने आह्वान दिया है ।[6]

---

1. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि अज्ञेय, पृ.5
2. अज्ञेय, त्रिशंकु, रूढ़ि और परम्परा शीर्षक लेख देखिए
3. आज के लोकप्रिय कवि अज्ञेय, पृ.19
4. अज्ञेय, लिखि कागद कोरे, 'हिन्दुस्तानियम्' लेख देखिए ।
5. अज्ञेय- जोग लिखी : (आंखें देखी और कागद लेखी 'लेख) पृ- 24-36.
6. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि, अज्ञेय, पृ. 21.

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अज्ञेय की चारित्रिक विशेषताएँ उनके व्यक्तित्व के निखार में बाधक न होकर साधक ही सिद्ध हुई है ।[1] वस्तुतः ये उनकी व्यक्ति - स्वरूप की आधार शिलाएँ ही बनी है । वैशिष्ट्यपूर्ण चारित्रिक विशेषताओं के भिन्न पक्षों से गठित उस गतीय (dynamic) व्यक्तित्व के मूल में हमेशा भारतीयता की चेतना स्पन्दित रहती है । पाश्चात्य सभ्यता एवं साहित्य के निरंतर परिचय और पश्चिम की अध्यात्म - साधना की पैठने उनकी भारतीयता को दृढ और क्रान्तिपूर्ण बना दिया है । अपने निजत्व एवं उच्चतर पैतृक के बावजूद भारतीय जनता की मानसिक परा-धीनता, बौद्धिक जड़ता एवं आत्मघाती अलसता का शिकार बनते देख कर अज्ञेय की भारतीय चेतना उद्विग्न हो कराह उठती है - " आखिर हम लोग इतने समर्थ होते हुए भी दूसरों से नकारे क्यों जा रहे है ?[2] " अज्ञेय के ये शब्द उनके अपने मात्र नहीं है, अपितु अपने सपूतों पर समग्र भारतीय आत्मा का आक्रोश भी उनमें मुखर है ।

लेकिन भारतीयता का अर्थ ये यह नहीं मानते कि जो कुछ भारतीयेतर है, उसकी पूरी की पूरी उपेक्षा की जाएँ । पैतृक के रूप में संप्राप्त उदार दृष्टि ने भारतीयता का विशाल अर्थ लेने में उन्हें समर्थ बनाया है । अंग्रेजी शिक्षा ने, जो उन्हें प्राप्त हुई, भारत के आँगन से पार बाह्य दुनिया की ओर द्वार खोल डाला । परम्परा का अर्थ रूढ़िवादिता नहीं, पूर्वजों से एकदम मुक्त रहकर सूक्ष्मतल में उससे सम्बद्ध रहना है । परिणाम यह हुआ कि भारत की सामयिकता (contemporanity) के उजले प्रकाश में परखने की क्षमता उनमें विकसित हो पायी । भारत को विस्तृत विश्व के परिवेश में रखकर समग्र मानवता के अविभाज्य अंग के रूप में देखने और परखने की चेष्टा उन्होंने की ।

---

1. हेरबर्ट रीड चरित्र(character) व्यक्तित्व (personality) के विकास में बाधक कहते है ; (See, Form in Modern Poetry, 'It follows that character must be placed in opposition to personality. P.18. प्रस्तुत अध्ययन में चारित्रिक विशेषता से मतलब से उन मानसिक अवस्थितियों से है, कि सीधारी नियंत्रण से स्वीकृत अनुशासन से नहीं है ।)
2. विद्यानिवास मिश्र : आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि, अज्ञेय पृ.37

खेद की बात है कि इस सत्य को स्वीकार करने की तथा कथित परम्परा-प्रेमी आलोचक तैयार नहीं हुए । अज्ञेय के व्यक्तित्व को सहानुभूति से समझे बिना उनका कृतित्व कैसे अध्ययन का विषय बनाया जा सकता है ? विराट् मानव - जीवन के संदर्भ में अज्ञेय के अपूर्व तेजोमय भारतीय चेहरे पर, भारतीयता की आड़ में छिपा पश्चिमी (यूरोपीय) ही उन्हें दृष्टि गोचर होता है, तो आश्चर्य की बात नहीं है । लेकिन सत्य तो यह है कि अज्ञेय इतने बड़े पारखी हैं कि किसी भी विचार को वे तत्क्षण स्वीकार नहीं करते । अपने दीर्घकाल के अनुभवों और अनुशीलनों से मंजी हुई प्रखर प्रज्ञा की कसौटी पर कसकर ही वे उसे स्वीकारते हैं या नकारते हैं । आगे अज्ञेय के कृतित्व की चर्चा के सन्दर्भ में यह तथ्य और स्पष्ट हो जाएगा ।

दूसरा अध्याय

काव्य : अज्ञेय की दृष्टि में

दूसरा अध्याय

काव्य अज्ञेय की दृष्टि में

(साहित्य - साधना में संस्कृति का संवहन देखनेवाले आधुनिक कृतिकार की परम्परा-संपृक्ति:)

कलाकार का अपना कोई कला - दर्शन हो, यह अनिवार्य नहीं है, और कलादर्शन को सामने रखते हुए ही कोई महान रचना लिखी जा सकती है, अनिवार्य नहीं। लेकिन यह भी सत्य है कि प्रत्येक महान कवि या कलाकार का अपना कुछ दर्शन अवश्य होता है जो उसकी कृति की रूपान्विति पर निरंतर प्रभाव डालता है।[1] अज्ञेय भी इसका कोई अपवाद नहीं है। सामाजिक दायित्व से सजग अज्ञेय की कविता 'काव्यशास्त्र - विनोदन' काल की बितानेवाले तथाकथित बीमारों के मनोरंजन का साधन नहीं है। उसमें युग - चेतना अन्वित रहती है। इसप्रकार कला को दायित्वपूर्ण कार्य माननेवाले अज्ञेय के कृतित्व के पीछे कुछ दृढ आधार उपलब्ध हैं, जिनके अध्ययन के बिना उनकी रचनात्मक उपलब्धियों को समझ पाना मुश्किल है।

अज्ञेय की काव्य दृष्टि

कवि होने के साथ साथ अज्ञेय ऊँचे स्तर के विचारक, और पारखी आलोचक भी हैं। कविता जब उनकी आत्मानुभूत तीव्र संवेदनाओं को सहृदयों की हृदयंगम बना देती है तो उनके विचारात्मक लेख और अन्तःप्रेरणापरक रचनाएँ, मानव जीवन,

---

1. W.B. Yeats. Selected Criticism: Ed. by Norman Jeffarers Pan Books (Macmillan, London, 1970). P.43-44

कला,[1] संस्कृति, समाज एवं राजनीति के सम्बन्ध में उनकी धारणाओं को व्यक्त करते हैं। कला और साहित्य की सांस्कृतिक उन्नयन के कार्य समझनेवाले अज्ञेय की काव्य दृष्टि सामाजिक चेतना से संपृक्त है। यहाँ शंका की जा सकती है कि व्यक्ति की अद्वितीयता के समर्थक[2] अज्ञेय के कृतित्व में सामाजिकता कैसे ढूँढी जा सकती है। इसका उत्तर यह है कि अगर व्यक्ति की अद्वितीयता का समर्थन वे करते हैं तो उसका अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति समाज से अलग रहे अथवा समाज विरोधी हो। इसके बदले अज्ञेय व्यक्तित्व विहीन व्यक्ति को समाज के लिए अनुपयोगी मानते हैं। अपनी अद्वितीयता को बनाए रखते हुए भी समाज के उत्कर्ष के लिए समर्पित होना ही उन्हें वांछनीय है। संस्कृति का परिष्कृत रूप व्यक्ति में होता है, व्यक्ति में विद्यमान सामान्य(सामूहिक) मानसिक तत्व से प्रेरित ऐसे महान कार्य ही संस्कृति का मूल है जो निर्वैयक्तिकता के कारण सर्वोदात्त होते हैं। राष्ट्र की सांस्कृतिक इकाई के रूप में देखने के पीछे अज्ञेय की भी यही धारणा है।[3] यह सांस्कृतिक चेतना अज्ञेय - काव्य के मूल में जीवन्त रहती है। कोटि में, अज्ञेय की काव्य दृष्टि सांस्कृतिक उन्नयन के प्रति आस्था और सामाजिक दायित्व के प्रति सजगता से अनुयुक्त है।

यही कारण है कि सृजन के मूल में आन्तरिक विवशता का अनुभव करनेवाले कवि[4] तत्वतः सृजन की ही कविता का प्रयोजन (सृजन ही कविता का आनन्द)

---

1. तार सप्तक, दूसरा सप्तक, तीसरा सप्तक की भूमिकाएँ, हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य, त्रिशंकु, आत्मनेपद, भेंगी और प्रोत, आत्मपरक आदि अज्ञेय के विचारात्मक लेखों के संग्रह प्रस्तुत करते हैं, तो भवन्ती, अन्तरा और शाश्वती उनकी अन्तः प्रेरणाओं के संकलित कर देती हैं।
2. अज्ञेय : हिन्दी साहित्य: एक आधुनिक परिदृश्य, (साहित्य और आधुनिकता के तत्व लेख देखिए) पृ.18, 131.
3. अज्ञेय : आत्मनेपद : भारतीयता लेख देखिए। हिन्दी साहित्य, एक आधुनिक परिदृश्य पृ.100 पृ.25
4. अज्ञेय : आत्मनेपद ' मैं क्यों लिखता हूँ' - पृ.236

मानते हुए भी कविता की व्याख्या मन का आनन्द - साधन भी घोषित करते हैं।[1] इस एक ही कथन में अज्ञेय का सारा काव्य - दर्शन संगुफित है। कारण कि कृति और ग्राहक के बीच का सम्बन्ध उसमें स्वीकृत हुआ है।

ग्राह्य और ग्राहक के इस सम्बन्ध के संदर्भ में ही अज्ञेय साधारणीकरण को स्वीकार करते हैं। लेकिन रस निष्पत्ति की पूर्वगत मान्यताओं की वर्तमान परिस्थितियों में अप्रासंगिक(असंगत) ठहराकर साधारणीकरण का तत्वतः वे समर्थन करते हैं क्योंकि उसके पीछे का मनोविज्ञान, उनकी दृष्टि में, सार्वकालिक एवं सार्वलौकिक है।[2] टी.एस.इलियट के निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त में भी साधारणीकरण के तत्व का समर्थन ही है क्योंकि जब वे कविता को कवि की स्वतन्त्रता के निमित्त की उपज मानते हैं,[3] तब साधारणीकरण के भारतीय - सिद्धान्त की कल्पना है कि जब कवि का व्यक्तिगत अनुभव उसका अनुभूति प्रवण बन जाता है तब वह अनुभूति प्रवण कवि की व्यक्तिगत सीमा को लाँघकर सामान्य तल की वस्तु हो जाता है। कहने का तात्पर्य है कि वस्तु का साधारणीकरण व्यक्ति की पकड़ की चीज़ नहीं। इससे यह भी

---

1. अज्ञेय : आत्मनेपद 'प्रकृति : अर्थ का विस्तार' लेख - पृ.34
2. " पाठक या भावक के सामने प्रस्तुत की जानेवाली अनुभूति जीवन के अनुभव नहीं है। वह कलात्मक अनुभव है। कवि साधारणीकरण द्वारा जिस अनुभूति का प्रेषण करता है, वह काव्यानुभूति जीवन की अनुभूति से अलग होती है।" "भोगनेवाले प्राणी और सर्जक कलाकार के मध्य सदा एक अन्तर रहता है, और जितना बड़ा कलाकार होता है, उतना ही भारी यह अन्तर होता है।" आत्मनेपद पृ.169. ये भी कहते हैं कि 'He (poet) is not identical with the process of creative formation'.
3. The poet has, not a personality to express, but a particular medium, which is only a medium and not a personality, in which impressions and experiences combine in particular and unexpected ways. Impressions and experiences which are important for the man may take no place in the poetry and those which become important in the poetry may play quite a negligible part in the man, the personality. T.S. Eliot, Selected Essays 1917-1932, New York, 1932. P. 8

सिद्ध होता है कि सृजन के निमित्त में कवि के अहं का विलयन हो जाता है ।[1] अज्ञेय भी कविता के पीछे अहं के विलयन की प्रवृत्ति को स्वाभाविक समझते हैं ।[2]

कला के आन्तरिक तत्व और स्वभाव के सम्बन्ध में इसप्रकार अज्ञेय की धारणाएँ परम्परा से मेल खाती हैं । इसके साथ यह भी देखने लायक है कि कवि कर्म में ग्राहक या सहृदय की अनिवार्य स्थान प्रदान करते हुए वे परम्परा के वहन का दायित्व भी निभाते हैं । अभिव्यक्ति की सार्थकता किसी पर अभिव्यक्त होने में है ।[3] इसका अर्थ यह है कि अभिव्यक्ति का कुछ सामाजिक उद्देश्य अवश्य है । यहाँ अज्ञेय प्रेषणीयता का प्रश्न उठाकर अभिव्यक्ति को संप्रेषण का पर्याय बना देते हैं ।[4] कला का महत्व उनकी दृष्टि में तथ्य को सर्वाधिक समर्थ रूप में ग्राहक तक पहुँचाने में है और उसी में कलाकार की मौलिकता निहित है ।[5]

---

1. 'The emotion of art is impersonal. And the poet cannot reach this impersonality without surrendering himself wholly to the work to be done'. Ibid. P. 11. Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion it is not the expression of personality, but an escape from personality ... 'The progress of an artist is a continual sacrifice, a continual extinction of personality'. Ibid. P. 10.

2. अज्ञेय : आत्मनेपद : 'प्रवृत्ति : अहं का विलयन' लेख देखिए पृ.34
" साधारण का साधारण वर्णन कविता नहीं है । कविता तभी होती है, जब साधारण पहले निजी होता है और फिर व्यक्ति में से बनकर साधारण होता है" अज्ञेय: आत्मनेपद पृ.42.
3. वही : 'प्रयोग और प्रेषणीयता' लेख , पृ.37
4. वही पृ.37
5. " क्या है जो कविता को आवृत्ति नहीं सृष्टि का गौरव दे सकता है ? कवि नए सत्यों को उनसे नए रागात्मक सम्बन्ध जोड़कर नए सत्यों का रूप दे, उन नए सत्यों को प्रेष्य बनाकर उनका साधारणीकरण करे, यही नई रचना है ।" अज्ञेय, दूसरा सप्तक - भूमिका पृ.11

जीवन का अनुभव बौद्धिक स्तर की तलहटी संवेदन तल का स्पर्श करके आत्मा के आलोक में प्रातिभज्ञान से अनुप्राणित हो जाता है, वह कवि के आत्मानुभूत सत्य का रूप धारण कर लेता है ।[1] वह सत्य कवि का कथ्य है । कवि की आन्तरिक विवशता का हेतु भी यही है । यह अधूलाहट कलाकार के अन्दर तब तक बनी रहती है जब तक कथ्य विवशता की तीव्रता के निमिष में अनजाने ही मुक्ति पाता है । किसी न किसी माध्यम से उसे अभिव्यक्त होना ही चाहिए । यह आन्तरिक सत्य कविता की वस्तु है ।[2] वस्तु के अनुरूप शिल्प या संप्रेषण की विधि की अनिवार्यता सर्वस्वीकृत है । विश्व की किसी भी भाषा का साहित्य इसका समर्थन करता है । भारतीय काव्यशास्त्र की छन्द - पद्धति भी इसका दृष्टांत है ।

लेकिन संप्रेषण की विधाओं से सम्बन्धित मान्यताएँ कालातिक्रमी नहीं हो सकती । कारण कि समय की गति के साथ साथ जीवन - परिस्थितियाँ बदलती रहती है, सभ्यता की प्रगति ने मानव की संवेदनाओं में भारी परिवर्तन कर डाला है[3] और डालती रहती भी है । तब इन बदलते नए संवेदनों के संप्रेषण लिए प्राचीन विधाएँ अपर्याप्त हो जाती है और कवि का यह दायित्व हो जाता है कि वह नई विधाओं को ढूँढ ले ।[4] अज्ञेय इस दायित्व के प्रति हमेशा सजग रहे हैं । अतः वे कहते हैं कि " संप्रेषण इसलिए दायित्व-पूर्ण कलाकार की सबसे बड़ी समस्या है ।"[5]

---

1. अज्ञेय : आत्मनेपद : पृ.238
2. वही पृ.165
3. अज्ञेय : हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य पृ.18
4. हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य पृ.23 - 24
5. वही पृ० २०२- २०३

यह समस्या आधुनिक कवि के लिए अत्यंत जटिल है । उसकी संवेदनाएँ एकदम अपूर्व हैं । वे बिलकुल नई हैं । उनका सम्बन्ध व्यक्ति के आन्तरिक जीवन से अधिक है, बाह्य से कम । अतः उन संवेदनों को परम्परागत अभिव्यंजना पद्धति के द्वारा प्रकट करना मुश्किल है । या कहें, पूर्णतः प्रकट नहीं किया जा सकता है । ऐसी स्थिति में एक ओर अभिव्यंजना त्रुटिपूर्ण और अपूर्ण रह जाती है और साथ ही कवि की अनुभूति की मौलिकता पर आघात पहुँचता है । यह स्थिति कवि की प्रतिभा को बाधित करती है । फलतः कवि - कर्म के यांत्रिक और बन्ध्य हो जाने में देर नहीं लगती । इससे स्पष्ट है कि अपने सूक्ष्म संवेदनों के समर्थ संप्रेषण के निमित्त माध्यम पर प्रयोग करना कवि के लिए आवश्यक है । संवेदनों की सहज एवं सशक्त अभिव्यंजना में ही कवि के प्रयोग की सार्थकता निहित है । इसी में कवि की मौलिकता सुरक्षित है, कविकर्म का महत्व सिद्ध होता है । यही कारण है कि अज्ञेय कहते हैं -" कवि नए सत्यों को उनके साथ नए रागात्मक सम्बन्ध जोड़कर नए सत्यों का रूप दे, उन नए सत्यों को प्रेष्य बनाकर उनका साधारणीकरण करे, यही नई रचना है । ऐसे नई कविता का कवि नहीं भूलता, साधारणीकरण का आग्रह भी उसका कम नहीं है । बल्कि यह देखकर कि अब साधारणीकरण अधिक कठिन है, वह अपने कर्तव्य के प्रति अधिक सजग है, और उसकी पूर्ति के लिए अधिक बड़ा जोखिम उठाने को तैयार है ।[1]

यह 'का जोखिम' प्रयोगशीलता के अलावा कुछ भी नहीं है । कला में प्रयोग की अनुपेक्षणीयता के बावजूद यह कवि कर्म का लक्ष्य कदापि नहीं है । यह लक्ष्य की प्राप्त करने के उपाय का अन्वेषण मात्र है । जब अज्ञेय कहते हैं, 'हम राही नहीं, राहों के अन्वेषी है[2] तो बदली परिस्थिति में संप्रेषण की कठिनाई को अनुभव करके साधारणीकरण की आधुनिक समस्या को सुलझाने की उक्त दीखेवाली प्रतिभा की ओर संकेत करते हैं।

---

1. हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य पृ.202, 203(दूसरा सप्तक-भूमिका, पृ.11)
2. तार सप्तक - अज्ञेय से संपादित : पृ.12

प्रयोगशीलता कोई ऐसा नहीं है जो आसानी से किसी में विकसित हो सकता है। वास्तव में वह कवि की प्रतिभा का निकष है।[1] वह कवि का समर्थ साधन है - अपने आत्म - सत्य को ग्राहक तक पूर्णतः प्रेषित करने का। वह ऐसा कोई आदर्श नहीं जो सबकेलिए समान हो। कवि की काबिलियत है वह। कवि की सृजनात्मक शक्ति का परिचायक है। कवि के कथ्य के अनुरूप होने से वह व्यक्ति - व्यक्ति में भिन्न होता है क्योंकि यह सर्वविदित है कि कथ्य या वस्तु जो व्यक्ति के अनुभूति - तल पर उपायित होती है, सब केलिए - सभी पाठकों केलिए समान नहीं हो सकती। सब प्रयोग को, कवि की आन्तरिक विवशता को पहचानने में सहायक और उस विवशता केलिए सत्यानुरूप अनुभूति - राग - सत्य - को सामाजिक तक - समष्टि तक - पूर्णतः (पूर्णता के कई स्तर हो सकते हैं) पहुँचाने में उपयुक्त साधन के रूप में देखना चाहिए। जहाँ प्रयोग इन लक्ष्यों को पाने में असफल रह जाता है, वह प्रयोग सार्थक नहीं, वह ढोंग है, क्योंकि 'प्रयोग केलिए प्रयोग' का कोई अर्थ नहीं।[2] अभिव्यंजन की सफलता में साधारणीकरण निहित है, वैसे संप्रेषण की समर्थता में प्रयोग की चरितार्थता है। प्रयोग वास्तव में प्रतिभा से संबन्धित ही है क्योंकि संवेदन प्रतिभासनाश्रित है और अभिव्यंजन के पीछे भी प्रतिभा की प्रेरणा वर्तमान है।

प्रयोग और आधुनिक कवि

प्रयोग अगर कविता की ग्रेक्षणीयता का अपरिहार्य साधन है तो अज्ञेय केलिए आधुनिक परिस्थिति में उसकी अनिवार्यता सबसे अधिक महसूस होती है। वर्तमान युग की विशेष परिस्थितियों में संप्रेषण कवि की मौलिकता को ललकार रहा है। वह पूर्वापेक्षा जटिल हो गया है। आधुनिक कवि इस कारण प्राचीन कवियों से अधिक बुरी स्थिति में है। वैज्ञानिक क्षेत्र में हुई अभूतपूर्व प्रगति ने जिस यांत्रिक सभ्यता को जन्म दिया है उसने मानव के

---

1. तार सप्तक - अज्ञेय से संपादित : पृ.15
2. दूसरा सप्तक - भूमिका पृ.7 - 8

रागात्मक संबन्धों को विछिन्न ही कर डाला । उसकी हृदयद्युता का कोई मूल्य नहीं रह गया । व्यक्ति की सत्ता मूल्यहीन ठहराई गई । वह राग - विराग हीन यंत्र हो गया । " कहा जा सकता है कि पशु से मनुष्य को पृथक करनेवाला विज्ञान मनुष्य को पशु बनाने लगा ।

यंत्र से मनुष्य को अलग करनेवाला विज्ञान मनुष्य को यंत्र बनाता गया । और नैतिक बोध को निरुपित करनेवाला विज्ञान नैतिकता को संदिग्ध करता गया ।"[1] पीछे में, अस्तित्व की आधुनिकता से सम्बन्धित नए संवेदनों को यांत्रिक सभ्यता के शिकार पड़े समाज पर प्रकट करने वैसिर प्रतिबद्ध आधुनिक कवि अपने को विषम एवं विपरीत परि - स्थिति में देखता है । कारण इसका यह है कि " आज का लेखक अपेक्षतया अधिक चेतन है इसलिए परिस्थितियों के प्रभावों को अधिक तेजी से और अधिक मात्रा में ग्रहण करता है ।"[2] इसके परिणाम स्वरूप, एक दूसरे प्रकार की विषमता उसको घेर लेती है । उसकी आत्म - चेतनता (self-consciousness) नए संवेदनों के स्वरूप को जानने की उसे बाध्य कर देती है जिसके बिना उसका सृजन सम्भव नहीं हो पाता है । स्वयं अज्ञेय के शब्दों में, " उसकी लाचारी ही है कि वह अपनी संवेदना और प्रतिभा से होनेवाली उपलब्धि भर, पाठक, श्रोता या ग्राहक के सामने रखकर संतोषकर लेना चाहे तो भी नहीं कर सकता । वह बाध्य होता है कि इससे आगे वह यह भी स्वयं समझाए कि आधुनिक संवेदना क्या है ? - वह आधुनिक क्यों है ? और संवेदना भी क्यों है ?"[3] इसके समाधान उपाय के रूप में अज्ञेय प्रयोगशीलता की ओर ही संकेत करते हैं । उनकी यह प्रयोगशीलता वैसिर सृजन के स्तर पर ही सीमित नहीं रहती, अपितु वह काव्य वस्तु के अनुसंधान करने में भी अनिवार्य सिद्ध होती है ।

---

1. अज्ञेय : हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य : पृ.21
2. वही पृ.22
3. वही पृ.22

प्रयोग के तीन आयाम

प्रयोग को शैलिक स्तर ही सीमित न रखकर अज्ञेय उसे वस्तु, शैली एवं भाषा - इन तीनों के लिए आवश्यक मानते हैं ।[1] परम्परागत विषयों को वे वस्तु के रूप में स्वीकार नहीं करते क्योंकि वस्तु कवि का कथ्य है ।[2] सभी विषय काव्य के उपजीव्य हो सकते हैं, वे काव्य के लिए कच्चे माल मात्र हैं जो वस्तु की निष्पत्ति में सहायक भी हैं । काव्य का विषय अनिवार्यतः परम्परागत हो या रूढिगत हो, अज्ञेय का यह अभिमत नहीं है। वस्तु कवि का आत्मानुभूत सत्य है, वह कवि का व्यक्ति - सत्य है ।[3] उससे ही कवि का रागात्मक सम्बन्ध है, विषय से नहीं । अतः वह कवि का अनुभूति - प्रकार है । वह विशिष्ट है और साथ ही साथ सामान्यीकृत भी । साधारणीकृत इसलिए कि उसका गठन एक ऐसी मानसिक तह पर होता है जिसपर कवि के अहं का कोई अधिकार नहीं । इस कारण जैसे अन्यत्र सूचित किया, कवि कविता के सृजन के समय तटस्थ है । अतः काव्यवस्तु हमेशा मौलिक ही रहेगी, क्योंकि मौलिकता हमेशा काव्य वस्तु की होती है, विषय की नहीं ।[4]

वस्तुगत प्रयोग

आधुनिक युग में मानव जीवन अधिकाधिक उपरिच्छन्न हो गया है । घनिष्टता उसकी नष्ट हो गई है । जीवन के आभ्यंतर और बाह्य में सामंजस्य का अभाव है। आधुनिक विज्ञान ने मानव और जीवन के अन्दर प्रविष्ट होकर उसकी प्रक्रियाओं का उद्घाटन कर दिया तो मानव यंत्रवत् दिखलायी पड़ा । मानव की महिमा और गौरव के लिए आधार-भूत आन्तरिक पक्ष की उपेक्षा सी की गई । जीवन की यांत्रिक गति समाज का सहज स्वभाव

---

1. हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, पृ.197 -199(परिशिष्ट 5 प्रयोग क्या और क्यों?)
2. वही पृ.199 आत्मनेपद पृ.165
3. वही पृ.200 वही पृ.165
4. वही पृ.202 वही पृ.165

हुआ तो आन्तरिकता से जीवन का सम्बन्ध उठ गया । उपरिष्टवता या सतह की वृद्धि होने लगी और साथ साथ आभ्यंतर का संकोच भी । " अधिक हमारा जीवन सतह पर आ जाता है उतना ही सतह बढ़ती जाती है, अर्थात् उसके अनुपात में आभ्यंतर जीवन उतना ही छोटा होता जाता है ।"[1] यह अवस्था कवि के संवेदन में विभाजन उत्पन्न करती है । जीवन के बाहर और भीतर की इस खण्डित स्थिति के यथार्थ को समझ लेकर उसकी गहराई तक पैठकर, 'सतह और गहराई के विरोध' को दूर करना - विभाजन को दूर करना कवि की भीतरी समस्या है । उसके अतिरिक्त एक बाहरी समस्या यह भी है कि इस नए संवेदन को स्वयं सामने रखकर चेतन कर लिया जाय । रचनाकार अपने प्रयत्न और प्रतिभा के द्वारा जब कवि उस विभाजित संवेदन को - खण्डित यथार्थ को आत्मानुभूत सत्य के रूप में ग्राहक के सामने रख देता है, तो उसका प्रयत्न - प्रयोग - सफल हो जाता है ।[2]

यहाँ अज्ञेय दार्शनिक सूक्ष्मता के साथ कवि कर्म की परिस्थिति जन्य विषमता की विवेचना करके वस्तु तल पर प्रयोग की आवश्यकता पर ज़ोर देते हैं । संवेदन के इस विभाजन का परिहार ढूंढ निकालना आधुनिक कवि का कर्तव्य है । इस विरोध को हटाकर बाह्याभ्यंतर के बीच समासता स्थापित करने में ही कवि की मौलिकता है । ऐसी संवेदन मूलक रागात्मक सम्बन्ध - स्थापना में ही कवि - कर्म चरितार्थ होता है । इस संबन्ध स्थापना - अर्थात् आन्तरिक व बाह्य तल के वैलक्ष्य को संवेदन - तल पर अनुभूति - प्रक्रिया के द्वारा हटाकर दोनों में रागात्मक एकतानता की प्रतिष्ठा - का अनुभव जितना ग्राहक तक पहुंचाया जा सकता है, प्रयोग की सार्थकता वस्तु की दृष्टि से उतनी ही है । उसके द्वारा ही प्रयोग से ग्राहक का कोई मतलब हो ही सकता है ।[3]

---

1. हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य : पृ.22
2. वही : पृ.23, 199.
3. दूसरा सप्तक : पृ. 8.

विषयगत प्रयोग

विषय की भावानुकूलता तर्क सम्मत है । सभी पद्य कृतियों में भाव या अनुभूति के अनुरूप एक लय और ताल अवश्य रहता है । यह लय मूलतः मन की है, फिर भी बाह्य परिस्थितियों और व्यापारों का प्रभाव भी इसपर पड़ता है । प्रपंच की गति भी सब लय युक्त है और ' हर पत्ते के हिलने में एक लय है, एक ताल है" तो मानवचित्त उससे प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकता है ।[1] भाव की तीव्रता के अनुसार मन से स्वीकृत गति की लय ही कविता में संक्रमित होती है । ऐलियट की दृष्टि में यह लय और ताल कविता का संगीत है ।[2] प्राचीन छन्दशास्त्र के पीछे भी कविता की भावानुकूल लयबद्धता का विचार ही प्रवृत्त है । यह ज्ञातव्य है कि छन्द के अनुसार कविता का उदय नहीं हुआ, प्रत्युत कविता लय युक्त होकर ही प्रसूत हुई[3] और लय के आधार पर कवित्व का बाहरी ढाँचा - छन्द - निर्धारित किया गया ।[4] सब से पिंगल शास्त्र के मूल में भी काव्य की एक - रूपता के साथ साथ कवि की आत्मानुभूत वस्तु से उत्पन्न लय का बोध भी अवश्य था।

लेकिन परिस्थितियाँ सब बदल गईं, अनुभूति में भारी परिवर्तन घटित हुआ तो कविता की लय में भी भिन्नता दृष्टि गोचर होने लगी । यह बिलकुल स्वाभाविक है। नए संवेदन को पुराने ढाँचे में भर देने का कार्य सहज व्यापार के विरुद्ध है, कृत्रिम है, वह संवेदन की सहजता और शक्ति को नष्ट कर देता है । वह कविता को प्राणहीन करने के अलावा

---

1. जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य नाटक पृ. 49
2. It may appear strange that when I profess to be talking about the music of poetry, I put such emphasis upon conversation. But I would remind you, first, that the music of poetry is not something which exists apart from the meaning - T.S. Eliot, Music of Poetry. 'Poets on Poetry' Ed. by Charles Norman. The Free Press, New York, 2nd edn., 1966. P. 377
3. 'The poem comes before the form'. T.S.Eliot. Music of Poetry: Poets on Poetry. P. 347
4. Ibid. P. 347 348

और कुछ नहीं। वास्तव में यह बिलकुल तर्क संगत और स्वाभाविक है कि नए संवेदनों के समर्थ संप्रेषण के लिए उपयुक्त रूपाकार की खोज कवि को करनी ही चाहिए।[1] उसमें ही कवि की मौलिकता है। परम्परागत पद्धति का अनुसरण करने में न तो मौलिकता है, न सहजता। वह केवल जड़ता का परिचायक है। कोई भी प्रतिभाशाली कवि इस रूढ़िवादिता से सहमत नहीं हो सकता है। अपना कुछ दिखाना, सामने रखना नहीं है तो कवि की प्रतिभा का क्या मतलब ? इसलिए छंद सम्बन्धी परिष्कार और प्रयोग सार्वकालिक है ही। हिन्दी में निराला का मुक्त छन्द का आग्रह और पाश्चात्य साहित्य में हिक्टमैन का ब्लेंक वर्स (blank verse) आन्दोलन आदि इस शैलीगत प्रयोग की सार्वलौकिकता के दृष्टांत है।

लोकगीत और आधुनिक लयबोध

आधुनिक कवियों की छन्द सम्बन्धी स्वच्छन्दता के मूल में अनुभूति की सहज अभिव्यक्ति और प्रवाहमयता का आग्रह ही निहित है। छन्द यद्यपि कविता को प्रवाह और लय प्रदान करता है, फिर भी वह सहज नहीं, क्योंकि उसके पीछे एक प्रकार के संकोच और अनुशासन का बोझपूर्वक प्रयास द्रष्टव्य है जो कविता की सहजता को नष्ट करता है। यही नहीं उससे उसकी भूमिका संप्रेषण की समर्थता को बाधित भी करती है। यही कारण है कि आधुनिक कवि लय और प्रवाह की सहजता के लिए लोकगीतों की ओर मुड़ जाते हैं।[2] उसकी मौलिकता अनुभूति की तीव्रता में बाधक नहीं, प्रत्युत साधक है। उसकी लयात्मकता अनुभूति की तीव्रता में बाधक नहीं, प्रत्युत साधक है। उसकी लयात्मकता बाह्य नियमों से अनुशासित नहीं, वह नियमित है अनुभूति की तीव्रता से। लोकगीतों की संप्रेषण-शक्ति का

---

1. हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य : पृ.201
2. एक बूँद सहसा उछली : पृ.176

यही राग है ।[1] उसमें भारतीय संस्कृति की विकास गति की लयात्मकता (लयमयता) का संगीत हमेशा मुखरित है जिसकी ओर सांस्कृतिक अपक्षय के इस जमाने में जनता अपूर्व आशा से सहज ही उन्मुख होती है ।

नव्यशास्त्रवाद के विरोध में विकसित स्वच्छन्दतावाद विशेष रूप से शैली एवं भाषा की दृष्टि से लोकगीतों से प्रभावित था ।[2] यह इसलिए कि लोकगीत की भाषा की सहज प्रभावक्षमयता ने संगीत का संस्पर्श कर लिया था । गेयता का यह गुण लोकगीत का प्राणभूत तत्व है । यह लोकप्रियता का निदान ही नहीं, वरन् प्रेषित वस्तु की माध्यम - निरपेक्ष हृदयरमणता का सिंहद्वार भी है । सभी कलाएँ संगीत के पद की उन्मुख हैं,[3] शोपनहावर का यह कथन यहाँ विशेष उल्लेख्य है । कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि अज्ञेय लोकगीतों की इस प्रभाविष्णुता से पूर्णतः अभिज्ञ थे । निराला के बाद हिन्दी में काव्यरूप पर प्रेषणीयता की दृष्टि से इतना गंभीर विचार करनेवाले भूमिकार अज्ञेय को छोड़कर विरले ही होते हैं । छन्दोमुक्ति, लय - तालमयता और नव्यार्थ - संवलित शब्द - चयन आदि के द्वारा उन्होंने अपनी अपूर्व अनुभूतियों की प्रेषणीयता की पूर्णता एवं समर्थता इसलिए अनुभव की कि अपने काव्य की जटिलता और अपूर्वता के साथ साथ माध्यम की शक्ति और सीमा की उन्हें ठीक पहचान भी थी ।

---

1. T.S. Eliot: Music of Poetry, Poets on Poetry. P. 339-40
2. '.... because such men honestly communicate with the best objects from which the best part of language is originally derived and because, from their rank in society and the sameness and narrow circle of their intercourse, being less under the influence of social vanity, they convey their feelings and notions in simple unelaborated expressions. Accordingly, such language, arising out of repeated experience and regular feelings is a more permanent and a far more philosophical language than that which is frequently subetituted for it by poets' - William Words Worth. Preface to Lyrical Ballads - Reproduced in Literary Criticism: A Short History. P. 347
3. Will Durant: The Story of Philosophy. P. 219

भावात्मक प्रयोग

कला के क्षेत्र में कोई भी माध्यम अपने आप में पूर्ण नहीं है। संगीत की महिमा इस संदर्भ में एक बार फिर सामने आती है। संगीत में माध्यम की अपेक्षा नहीं रहती। उसमें सीधे श्रोता की इन्द्रियों के स्पर्श करने की शक्ति है। काव्य भी माध्यम की हीनता से मुक्त नहीं है। काव्य - क्षेत्र में माध्यम का विचार और उससे मुक्ति की अभिलाषा से प्रेरित अन्वेषण का परिणाम ही प्रतीकवाद में हुआ था।[1] कहने का तात्पर्य है कि भावात्मक प्रयोग केवल प्रयोगवादी कहलानेवाले प्रयोगशील कवियों की निजी विशेषता नहीं है, उल्टे वह माध्यम की असमर्थता के बोध से पिछले हुए सभी कृतिकारों का स्वाभाविक कार्य है।[2]

काव्य का माध्यम भाषा है अर्थात् कविता शाब्दिक कला है। यह शब्द प्रयोग - प्राचुर्य से किसी एक अर्थ विशेष रूढ़ हो जाता है। उससे एक रूढ़ार्थ (या संदर्भ - संगति) चिर रूप से लगा रहता है। इसी स्थिति में शब्द उस चिह्न के निचले स्तर पर गिर जाता है। उसकी काव्योपयोगिता का गुण लुप्तप्राय होता है। अतः प्रयोक्ता के भाव संप्रेषण करने की क्षमता नहीं नयी रहती है। शब्द की प्रतीकवत्ता (symbolizing power)

---

1. Present day philosophers like Croce, R.G. Collingwood, Ernst Cassirer and Susanne Langer have concerned themselves with the laws that govern the growth of words and may indeed be said to have gone far to destroy the anti-thesis between words and things. Even a theorist like I.A. Richards, who began with the thesis that words were arbitrary signs, in the course of time proceeded to ward a correction and modification of that thesis and in doing so came to agree for a much more organic conception of words, finally arriving at the view that reality itself, as man can know it is a symbolic construction ..... Literary Criticism: A Short History. P. 584.

2. हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य : पृ.198.
चित्रकला, मूर्तिकला आदि के क्षेत्र में शैलीगत परिवर्तन इसे प्रमाणित करता है।

उसकी जान है ।[1] उसके मर्ट हो जाने पर प्रेषणीयता का स्थान संकेतात्मकता (sign) ले लेती है । इस अवस्था में शब्द चेतन्यरहित और जड़वत् हो जाता है । इसप्रकार की रूढ़ार्थ - संगति से उसकी वह प्राणवत्ता लुप्त हो जाती है जो प्रयोक्ता के आन्तरिक भाव या सत्य को भावापरक रूपान्तरण देने की शक्ति है । शब्द से संलग्न किसी भी अर्थ की निरंतरता का यही परिणाम है । अतः एक समय का लाक्षणिक या व्यंजनार्थ भी इस कारण अभिधार्थ में बदल जाता है । ऐसे अर्थों के द्वारा संप्रेषण असंभव है क्योंकि नवसंवेदनों को समा लेने में वह असमर्थ है । इससे यह सिद्ध होता है कि रूढ़ार्थ या प्रचलितार्थ प्रेषणीयता में बाधक है । यही नवीनार्थ प्रतिपादित की अनिवार्यता कवियों अनुभूत होती है ।[2]

इसलिए नए कवियों द्वारा शब्दों में नए अर्थ को भरने का जो परिश्रम किया जाता है, वह अर्थपूर्ण एवं सराहनीय है, साथ ही मौलिकता का द्योतक भी । कारण कि अपनी अपूर्व एवं जटिल संवेदनाओं की अपूर्णता के साथ ग्राहक तक पहुँचा देना और उसीलिए अपने माध्यम - शब्द - में साधारण से भिन्न अर्थ की प्रतीति कराना प्रतिभाशाली - कवि के ही कार्य है ।[3]

इन दोनों दायित्वों के निर्वहन के द्वारा ही आधुनिक कवि का सृजन चरितार्थ हो सकता है । इससे यह सिद्ध होता है कि कवि कर्म की फल-प्राप्ति तुकबन्दी में

---

1. Art and Education in Co.temporary Culture. P. 302-303

" जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है, और अभिधेय बन जाता है, तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति क्षीण हो जाती है । "हिन्दी साहित्य: एक आधुनिक परिदृश्य । पृ.202.

2. " भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल फाड़कर अधिक व्यापक अधिक सार गर्भित अर्थ भरना चाहता है - और अहंकार के कारण नहीं, इसलिए कि उसके भीतर गहरी माँग स्पन्दित है । " आत्मनेपद पृ.37.

3. Ralph Waldo Emerson: 'The Poet', Poets on Poetry. P. 260

नहीं, प्रत्युत भाषा की शक्ति के ज्ञान में है । शब्द जड़ चिह्न नहीं, वे प्राणयुक्त हैं, उनकी प्राणवत्ता या शक्ति नव्यार्थ - प्रतीति में निहित है । लय के ही समान यह नव्यार्थ-प्रतीति कोई नई बात नहीं है । भारतीय काव्य शास्त्र परम्परा में शब्द की जिस व्यंजना-शक्ति की व्यापक चर्चा उपलब्ध है वह वस्तुतः शब्द की अन्यार्थ प्रतीति ही है । ध्वनि शब्दों के द्वारा आवाहन की जाती है । क्योंकि वह कवि के अन्तरतम की उपज है जो काव्य में शब्द के चैतन्य का हेतु बनती है । इस कारण स्पेंट कालियर कहते हैं कि भाषा कविता में ही प्राणप्रतिष्ठ और जीवन्त मिलती है ।[1] कालिदास की प्रार्थना भी कविता करते समय यह है कि वागर्थ प्रतिपत्ति की शक्ति उनमें भर जाए ।[2]

यदि नया अर्थ नए संवेदन का परिणाम है तो यह भी निश्चित है कि वस्तु की अपूर्वता से भाषा में नवीनता आती है । तब आधुनिकता केवल आधुनिकता कैसिए नहीं है, यह स्पष्ट होता है । वह काव्य - परम्परा के विकास का अनिवार्य परिणाम है ।

इस दृष्टि से देखा जाय तो नई कविता में वस्तुपरक और रीतिगत प्रयोग जितना स्वाभाविक है, युगानुरूप है उतना ही स्वाभाविक और संगत है भावापरक प्रयोग और नवीनता भी । वस्तु की अपूर्वता और विशिष्टता के अनुसार भाषा में परिवर्तन आ जाता है । भाषागत परिवर्तन अभिधा से व्यंजना की ओर है । ध्वनि वस्तु की प्रकृति के अनुरूप है, और वस्तु व्यक्ति - व्यक्ति में भिन्न भी । तब ध्वनि भी विशिष्ट होती है । अतः नई कविता के संदर्भ में नए संवेदनों के अनुकूल नए मुहावरों एवं नए भाषा - प्रयोगों की खोज बिलकुल संगत एवं उपयोगकारी है । ठीक है कि यह खोज व्यक्ति - तत्पर है । फिर भी उससे भाषा का चैतन्य बना रह सकता है । संस्कृति के संवहन की क्षमता कायम रहती है ।

---

1. Language and Myth. P. 98-99

2. " वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ ।।" - महाकवि कालिदास : 'रघुवंश', 1.1.
(संजीवनी सुधा व्याख्या सोपेतम्, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला - 84)

भाषापरक प्रयोग कवि की मौलिकता का उद्घाटन करता है । साथ ही ग्रेषणीयता और साधारणीकरण की शाश्वत समस्या का समाधान इसके द्वारा प्राप्त करके कवि अपनी सृजनात्मकता का परिचय देता है । कवि कर्म का यह मुख्य उत्तरदायित्व शब्दों में नया अर्थ भर कर उसे जड़ता से मुक्त रखना और चैतन्यपूर्ण करना - मौलिक प्रतिभा से ही संभव है ।

दुरूहता क्यों ?

ग्रेषणीयता की पूर्णता ही भाषापरक प्रयोग का लक्ष्य है । यह संभव है व्यक्ति स्तर पर । संप्रेषण का संबन्ध तो समष्टि से होता है । वैयक्तिक स्तर पर किए जाने वाले प्रयोगों से शब्द में भर दिए जानेवाले अर्थ की व्यक्तिगतता उसकी सर्वग्राह्यता में अवश्य बाधक है । समष्टि के सन्दर्भ में यह नया अर्थ अपरिचित ही रह जाता है । स्वाभाविक रूप में इसका परिणाम दुरूहता ही है । अनुभूति के साथ ग्राहक के तादात्म्य में यह अपरिचितत्व एक हद तक बाधक है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता । लेकिन इसीलिए कवि झुक भी कर नहीं पाता है । वह यहाँ असहाय ही रह जाता है ।[1] फिर-भी निरन्तर सम्पर्क से कालक्रमानुसार इस नए अर्थ के बोधगम्य हो जाने की संभावना में ही इसका परिहार निहित है ।

प्रतीक, बिम्ब और उपमानादि का नवीन प्रयोग

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि नव्यानुभूतियों के अन्तरतम में जाग्रत हो जाने मात्र से कोई कृतिकार नहीं बनता । वस्तु भी कवि (कलाकार) होता है जब वह माध्यम - भाषा - में नवीनार्थ - योजना करके उन्हें सामान्यीकृत रूप में ग्राहक तक

---

1. तीसरा सप्तक, सं. अज्ञेय, पृ.8 - 9

पहुँचाने की भाषापरक कार्यिलियत हासिल कर लेता है । इसी में कृतिकार और समाज के बीच सम्बन्ध स्थापित होता है । यही कारण है, सजग सामाजिक चेतना से प्रेरित कवि अज्ञेय आधुनिक कलाकार की सबसे बड़ी समस्या संप्रेषण में देखते हैं । वस्तुतः संप्रेषण ही कृति को महत्वपूर्ण बनाता है । आधुनिक कवि इस सत्य को स्वीकार करते हुए अपनी नयी संवेदनाओं से आकुल होकर, उस विपन्नता से मुक्ति पाने केलिए शब्दों का नया अर्थ - संस्कार करने को उद्यत होता है । काव्य - क्षेत्र में प्रयोग का आरंभ यहीं से है ।[1] लेकिन शब्दों को नई अर्थ - प्रतिपत्ति - शब्दों को नई संदर्भ - संगति मात्र से भाषा परक एवं शैलीपरक प्रयोग पूर्ण नहीं होता । उसको नए बिम्बों और प्रतीकों का सृजन भी करना पड़ता है । इसका अर्थ यह नहीं कि आधुनिक कवि पुराने प्रतीकों और बिम्बों की उपेक्षा ही कर देते हैं । उनको भी आधुनिक कविता में स्थान मिला है, मिलता है । लेकिन उसको पहले शब्दों के समान उन्हें भी प्रयोग के द्वारा नया अर्थ - संस्कार देकर सेतु और संप्रेषण के समर्थ बना दिया जाता है । कारण इसका यह है कि आधुनिक कवि अनुभव करता है -

" ये उपमान मैले हो गए हैं ।
देवता इन प्रतीकों के कर गए हैं कूच ।
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है ?"[2]

काव्य में प्रतीकों का महत्व निर्विवाद है क्योंकि मर्म - चित्त की प्रमुख एवं प्रबल प्रवृत्ति प्रतीक रचना ही है । इसकारण मनोविज्ञान ने मनुष्य को 'प्रतीक कृत् पशु' (symbol making animal) कहा है ।[3] उसका प्रत्येक शब्द - भाषा -

---

1. अज्ञेय की कविता 'शब्द और सत्य' कविता देखिए पृ.19
2. अज्ञेय : 'बावरा अहेरी' कविता, पूर्वा (राजपाल एण्ड संस, दिल्ली) 1965 पृ.244.
3. Hence instead of defining man as an animal rationale, we should define him as an animal symbolicum.
An Essay on Man. P. 36

प्रतीकात्मकता से अनुप्राणित है । शब्दों की प्रतीकात्मकता और मानव की प्रतीक - रचना - शक्ति मनोविज्ञान सिद्ध ही है । काव्य में उसका महत्व इतना बढ़ गया है कि कवि और आलोचक कभी कभी कविता और प्रतीक दोनों में अभिन्नता देखने लगे हैं ।[1] यही नहीं, आधुनिक कविता मानव के बाहरी जीवन से उसके अन्दर पैठ गई है । सहजता को छोड़कर वह अधिकाधिक सूक्ष्म होती गई है । इसप्रकार गहरे आन्तरिक जीवन में जड़ को खिर कर विकसित आधुनिक कविता में प्रतीक - बिम्बादि का महत्व अनुमानसिद्ध है । नया कवि इस सत्य के प्रति सचेत है । काव्य की प्रेषणीयता की दृष्टि में प्रतीकों की अनिवार्यता वह स्वीकार करता है तो उसका अर्थ यह है कि वह काव्य के सामाजिक ध्येय से प्रेरित मौलिक कवि है । यही कारण है कि आधुनिक कविता में प्रतीकों की पुनरावृत्ति बहुलता रहती है । इस प्रतीक प्रचुरता ने आधुनिक कवियों के संबन्ध में खासकर अज्ञेय के बारे में यह मिथ्या - धारणा उत्पन्न कर दी है कि वे प्रतीकवादियों की नकल कर रहे हैं । वास्तव में अज्ञेय प्रतीकवादी नहीं हो सकते क्यों कि प्रतीक उनकी लिए साध्य नहीं है । वे उसे केवल संप्रेषण के एक समर्थ साधन के रूप में अपनाते हैं ।[2] प्रतीकवादी वही हो सकता है जो प्रतीक को परमतत्व और चरम लक्ष्य मानकर चलता है और प्रतीकवाद के आध्यात्मिक सिद्धान्त से अनुप्रेरित हो जाता है ।

काव्यवस्तु की बोधगम्यता और रहस्यात्मकता

अज्ञेय ही नहीं, कोई भी कवि प्रतीकवादिता से पूर्णतः मुक्त नहीं हो सकता । कारण कि कविता की वस्तु - कवि का प्राप्य - पूर्णतः चेतन मन की उपज नहीं है। वह चित्त के गहनतम अचेतन पक्ष से विश्व जगत से प्रसूत है । स्वयं अचेतन से सम्बन्धित

---

1. Language and Myth. P. 58

2. अज्ञेय : आत्मनेपद : पृ.41 - 45.

मनोविज्ञान भी एक प्रकार की रहस्यात्मकता खोजते हुए है, क्योंकि वह मानव की बुद्धि की पकड़ के बाहर रहता है । कविता उस अन्तस्तल से जागृत होती है । अतः यह स्वाभाविक है कि उसमें कुछ रहस्यात्मकता घुलमिल रहती है ।

अचेतन के प्रकाशकों से कविता का सम्बन्ध स्थापित करते हुए युंग कविता की वस्तु की रहस्यात्मकता मनोवैज्ञानिक आधार पर अनिवार्य सिद्ध करते है । क्रोचे ने अभिव्यंजना को कलाकार के आन्तरिक व्यापार के रूप में निरूपित करते हुए जब कहा कि किसी माध्यम के द्वारा अनुभूति को बहिः स्फुरित करने का प्रयास किया जाता है तब उसकी तीव्रता व शक्ति नष्ट हो जाती है तब वे कवि के काव्य की रहस्यात्मकता को दार्शनिक प्रामाणिकता के साथ पुष्ट कर रहे थे ।[1] विश्व की किसी अज्ञात चिरंतन एवं वृहत्तर तथ्य या सत्य के प्रतीकात्मक अभिव्यंजन माननेवाले अध्यात्मवादियों से प्रभावित प्रतीकवाद भी प्रतीकों में किसी रहस्यात्मक सत्य का संपुटीकरण ही देखते हैं और मानते हैं कि कविता उस सत्य से संवलित प्रतीक है, अतः उसका पूर्णतः बौद्ध गम्य होना असंभव है ।[2] वीडे में, काव्य वस्तु की रहस्यात्मकता उसका सहज स्वभाव है, न कि वह माध्यम की असमर्थता से उत्पन्न विशेषस्थिति ।[3]

इस स्थिति में, वस्तु की रहस्यात्मकता के रहते, संप्रेषण की पूर्णता एक आदर्श की अवस्थामात्र है । कला के उदय से लेकर अतः पर्यंत संप्रेषण की समस्या को लेकर किए गए विचार और अन्वेषण इस आदर्श स्थितिको पहुँच पाने के प्रयास का इतिहास है। इसके द्वारा कला जड़ता से मुक्त और चैतन्य से युक्त हो पायी है ।

---

1. How often do we strive to understand clearly what is passing within us! We do catch a glimpse of something, but this does not appear to the mind as objectified and formed. - Croce: 'Aesthetic as Science of Expression and General Linguistic, Trans. Douglas Ainslie, 2nd Edn. New York, 1929. P. 5
2. Poets on Poetry. P.253
3. तीसरा सप्तक - भूमिका पृ.14.

माध्यम की सीमा प्रेष्य की बोधगम्यता में और एक बाधा है । जब स्वयं रचनात्मक वस्तु की संप्रेषणीयता सीमाबद्ध माध्यम पर निर्भर रहती है, तो माध्यम पर आवश्यक परिष्कार करना कृतिकार का कर्तव्य है । कोई भी ऐसा माध्यम नहीं जो स्वतः पूर्ण हो । यही कारण है कि कला की सभी विधाओं में माध्यम पर प्रयोग और सुधार करके नए नए तरीकों का आविष्कार किया जाता है । काव्य जो शाब्दिक कला है, शब्द या भाषा पर ही प्रयोग करता है ।

हिन्दी की नई कविता में हुई प्रयोगशीलता को इस दृष्टि से देखना चाहिए । तभी अज्ञेय की काव्य दृष्टि की प्रासंगिकता और महिमा ज्ञात हो सकती है । भावापरक एवं शैलीगत सुधार की दृष्टि से ही उन्होंने प्रयोग को स्वीकारा था । उसके पीछे संवेदन के सुबोध संप्रेषण का आग्रह ही काम करता था शब्दों के समान पुराने प्रतीकों को नई अर्थ - प्रतिपत्ति के साथ प्रयुक्त करते समय नए प्रतीकों को ढूंढ लेने की आवश्यकता आधुनिक कवि महसूस करता है । उसकी संवेदनाएँ इतनी नई हैं कि उन्हें समा लेने में पुराने प्रतीक अक्षम हैं । काव्य में अज्ञेय की प्रयोगशीलता की सार्थकता उनके कथ्य की अपूर्वता संप्रेषण की पूर्णता का आग्रह, माध्यम की असमर्थता का बोध, शब्दों की नवीनार्थ प्रतीति की अनिवार्यता, प्रतीक और बिंबों का वस्तु एवं माध्यम से अटूट सम्बन्ध आदि के उपदर्शनों से ही आँकी जा सकती है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि प्रयोग कभी प्रयोग के लिए नहीं, और प्रयोग ऐसा कोई सिद्धान्त या तत्व भी नहीं जिसको कोई भी कवि, जब चाहे अपना ले । वह व्यक्तिनिष्ठ व्यापार है, आवश्यकता के तीव्रानुभव में कवि - द्वारा स्वीकृत रहता है । वह कवि की परम्परा से संपृक्त रहने का मौलिकतापूर्ण परिश्रम है । उसकी सफलता कवि की प्रतिभा और कथ्य की सत्यता पर निर्भर रहती है ।[1]

---

1. For the poet technique was the problem of sincerity and his honesty never exists without great technical accomplishment. T.S.Eliot, The Sacred Wood, P. 139.

अज्ञेय की काव्यदृष्टि और भारतीयता

साहित्य - साधना को सांस्कृतिक संवेदन के दायित्वपूर्ण कर्तव्य के रूप में देखनेवाले अज्ञेय के कवित्व के पीछे सक्रिय रहनेवाला काव्यदर्शन उनके व्यक्तित्व में व्याप्त भारतीयता से उद्भासित है । वैसे उनकी जीवन-यात्रा के अवलोकन से स्पष्ट है, उनके व्यक्तित्व का केन्द्र यह भारतीयता ही है । भारत को एक सांस्कृतिक इकाई माननेवाले कवि स्वयं अपने को उसका अटूट अंग सिद्ध करते हैं । उसकी परम्परा को आगे से जाकर उसे जीवन्त और गतिशील रखना वे अपना कवि धर्म मानते हैं । जिस भारतीयता को वे अपना आधार मानते हैं, जिस भारत को उन्होंने अपने प्रवासों के सन्दर्भ में अपने अस्तित्व की आधुनता और सार्थकता अनुभव किया, उसपर वे स्वयं - समर्पित हैं । इस आत्मोत्सर्गपूर्ण समर्पण से ही विश्व की विभिन्न संस्कृतियों और विचार - धाराओं के विशाल सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति एवं भारतीय परिस्थितियों को आस्थापूर्ण दृष्टि से निकट से देखने और उनसे अपनी अविच्छिन्नता अनुभव करने का अवसर कवि को प्रदान किया था ।

कवि इस संस्कृति का उद्घोषक मात्र नहीं, संस्कृति उसके द्वारा गति-शील भी रहती है । रूढ़िग्रस्तता, सन्देह नहीं, इस गति में जड़ता लाती है । इस कारण सांस्कृतिक परम्परा में जड़ता के हेतुभूत पारम्परिक रूढ़ियों का खण्डन और तिरस्कार अज्ञेय आवश्यक मानते हैं । उसे परम्परा विरोध नहीं ठहराया जा सकता । अपनी परम्परा को समयानुरूप अथवा युगानुसारी करके उसकी गतिशीलता को बनाए रखने के प्रयास के रूप में ही पश्चिमी सिद्धान्तों से उनके सम्बन्ध को समझना चाहिए । परम्परागत होने मात्र से युगानुपयोगी तत्वों का वरण करना संस्कृति की सुरक्षा का कार्य नहीं हो सकता । संस्कृतिकी सुरक्षा मूल्य तत्व पर होनी चाहिए । व्यक्ति या समाज के परिस्थिति के प्रति प्रतिसंवेदन में ही संस्कृति अभिव्यंजित होती है । तो परिस्थिति के परिवर्तन से प्रतिसंवेदन में बदलाव अवश्य आता है ।

फिर भी प्रतिक्रिया के कारण भूत सूक्ष्म मानसिक तत्व - आन्तरिक अवस्थिति - अपरिवर्तित है। तब परम्परा - सांस्कृतिक परम्परा - से किसी का विच्छेद संभव नहीं। यही कारण है कि अज्ञेय कहते हैं कि साहित्य साहित्य से ही जन्म लेता है।[1]

परम्परा के मूल को स्थिर करते हुए और परम्परा से सहमत होते हुए अज्ञेय काव्य को आनन्द साधना ही मानते हैं।[2] इस आनन्द साधना में सामाजिक कल्याण को वे इसलिए देखते हैं कि " काव्य शिवेतर क्षतये " भी है। इससे यह भी स्पष्ट है कि काव्य का सामाजिक उद्देश्य परम्परानुमोदित ही है। उसके समाज में काव्य - साधना की कठिनाई और कवि के सामाजिक उत्तरदायित्व की गुरुता भी परम्परा के प्रतिकूल नहीं है। इस कारण " कला कला कलिए " वाले वाद पर आधारित " कलात्मक वैयक्तिकता " अज्ञेय को स्वीकार्य नहीं है। वस्तुतः यह तर्क के परे की बात है कि कला की सामाजिक उपादेयता उसकी महिमा और स्थायित्व के अनिवार्य मौलिक तत्वों में एक है।[3]

कवि और नैतिकता

व्यक्तिगत सामाजिक चेतना अज्ञेय को साहित्य को आनन्द - साधना मात्र मानने से आगे बढ़कर उसको नैतिकता की दृष्टि से देखने को भी प्रेरित करती है। जब वे कहते हैं कि वह स्वस्थ मन की आनन्द - साधना है तो उसमें कवि, कविता और ग्राहक (समाज) की नैतिकता की ओर भी संकेत किया जाता है। लेकिन नैतिकता की यह धारणा भी परम्परागत रूढ़ नैतिक मान्यताओं से बिलकुल भिन्न है, वह व्यक्ति से सम्बद्ध है उसकी विवेकिता पर आधारित है। इस नैतिक चेतना के मूल में 'सत्यं - शिवं -सुन्दरं'

---

1. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि : अज्ञेय. पृ.29
2. आत्मनेपद पृ.34
3. वही पृ.60 - 61

वाले भारतीय काव्यादर्श ही वर्तमान है । सब व्यक्ति की यह विवेकिता समाज विरोध से बचकर समाजोन्मुखी सिद्ध होती है । यहाँ यह भी ध्यातव्य है, कला का आधार, जैसे अन्यत्र सूचित किया गया, मनुष्य के आभ्यंतर जीवन और संस्कृति से संपृक्त शाश्वत मूल्य है जिनके कारण कला " नश्वरता की दाग " से मुक्त रह सकती है ।

कवि के रूप में व्यक्ति समाज को प्रभावित करता है । कवि का यह प्रभाव सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत है । अर्थात् कवि काव्य के द्वारा व्यक्तित्व की सीध पर जहाँ व्यक्ति का उन्नयन करता है, वहाँ समाज में कवि उस मूल्य के प्रतिनिधि के रूप में सामने आता है । जिसका प्रभाव समाज पर पड़ता है । कवि व्यक्ति से बढ़कर सूक्ष्म धरातल पर मूल्य बन जाता है । यह प्रभाव भी, तब, समाज के सूक्ष्म और आन्तरिक तल पर ही पड़ता है । तो इसमें सन्देह नहीं कि कवि का सामाजिक दायित्व बड़ा महत्वपूर्ण है। इस कारण काव्य की नैतिकता पर अज्ञेय विशेष बल देते हैं ।

यहाँ मनोविज्ञान की दृष्टि से अज्ञेय के मत की युंग के सिद्धान्त के अधिक निकट पाते हैं । फ्रायड ने जब कला - व्यापार को रुग्ण चित्त की प्रतिक्रिया माना तो युंग ने कला को मानव चित्त की महान उपलब्धि मानकर उसे मानव महिमा का मूलाधार घोषित किया । उन्होंने कला को एक विशेष प्रकार का ज्ञान ठहराया और उस प्रातिभज्ञान की तर्क से उत्कृष्ट स्थापित किया और कहा कि मानव जीवन की महिमा तर्क में नहीं, प्रत्युत प्रातिभज्ञान सिद्ध संस्कृति एवं कला में है ।

तीसरा अध्याय

काव्य की संवेदना के मूल में

तीसरा अध्याय

अज्ञेय की संवेदना के मूल में

"कितनी दूरियों से कितनी बार
कितनी डगमग नावों में बैठकर
मैं तुम्हारी ओर आया हूँ
ओ मेरी छोटी सी ज्योति।"-अज्ञेय

चार वर्ष की उम्र में घूमती भँवरी की लय से सहज ही जागृत चमत्कार - बोध ने जब प्रपंच - गति की लयात्मकता की अनुभूति अज्ञेय के बालक मन में अनजाने ही आप्लावित कर दी[1] तब से उनके काव्य-जीवन का आरंभ माना जा सकता है। सौन्दर्य-मूलक सर्वात्मवाद(aesthetic animism) की यह अनुभूति कवियों और कलाकारों की प्रतिभा के उन्मेष के मौलिक हेतुओं में प्रमुख है।[2] प्रकृति के उदात्त सौन्दर्य से उद्वेलित उत्कृष्ट भावनाएँ कलाकार को प्रकृति के साथ एकात्मता का अनुभव करा देती हैं। कॉलरिज ने भी कहा है कि कला प्रकृति के साथ आत्मा के सक्रिय सम्बन्ध का परिणाम है।[3] अज्ञेय के सन्दर्भ में यह विशेष उल्लेखनीय है। जिस कवि के

---

1. अज्ञेय : आत्मनेपद , मेरी पहली कविता, पृ. 20
2. Similarly the higher emotions aroused by the beautiful and sublime in nature presuppose in nature something akin to and essentially one with our own mental life. This is what we may call aesthetic animism.G.F.Stout, Mind and Matter, Cambridge University Press, London, 1931. P. 49
3. Art is the active bond between the soul and nature, between essence and existence reproduced by Herbert Read in his book 'The True Voice of Feeling', Faber and Faber, London. P. 9

जीवन के प्रारंभ के पन्द्रह वर्ष वन पर्वतों की लहलहाती हरीतिमा और गंभीरता के बदलते वातावरण की एकांतता में व्यतीत हुए थे,[1] उसका हृदय प्रकृति की चैतन्यपूर्ण छटा ने छुआ लिया तो आश्चर्य की कोई बात नहीं, लेकिन अज्ञेय की कवि मनीषा मात्र प्रकृति के बीच और प्रकृति-गायन में व्यतीत होती नहीं रह सकती। जीवन के अनुस्यूत प्रवाह में ज्ञान - विज्ञान के जिन नए क्षेत्रों के सम्पर्क में वे आ सके, सब कहीं से प्रभाव ग्रहण करते गए, उन्हें आत्मसात् करके अपने को परिष्कृत, कालानुकूल, और पूर्णता की ओर अग्रसर कराने का प्रयास करते रहे हैं। उनकी सतत यायावरी - वृत्ति ने उन्हें दुनिया के विभिन्न देशों का भूगोल - विज्ञानीय परिचय ही नहीं दिया, बल्कि तटस्थता के साथ विशाल मानव जीवन के प्रतिभिन्न मुखों के प्रत्यक्ष दर्शन का अवसर भी उपलब्ध कराया। यह तटस्थता उन्हें "नए अनजाने पानी" में[2] घुसने की बौद्धिक वीरता विकसित कर लेने में सहायक रही। फिर भी उनका संवेदनशील हृदय मानव के आभ्यंतर जीवन को क्षीण बनानेवाली आधुनिक यांत्रिक सभ्यता के चंगुल में पड़कर अनुक्षण विपुल होनेवाले समाज में व्याप्त उच्चाटन(संतापन), और उसके बीच व्यक्तित्व खोये मुखहीन हुए व्यक्ति की - लघुमानव की - असहायता के दयनीय रूप से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित भी कर रहा था।[3]

इस आत्मानुभूत सत्य की तीव्रता के साथ संप्रेषित करने केलिए अज्ञेय ने अपनी चेतना को पूर्व और पश्चिम के सभी दार्शनिक चेतना की पूर्व और पश्चिम के सभी दार्शनिक धाराओं और विज्ञान के नवीनतम शोधों से निरंतर संस्कारित एवं सामयिक

---

1. देखिए अज्ञेय का 'अज्ञेय अपनी निगाह में' लेख - लिखि कागद कोरे पृ.24.
2. अज्ञेय : 'कितनी नावों में कितनी बार', (सम्पराय कविता) - भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1967) पृ.90
3. अज्ञेय : हिन्दी साहित्य: एक आधुनिक परिदृश्य - साहित्य बोध : आधुनिकता के तत्व' लेख देखिए - पृ.17 - 24. 'भारतीय साहित्य परम्परा संघर्ष का उपयोग' पृ.131.

रखने की और सतत जागृता प्रकट की थी ।[1] स्वयं अज्ञेय की मान्यता है कि चेतना के द्वारा भावना का संस्कार ही संस्कृति है ।[2] भावना को संस्कारित करने लिए उसके पहले संस्कारित चेतना की अनिवार्यता विवाद से परे है । अज्ञेय की काव्य संस्कृति की नवीनता का कारण भी इसी उपकरण में ढूंढा जा सकता है ।

अज्ञेय की प्रतिभा का पल्लवन हुआ छायावादी युग में । सहज प्रयोगशीलता और सौन्दर्य चेतना के कारण अज्ञेय की प्रारंभिक कविताओं में छायावादी पुट ही प्रमुख रूप में प्राप्त है । छायावाद वस्तुतः पश्चिमी रोमांटिसिज्म का हिन्दी रूपान्तर है ।[3]

---

1. अज्ञेय : हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य - साहित्य बोध : आधुनिकता के संदर्भ लेख देखिए - पृ.17-24, भारतीय साहित्य परम्परा संदर्भ का उपयोग' पृ.13।.
2. अज्ञेय : वही
3. "खेद है कि सच्ची और स्वाभाविक स्वच्छन्दता का यह मार्ग हमारे काव्य क्षेत्र के बीच चल न पाया । बात यह है कि उसी समय पिछले संस्कृत काव्य के संस्कारों के साथ पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदीजी हिन्दी साहित्य क्षेत्र में आए जिनका प्रभाव गद्य साहित्य और काव्यभाषा दोनों पर बहुत ही व्यापक पड़ा ।- - आगे चलकर उक्त परिस्थिति के कारण जो प्रतिक्रिया हुई वह भी स्वाभाविक स्वच्छन्दता की ओर न बढ़ने पायी ।- - - सं.1970 तक - - - श्री मैथिलीशरण गुप्त मुकुट पर पहि आदि कई कवि खड़ी बोली काव्य को अधिक कल्पनामय चित्रमय और अन्तर्भाव व्यंजक रूपरंग देने में प्रवृत्त हुए - - यह स्वच्छन्द नूतन पद्धति अपना रास्ता निकाल ही रही थी कि श्री रवीन्द्र नाथ की रहस्यात्मक कविताओं की धूम हुई और कई कवि 'रहस्यवाद' और 'प्रतीकवाद' या 'चित्रभाषावाद' को ही एकान्त ध्येय बनाकर चल पड़े । 'चित्र भाषा' या अभिव्यंजना पद्धति पर ही जब लक्ष्य टिक गया तब उसके प्रदर्शन केलिए लौकिक या अलौकिक प्रेम

जैसे हर्बर्ट रीड कहते हैं, रोमांटिक प्रवृत्ति सार्वकालिक है, और कविता का आरंभ ही रोमांटिक प्रवृत्ति से प्रेरित है ।[1] कारण यह है कि इसका सम्बन्ध मनुष्य की नैसर्गिक सौन्दर्य चेतना से है । तब तो अज्ञेय की आद्यकालीन कविताओं में रोमांटिक पुट की प्रबलता इसका दृष्टान्त नहीं कि अज्ञेय ने छायावादी काव्यधारा से प्रभावित होकर कविता करना शुरू किया था । वस्तुतः अज्ञेय पर ऐसा कोई प्रभाव रहा भी तो वह सीधे अंग्रेज़ी कवियों से प्राप्त और बंगला के रवीन्द्रनाथ ठाकुर से गृहीत था । रवीन्द्रनाथ के प्रभाव को वे स्वयं अपनी प्रारंभिक कविताओं में स्वीकार भी करते हैं ।[2]

का क्षेत्र ही काफी समझा गया । इस बँधे हुए क्षेत्र के भीतर चलनेवाले काव्य ने 'छायावाद' का नाम ग्रहण किया ।" -

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 14 वाँ संस्करण सं 2019) पृ.577, 578, 636)

" दूसरी ओर छायावाद में पश्चिम का प्रभाव जिस रूप में प्रकट हुआ, उसका उस पश्चिम से होकर भी पश्चिम को अधिकार नहीं है कि वह उसपर गर्व करे, वह हमारी उपलब्धि है ।" - अज्ञेय : हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य ।पृ.25.

1. Romanticism was and is a universal phenomenon ..... Romanticism is as old as art itself - Coleridge, The True Voice of Feeling by Herbert Read. P. 15

2. अज्ञेय : आत्मनेपद : 'मेरी पहली कविता' - पृ. 26

अज्ञेय पेलिस टेनिसन, वर्ड्सवर्थ, कीट्स आदि की कविताएँ अपरिचित नहीं थी। बचपन में 'आनन्द बन्धु' नामक जो पत्रिका उन्होंने निकाली थी, उसमें प्रकाशित कविताओं पर इन अंग्रेज़ी कवियों का प्रभाव बिलकुल स्पष्ट है।[1] 1932 में प्रकाशित 'भग्न दूत' की अधिकांश कविताएँ तत्कालीन छायावादी (रोमांटिक) विशेषताओं से संवलित है। 'दृष्टिपथ से तुम जाते ही तब'[2] जो उनकी स्व - स्वीकृत पहली कविता है,[3] उसमें अभिव्यक्त रहस्यात्मकता, 'असीम प्रणय की तृष्णा'[4] में परिस्फुरित परम तत्व के प्रति अनुराग भावना, 'नहीं तेरी चरणों में'[5] 'अपना गन्ध'[6] आदि में व्यंजित समर्पण -भावना- ये सब अज्ञेय के काव्य जीवन की उस प्रारंभिक अवस्था का परिचायक है, इन कविताओं में

> " मैं तो केवल तेरे पथ से
> उड़ती रज की ढेरी भर दे
> चुन चुन कर संचय करके
> रख भर लेता हूँ मरकत मणियों सा अन्धकोषों में तब।"[7]

---

1. आत्मनेपद : मेरी पहली कविता तेरह, पृ. 22
2. अज्ञेय : पूर्वा (राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1965) पृ.19.
3. आत्मनेपद : मेरी पहली कविता तेरह, पृ. 26
4. पूर्वा, 24 - 25
5. वही, पृ. 26 - 27
6. वही, पृ.39 - 40
7. वही, पृ.19

और

• इसी कृति में अन्तिम आत्म परक भी मैं पाऊंगा दर्द[1] के द्वारा पहले व्यक्त अभिव्यक्त असीम सत्ता के साथ अनुभूत रागात्मक सम्बन्ध की घनिष्ठता और उसमें विलीन होकर चरितार्थ एवं महिमा - मण्डित होने की तृष्णा और आकुलता से भरी उद्गारों की प्रचुरता ही रहती है ।

" दयाभाव से झुक जाना प्रिय
समग्र हृदय की करुण व्यथा ।"[2] में ,

" मैं ही विकसित, कम्पित होकर -
नवरस की वंशी होकर
हँस कर, गा कर, चुप हो, रो कर -
जब भर जीवन ही - विलीन हो - होता तुम से एकाकार यह एक बार ।"[3] में,

और

• उलझा सुख की रज्जु, परिमल सी,
जल प्रपात से उत्थित जल - सी
हो यह कल्पना दृष्टि तुम्हारी -
फिर क्यों प्रियतम ! अन्तर खोल, युग युग उसको पा लूं
कहो कैसे मन की समझा लूं ।"[4] में

---

1. अज्ञेय : पूर्वा , पृ.19
2. वही , पृ.22
3. वही, पृ.25
4. वही, पृ.28

इस असीम प्रणय की प्यास और उसे स्वीकार होने की आकुलता ही मुखर उठती है । फलतः कि उस अपरिमेय के चैतन्य से " आलोकित ऊषा के मुख पर पुलकित व्रीडा की लाली आती है । और उसके असीम प्रणय की तृष्णा"[1] मन में भर जाने से

" भूल मुझे जाती है अपने जीवन की सब वृत्तियाँ
कविता, कला, शिल्प, प्रतिभा - रह जाती फीकी स्मृतियाँ ।
अब तक जो कुछ कर पाया हूँ तृणवत् उड़ जाता है
लघुता की संज्ञा का सागर उमड़ उमड़ आता है ।"[2]

यही नहीं,

" शोभा के दुख आँसुओं सा
पुलकित उत्पातों सा - - -"
" सान्ध्य रश्मियों के उच्छ्वासों - " सा
" ताराओं की कम्पित साँसों " -[3] सा

उसका प्रणय ही विराट प्रकृति सुषमा में घुलमिलकर परिस्फुरित होता है । उसके साक्षात्कार की रहस्यात्मक अनुभूति इन कविताओं की झंकार हुई है । इसमें व्यक्ति - मानव अपने व्यक्तित्व की निजता को छोड़कर समष्टि के साथ मिलकर महिमा-युक्त होता है । बृहत्तर सत्ता के साथ रागात्मक सम्बन्ध की भावना के द्वारा मानव के अस्तित्व की सार्थकता का अनुभव आध्यात्मिक है । यथार्थ से असंपृक्त भाव तल पे(of ideal state) इस मानव की सृष्टि छायावादी प्रवृत्ति होने पर भी रवीन्द्रनाथ में

---

1. अज्ञेय : पूर्वा , पृ.24
2. वही, पृ.24
3. वही, पृ.28

ही पहले पहल यह दृष्टिगत होती है ।[1] अज्ञेय में, जैसे पहले सूचित किया यह वहीं से सीधे गृहीत है ।

उपर्युक्त प्रवृत्ति की अज्ञेय में प्रबलता के कई कारण हो सकते हैं । एक तो यह कि काव्य साधना के शुरुआत में अज्ञेय यौवन के द्वार पर खड़े थे ।[2] दृष्टि में स्वप्निलता और चिंतन में आदर्शोन्मुखता की प्रबलता थी । भारतीय क्रांतिकारियों के दर्शनीय और व्यावहारिक जीवन से अलग, मात्र सैद्धान्तिक तल पर ज्ञानार्जन में व्यतीत विद्यार्थी - जीवन के परिवेशों ने अज्ञेय के अबोध दिल को रवीन्द्रनाथ की काल्पनिकता, रहस्यात्मकता एवं आदर्शपूर्ण मानवतावाद की ओर आकृष्ट किया ।[3] इसके साथ अंग्रेजी कवियों की रोमांटिक अनुभूतियाँ उनके संस्कृत - हृदय में प्रेमानुभूति की रागरंजित कोमल - भावनाओं की रहस्य - तंत्रियों को झंकृत कर गईं ।[4] यही कारण है कि प्रतिभा के विकसित होते होते, जीवन के विस्तृत संदर्भ में उपस्थित होने पर, अलौकिक जगत से नाता तोड़ने का पराक्रम उन्होंने किया, यथार्थ जीवन परिस्थितियों से दृष्टि को सम्बद्ध रखा ।[5] स्वप्निलता के स्थान पर यथार्थ स्थिर हो गया, चिंतन में प्रौढ़ता आई, उसी केन्द्र में मानव और उसका जीवन प्रतिष्ठित हुए ।

---

1. छायावाद में परिलक्षित आदर्श मानव रूप - स्वीकृति रवीन्द्रनाथ ठाकुर के मानववाद से स्वीकृत है । उनकी गीतांजली की रहस्यात्मकता और आदर्श मानवता से हिन्दी का छायावाद प्रभावित है और अज्ञेय भी । गीतांजली के हिन्दी छायावाद पर प्रभाव शुक्ल जी स्पष्ट भी करते हैं कि. सा. इति. पृ.621.
2. अज्ञेय आत्मनेपद : मेरी पहली कविता , पृ.
3. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि अज्ञेय, पृ.9 , जोगा लिखी (अपूर्वा निबंध में देखें)
4. आत्मनेपद पृ.22, लिखि कागद कोरे , पृ. 25
5. पूर्वा , 'कवि' शीर्षक कविता पृ.43.

इस दृष्टि ने रवीन्द्र के अनुभूति - तत्व से अज्ञेय को हटा दिया। रवीन्द्र की समन्वयवादिता व्यक्ति की पार्थिव सत्ता गौण मानकर उसकी भावात्मक रूप में ही सत्य स्वीकार कर सकती थी। अतः व्यक्तित्व की निजता का महत्व नहीं रह गया। इसप्रकार रवीन्द्र नाथ का रागात्मक सम्बन्ध असीम से सम्बन्ध प्रायः आध्यात्मिक धरातल मानवीय सत्ता से ही रहा। लेकिन अज्ञेय व्यक्ति के पार्थिव - अस्तित्व के महत्व को कम देख नहीं सके। अतः उन्होंने असीम से जुड़कर भी अपने अलग अस्तित्व को बनाए रखनेवाले सीमित किन्तु यथार्थ व्यक्ति से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लिया। उसके अस्तित्व के समाधान - मानवास्तित्व से सम्बन्धित चिंतन समस्या का समाधान - किसी चिंतन दार्शनिक समाधान में वे देख नहीं सके।[1] अतः यथार्थ व्यक्ति के अस्तित्व के संकट से जागृत अनुभूतियों का समाधान उन्हें अलग ही ढूँढना पड़ा। इस दिशा में, अज्ञेय की रागात्मकता रवीन्द्र की रागात्मकता से अलग होकर मानवेन्द्र नाथ राय[2] के बुनियादी मानववाद से सम्बद्ध होकर विकसित होती है। उनकी दृष्टि इस कारण व्यक्ति की प्रधानता देकर एकाग्रित हुई और उनका मानववाद इस दृष्टि पर आधारित भी है। अतः अज्ञेय का मानववाद वैयक्तिकता मूलक मानववाद कहा जा सकता है।[2]

---

1. नन्द किशोर आचार्य : अज्ञेय की काव्यानुभूति (सूर्यप्रकाशन मन्दिर, बीकानेर, प्रथम संस्करण, 1970) पृ. 126

2. वरण की स्वतंत्रता से युक्त व्यक्ति की अद्वितीयता का समर्थन करनेवाले अज्ञेय की मानववादी दृष्टि की व्यक्ति मूलकता ही 'नदी के द्वीप' कविता में अनुगुंजित मिलती है — 'बल्कि रेत होना है'। इस प्रकार 'नदी के द्वीप' उपन्यास में भी इसी वैयक्तिकता मूलक मानववाद का स्वर बुलन्द है। रेखा नामक पात्र इस दृष्टि को स्पष्ट करती है 'जो अपनी संभावनाओं के प्रति सच्ची रहना चाहती है'। (आत्मनेपद, पृ० 83.)

आदर्शात्मक मानव को छोड़कर अज्ञेय का रागात्मक सम्बन्ध यथार्थ व्यक्ति मानव से होना शुरू हुआ, छायावादी दृष्टि में जिस यथार्थ जीवन के स्पन्दन का अभाव था, वह वैज्ञानिक शोधों में सहज रुचि रखनेवाले कवि कैसिर अछूता ही लगा। विज्ञान के विद्यार्थी के रूप में उनमें स्वभाव से ही विवेकिता और बौद्धिकता विकसित हो पाई थी। उसके सामने छायावाद की पार्थिव - जीवन - उपेक्षा और सामयिक परिस्थितियों से पराङ्मुखता अधिक अरोचक प्रतीत होने लगी। सहज बौद्धिकता और मानववाद से उपजित स्वं उद्धरित संवेदनाएँ कैसे अपने चारों ओर के सामाजिक एवं राजनैतिक स्पन्दनों से अछूत रह सकती? नतीजा इसका यह हुआ कि अज्ञेय की मानववादी दृष्टि उत्तरोत्तर यथार्थ और संवेदनाएँ अधिकाधिक युग - चेतना से परिपुष्ट होती गईं। अगर 'भग्न दूत' के तुरंत बाद लिखित 'बन्दी' में पराधीनता के जंजीरों में जकड़ी 'भारतीय आत्मा'(चेतना) की निराशतापूर्ण उद्गारों को

> "ओ निर्वसने। मैं ने कब कुछ माँगा तुझ से
> आज शक्तियाँ मेरी ही फिर विमुख हुईं क्यों मुझसे"[1]

के रूप में प्रकट करने की वे तैयार हुए तो उसका कारण यह है कि स्वयं कवि को बन्दी की वह निराशता एवं वेदना अनुभूत हुई है। उसके पीछे यह मानववादी यथार्थ पूर्ण दृष्टि ही क्रियाशील रहती है। इस बन्दी का चित्रण 'बंदी स्वप्न'[2] की विभिन्न कविताओं में उपलब्ध है। वह सत्ताधारी की 'क्षुधा का गान'[3] सुनाकर ललकारता है। 'वीर की पुकार'[4] में वह अपनी ही व्यथा की ध्वनि पाता है और वीर के रूपरंग में मुक्ति का

---

1. अज्ञेय : पूर्वा पृ.47
2. 1933 से 1936 तक की अवधि में रचित अज्ञेय - कविताओं का संग्रह। यह पूर्वा में संकलित है।
3. पूर्वा : पृ.48
4. वही : पृ.50 - 51.

आशा - संचित देख लेता है । 'हिय हारिल'[1] में भी इसी भारतीय चेतना के एक दूसरे पक्ष का उद्घाटन हो गया है ।

" जीवन सागर हहर हहर कर
उसे लीलने आता दुर्धर
पर वह बढ़ता ही जावेगा लहरों पर आरोही । "[2]

कहकर निराशा की मूर्छा से उठकर, विद्रोह की तीव्र भावना से उत्तप्त होकर, आत्मविश्वास और व्यक्ति - बोध से विद्युन्मितवीर्य होकर रणक्षेत्र में आगे बढ़नेवाली भारतीय जनता की जागरित चेतना से ओत - प्रोत है यह काव्य - संग्रह -

" कैसी बिहारी वह मूक पीर
उच्छ्वसित हुआ कैसा समीर
प्रच्छन्न गगन का वक्षचीर
जा रहा अकेला उटा कीर "[3] में भी

उपर्युक्त हारिल - धर्म ही निभ जाता है ।

उपसंहार " जग को दे अन्तिम आश्वासन

अस्ताचल से ओट हुए रवि " के द्वारा भारत की उच्चित आत्मा की विजय-प्राप्ति की आशा - किरणों से आलोकित आत्मरिक्तता, और पराधीनता की पकड़ से मुक्ति के आश्वासन का भाव अस्त सूर्य की अरुण किरणों के विकिरण में दर्शाया गया है ।

---

1. 1937 से 1940 तक की कविताओं का संग्रह जो पूर्वा में जोड़ दिया गया है ।
2. पूर्वा ('विश्वास' नामक कविता) पृ.76.
3. पूर्वा ('कीर' नामक कविता) पृ.81.

" इस अलाव में मैं होऊँ जब
बदले ही जाने का बेटी " ! में भी

इस विडंबना के अतिरिक्त क्या व्यंजित है? अतः फलप्राप्ति तक निरंतर अक्षुण्ण भाव से पराधीनता की हीनता की वेदना को हृदय में समेटे आगे बढ़नेवाला भारत का अंतर्यामी हारिल में कवि देखते हैं -

" दृढ़ टेनों के मार बसेरे
अखिल-व्योम को वश में करता
- - - - - - - - - - - ,
ऊषा से ही उठता आया
पर न मिल सकी तेरी छाँही
- - - - - -
हारिल को यह सह्य नहीं है
वह पौरुष का मद माता है । "[2]

आगे कवि कहते हैं :

" आज प्राण मेरे प्यासे हैं
आज बना दिय - हारिल मेरा । "[3] क्योंकि पराधीनता की अग्निधारी ने उन्हें - भारतीय आत्मा - को घेर लिया है । आगे उड़ने के लिए स्वतंत्रता की ऊषा खिल उठे :

---

1. अज्ञेय : पूर्वा पृ.85 ('गोपगीत' नामक कविता)
2. वही पृ.113 - 116 ('आज बना दिय हारिल मेरा' नामक कविता)
3. वही पृ.120 ('आज बना दिय हारिल मेरा' कविता)

" आज अकेली ही उसकी
अधिकारी संध्या ने घेरा । "[1]

ऐसे, 'भग्नदूत' के बाद प्रकाशित 'बंदी - स्वप्न' और 'प्रिय-पारिस' तत्कालीन भारतीय मानस् का उद्घाटन करते हैं । पराधीन भारतीय जन - मानस के वर्जनाशून्य मुक्त और मुक्ति की उत्कट अभिलाषा के स्वप्नों से बंदी स्वप्न मुखरित है तो 'प्रिय पारिस' सत्य की ओर 'निज भुज - बल का संबल'[2] लेकर निरंतर तीव्र प्रयास करनेवाली भारतीय आत्मा को प्रतीक - भंगिमा के साथ चित्रित करता है ।

उनकी भावुकता इस प्रकार यथार्थ जीवन की भूमि में जड़ मूल हो गई, और मानववाद के प्रकाश में विकास पाने लगी तो उनकी संवेदना का केन्द्र हुआ यथार्थ व्यक्ति ।[3] उसके साथ कवि का रागात्मक सम्बन्ध दृढतर हो गया तो वही उनकी आन्तरिक विकलता का हेतु बना । युग - सत्य के स्वरूपकार - आत्म - सत्य में परिणत होने समय तक कवि की प्रतिभा - उनकी संवेदना - किसी निश्चित बिन्दु पर स्थिरता पाए बिना स्वच्छन्दतावाद और यथार्थ के बीच डंवाडोल होती रहती थी । 'वंचना के दुर्ग'[4], 'मिट्टी की हँसी है'[5] आदि में संकलित कविताएँ इस चंचलता को स्पष्ट करती हैं । लेकिन जब युग - सत्य स्वरूप आधुनिक मनुष्य उनके आत्म - सत्य में परिणत हुआ, तो उसमें - अनुभूति - प्रवण में - उभर आनेवाला व्यक्ति - आधुनिक मानव - तत्कालीन सामाजिक व्यवधानों के बीच वर्जनाओं का पुंज बन कर कराहनेवाला है, वह पूँजीग्रस्त है, व्यथित है, और समस्याओं से संत्रस्त है ।

---

1. पूर्वा : पृ.120. ('आज क्या प्रिय पारिस मेरा' कविता)
2. पूर्वा : पृ.119 (वही कविता)
3. हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य पृ.131.
4. 1941 - 1943 तक की कविताएँ जो पूर्वा में संकलित है
5. 1944-1946 तक की कविताओं का संग्रह 'पूर्वा' में यह भी रखा गया है ।

इसी बीच अपने लघु अस्तित्व को बृहत्तर के सामने प्रतिष्ठित करने की अभिलाषा उसे अमूर्त के साथ संघर्ष की प्रेरणा भी देती है । आधुनिक मानव के व्यक्ति स्वरूप के इन सभी पहलुओं का सामाजिक वातावरण की परिशीलना के साथ गाढ़े रंग में आलेखन अज्ञेय - काव्य में उपलब्ध है । फलस्वरूप वे आधुनिक युग के प्रतिनिधि कवि बन गए हैं ।

आगे चलकर अज्ञेय की मानवतावादी दृष्टि मार्क्सवादी चिंतन के प्रभाव में आ जाती है, लेकिन यह प्रभाव कभी प्रत्यक्ष या सीधा नहीं रहा है । इसका कारण यह है कि अज्ञेय की मानववादी दृष्टि न केवल व्यक्ति की महत्ता स्वीकार करती है, उसकी प्रतिष्ठा भी चाहती है, जब कि मार्क्सवादी दृष्टि व्यक्ति के व्यक्तित्व की उपेक्षा ही करती है, यह अज्ञेय को स्वीकार्य नहीं है । अतः वर्गभावना और आर्थिक जीवन सम्बन्धी मार्क्सवादी सिद्धान्त को इतिहास की नई व्याख्या के रूप में स्वीकार करते हुए भी उसे व्यापक जीवन दर्शन के रूप में वे स्वीकार नहीं करते -" सबसे पहले इतिहास को समझने की वह एक पद्धति है - और अत्यंत उपयोगी पद्धति है - उससे हमें इतिहास की गति-विधि पर एक नई दृष्टि मिली है । दूसरे वह एक उपयोगी अर्थ दर्शन है । समाज की अर्थ - व्यवस्था को समझने में वह सहायक हुआ है । किन्तु जीवन दर्शन ? मैं समझता हूँ कि मार्क्सिज़्म के नाम पर जो जुल्म हुआ है, उसकी जड़ में यह भूल है कि उसे व्यापक जीवन दर्शन मान लिया गया । इतना ही नहीं उसे अन्तिम मान लिया गया - - - -।[1] "
यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि गांधीजी की ओर उनकी श्रद्धा बढ़ती ही रही । इसका एकमात्र कारण व्यक्ति के महत्व पर, आधारित उनकी समाज सम्बन्धी दृष्टि ही है । अज्ञेय की सामाजिक चेतना भी व्यक्ति निरपेक्ष कदापि नहीं है । उनकी संवेदना का मूल

---

1. आत्मनेपद - पृ. 199.

व्यक्ति की अद्वितीयता ही है ।[1]

अतः व्यक्तित्व के विकास में बाधाएँ डालनेवाली शोषणमूलक सामाजिक परिस्थितियों के प्रति अज्ञेय की दृष्टि एक हद तक मार्क्सवादी चिंतना से प्रभावित कही जा सकती है । मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रभावित कही जा सकती है । मार्क्सवादी विचारधारा का उद्धारक भी मानव ही तो है । पर मार्क्सवाद को व्यावहारिक स्तर पर मानव की समस्याओं के शाश्वत परिहार का अचूक साधन मानने को अज्ञेय तैयार नहीं है । मानव - प्रगति के लिए वर्ग - संघर्ष की अनिवार्यता मानते हुए भी वे उसे सामाजिक तल पर ही सीमित रखना चाहते हैं । जहाँ तक यह व्यक्ति के विकास में अवरोध का कारण नहीं होता वहाँ तक वह समाज - हित का साधन भी है ।[2]

---

1. " हर व्यक्ति एक अद्वितीय संभावना है और हर कोई जीवन का अन्तिम दर्शन अपने जीवन में पाता है, किसी की सीख में नहीं । पर दूसरों के अनुभव वह खाद दी सकता है जिससे अपने अनुभवों की भूमि उर्वरा हो ।" अज्ञेय : नदी के द्वीप उपन्यास पृ.330. आगे उसी उपन्यास में, अज्ञेय उसके नायक भुवन के मुँह से व्यक्ति की अद्वितीयता से संबद्ध विचारों को प्रकट करते हैं - " सब कुछ अधूरा है, और ज्यों ज्यों वह आगे पूरेपन की ओर बढ़ता है, नई अपूर्णताएँ भी उसके आगे प्रकट हो जाती हैं । --- कितना बड़ा है जीवन, कितना विस्तृत, कितना गहरा, कितना प्रवाहमान, और उसमें व्यक्ति की ये छोटी इकाइयाँ - प्रवाह से अलग जो कोई अस्तित्व नहीं रखतीं, कोई अर्थ नहीं रखतीं । फिर भी संपूर्ण है, स्वायत्त है, अद्वितीय है और स्वतः प्रमाण है क्यों कि अन्ततोगत्वा आत्मानुशासित है , अपने आगे उत्तरदायी है, स्वर्ग और नरक, पुण्य और पाप, दण्ड और पुरस्कार, शान्ति और तुष्टि ये सब बाहर हैं तो केवल समय, सत्य तभी है, जब भीतर से उद्भूत हों । ----------

ऐसी व्यक्तिमूलक सामाजिक दृष्टि ही अज्ञेय से पहलवाती है कि वर्तमान सामाजिक परिस्थितियाँ व्यक्ति को यौन - वर्जनाओं का पुंज बनाकर उसके व्यक्तित्व को विकृत और सर्वनाशित से रक्षित कर देती है ।[1] समाज रुग्ण - चित्तों का एक समूह बन गया है,[2] इसके विरुद्ध विद्रोह का स्वर ही 'सावन मेघ'[3] जैसी कविताओं में कुलबुद्ध रहता है । इसमें जो यौनवासना का स्पष्ट अभिव्यंजन है, वह वास्तव में एक सामाजिक वातावरण में कुंठाग्रस्त व्यक्ति के वर्जनापूर्ण मन का उद्घाटन ही करता है । ऐसी परिस्थिति में उसके लिए

" प्यार है अभिशप्त ।"[4]

वह कराह उठता है :

" तुम कहाँ हो नारी ?"[5]

--------- हम सब नदी के द्वीप हैं, द्वीप से द्वीप तक सेतु है । सेतु दोनों ओर से पैरों के नीचे रौंदा जाता है, फिर भी वह दोनों को मिलाता है, एक करता है।"- नदी के द्वीप पृ.334, 'नदी के द्वीप' कविता (पूर्वा पृ.231) और " मैं वहाँ हूँ" (इन्द्र धनु रौंदे हुए ये' पृ.19 - 22) कविता व्यक्ति की द्वीप-धर्मिता और सेतुधर्मिता की अनुभूतियों को व्यंजित करके अद्वितीयता से युक्त विवेकपूर्ण व्यक्ति की सामाजिक उपादेयता स्पष्ट की गई है ।

2. आत्मनेपद : पृ. 197 - 199.

1. अज्ञेय : तार सप्तक - वक्तव्य - पृ.278

2. वही : पृ.278

3. पूर्वा : पृ.132 - 133

4. वही : पृ.132

5. वही : पृ.132

अज्ञेय पर फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का प्रभाव कम नहीं है । समकालीन मानस को समझने में यह अज्ञेय वैसिए बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है । मनोविश्लेषण का उपयोग उनके काव्य में सामाजिक विद्रोह की तीव्र भावना की अभिव्यक्ति का रूप धारण करता है । इस दिशा में वात्स्यायन जी डी. एच. लारेंस के बहुत निकट हैं । उनके यौन प्रतीक, बिम्ब और उपमान आदि के चित्रण को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही आंकना चाहिए ।

" हम लोगों का एकमात्र कर्म है - सुरति कर्म
उस अद्भुत का एकमात्र सुख है - मैथुन सुख ।"[1]

कहकर वे कभी सामाजिक वर्ग चेतना पर तीखा व्यंग्य बोलते हैं तो कभी

" निकटतर - डूबती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्रसिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा नतग्रीव
धैर्य - धन गदहा ।
निकटतम दीर्घ अक्षिम स्निग्ध, स्निग्ध किन्तु लोलुप
खड़ा वन्य बिलार -
पीछे गोपठों के गन्धमय संसार "।[2]

आदि का वर्णन करते

" रचना है चाँदनी सित,
छूट वह आकाश का निरवधि, गहन विस्तार -"[3]

---

1. पूर्वा : पृ.142
2. वही : पृ.142 - 143
3. वही : पृ.141

पीड़ित करने के द्वारा अभिजात समाज के कृत्रिम सौन्दर्य बोध पर कटाक्ष लगाते हैं। इसी तरह वे व्यक्ति की यौन वर्जनाओं का शिकार बनानेवाले समाज को आततायी के रूप में देखते हैं।[1] उसके प्रति कवि का आक्रोश विद्रोह भावना की तीव्रता एवं अनुभूति के आवेग से सशक्त और तथ्यपूर्ण है -

" मेरा पथ तेरे व्यक्त गौरव का पथ है
और तेरे भ्रूण काटे पायों में प्रवहमान
लाल आग
मेरे भावी गौरव का रथ है।"[2]

यांत्रिक सभ्यता और नगर बोध

अज्ञेय की सामाजिक चेतना के मूल में प्रवृत्त रहनेवाली व्यक्तिमुक्तता उनके मन में आधुनिक सभ्य समाज की कृत्रिमता और औपचारिकता के प्रति वितृष्णा को उत्पन्न करती है। नगर का यंत्र वातावरण उन्हें असह्य है। कलकत्ता के जीवन में नगर - जीवन के विभिन्न मुखों से उनका परिचय कराया था और उनकी नगर सम्बन्धी धारणाएँ एवं संवेदनाएँ के पीछे उस जीवन के अनुभव वर्तमान हैं। व्यक्ति - व्यक्ति की पारस्परिक पहिचान के आधार पर विकसित घनिष्ठ मानवीय सम्बन्धों के अभाव में शहरी समाज 'समूह जन' मात्र रह जाता है। जीवन के आन्तरिक तल का संकोच और आधुनिक सभ्य व्यापारी मनोवृत्ति का बढ़ाव नगर - मानव को व्यक्तित्वहीन एवं यांत्रिक बना देता है।[3]

---

1. पूर्वा : पृ.134(आततायी, आज तुझ को पुकार रहा है
एकीभूत दुर्निवार तलवार रहा है।)
2. वही : पृ.135
3. "मेरी समझ में तो एक विश्व संकट यह है कि साधना आज इतनी साध्य हो गई है कि हमारा साध्य जीवन का आनन्द न रहकर जीवन की सुविधाएँ रह

सहज व्यापार और भावनाओं की स्वाभाविक अभिव्यक्ति को नगर - जीवन में स्थान नहीं है । स्वार्थता की मूर्ति बनकर, एक दूसरे पैसिए मन में कपटता और अविश्वास का विष धारण करते रहनेवाला यह नगर - जीव दिखावटी व्यवहार और व्यापारी मनोवृत्ति के छोटे दायरे में कुंठित रहनेवाला दयनीय प्राणी है । नागरिक सभ्यता के प्रतिवितृष्णा की इस भावना ने अज्ञेय - काव्य में नाना रूपों में अभिव्यक्ति पाई है ।[1] वह निरंतर सहज जीवन के आग्रही रहे हैं । स्वाभाविक है, इस अनावश्यक कपटी और झूठा बनक सभ्यता का वह निरंतर प्रत्याख्यान करते रहे हैं । आधुनिक सभ्यता ने हमारे देश के सहज ग्रामीण जीवन की सरलता और चैतन्य को भी नष्ट कर दिया है-

"हमारी तृण - फूस - छप्पर से
ढँके दुलमुल गँवारू
झोंपड़ों में ही हमारा देश बसता है ।
- - - - - -
इन्हीं के मर्म को अनजान

गया है । यानी जीवन की हमारी परिभाषा ही बदल गई है । वह जीवन का नहीं जीवन की क्रियाओं का नाम हो गया है । इसलिए आज हम जीवन के शीर्ष की नहीं जीवन की पीठ की बात कहने लगे हैं, जीवन का बाह्यीकरण करते करते हमने उनका बहिष्कार ही कर दिया है ।" 'नदी के द्वीप' की गौरा के इन वचनों के द्वारा आधुनिक सभ्य नागरिक जीवन के सतहीपन को अज्ञेय स्पष्ट करते हैं । - 'नदी के द्वीप' : पृ.80.

1. आगे, नदी के द्वीप की नायिका रेखा में वर्तमान सभ्य नागरबोध के चरित्र में घटित विभाजन को प्रतिफलित करते उस विभाजन को व्यक्ति के ह्रास की भूमिका ठहराते हैं । रेखा वर्तमान सभ्य मनुष्य की ह्रासोन्मुख परिस्थितियों का वर्णन इसप्रकार करती है : "मैं जानती हूँ। और सभ्यता तो ह्रासोन्मुख हो जाती है वह किसलिए ? कि समर्थ प्रभुत चरित्र सभ्यता के पीसे

शहरों की ठंडी लोहुए
विषैली वासना का साँप डसता है ।[1]

सभ्यता ने हमारी संस्कृति को भी क्षति पहुँचायी है -

" हमारी में लहराती अलख
अयानी संस्कृति की दुर्दशा पर
सभ्यता का भूत
हँसता है ।"[2]

आगे चलकर आधुनिक यांत्रिक सभ्यता और उसमें पले नागरिक जीव के प्रति कवि के अन्दर वितृष्णा इतनी बढ़ जाती है कि नगर उन्हें विषैले साँपों का वासस्थान ही दिखाने लगता है। शहरी जीव साँप से भी अधिक विषयुक्त मालूम पड़ता है । अतः साँप से ही कवि को पूछना पड़ा -

" साँप !
तुम सभ्य तो हुए नहीं
नगर में बसना
भी तुम्हें नहीं आया ।
एक बात पूछूँ - (उत्तर दोगे ?)
तब कैसे सीखा डसना -
विष कहाँ पाया ?"[3]

हुए पशुत्व चरित्र के नीचे दब जाता है - व्यक्ति चरित्रहीन हो जाता है । तब वह सृजन नहीं करता, अलंकरण करता है ।" पृ.106.

1. पूर्वा : 'हमारा देश' कविता : पृ.127.
2. पूर्वा : पृ.227.
3. अज्ञेय : हम्मुबनु रोंदे हुए से - 'साँप' कविता - (सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम पुनरावृत्ति 1957) पृ.29.

नगर - जीवन की गहनीयता को प्रकट करने के साथ साथ यह कविता आधुनिक सभ्य समाज व्यक्ति के सभ्यता बोध पर तीखा व्यंग्य भी छेड़ती है । नगर - सभ्यता के प्रति कवि के मन में उठनेवाली विद्रोह भावना का यह सशक्त अभिव्यंजन ही है ।

नगर सभ्यता की इस बढ़ती चढ़ाव का अनुभव और उसके विरुद्ध आक्रोश अज्ञेय की ही विशेषता नहीं है । युग के प्रति सचेत सभी कवियों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है । डी.एच.लारेंस और टी.एस.इलियट की कविताएँ इसके प्रमाण है ।[1] वैदेलर जैसे दक्षतामियों की दृष्टि भी नागरिक सभ्यता से उद्भूत व्यथा की ओर गई है । इस प्रसंग में डी.एच.लारेंस का प्रभाव ही अज्ञेय पर सर्वाधिक लक्षित होता है । मूलतः वे भी सहज जीवन - व्यापारों के आग्रही तो है ।[2]

---

1. D.H. Lawrence की कविताएँ 'Give Us Gods' 'Only Man', 'Peace and War' आदि कविताएँ आधुनिक मानवीय जीवन की बुराइयों के प्रति प्रतिस्पन्दन से अनुप्राणित है (D.H. Lawrence: Selected Poems; Penguin Books, England 1960)। इसप्रकार टी.एस इलियट की 'Waste Land' नामक कविता भी आधुनिक यंत्र-सभ्यता के प्रति वितृष्णा और 'मूल्य-विघटन-चेतना' से ओतप्रोत है (द्रष्टव्य: London Bridge is falling down, falling down... जैसी पंक्तियां)

2. 'हरी घास पर क्षण भर' कविता (पूर्वा 246-250) अज्ञेय के सहज-जीवन के आग्रह को प्रकट करती है ।

प्रवृत्ति प्रेम और परितृप्ति का क्षण

नगर के बंद और गर्हणीय वातावरण से मुक्ति और प्रवृत्ति के खुले वातावरण की ओर अनुरक्ति कवि के काव्य - जीवन की प्रवृद्धुन्मुखता का परिणाम है। 'हरी घास पर क्षण भर'[1] नामक कविता इसका प्रमाण है। हरी घास उस सहज जीवन के खुले मैदान का प्रतीक है जहाँ " नहीं दरारें रूढ़ शिष्ट जीवन की।"[2] यहाँ किसी प्रकार का व्यवधान नहीं जो सहज व्यापार को रोक लेता है। अतः

" चाहे बोलो
चाहे धीरे धीरे बोलो
स्वगत गुनगुनाओ
चाहे चुप रह जाओ -

ही प्रवृत्तियाँ : तनी मुट्ठी - हटी उस बाढ़ सरीखी, नदी, खुल खिली, सहज मिली अन्तर्मिलत, अन्तः संयत
हरी घास सी।"[3] प्रकृति के इस सीमाहीन खुलेपन में ही

" क्षण भर भुला सकें हम
नगरी की बेचैन कुलबुलाती गड्ड - मड्ड अकुलाहट।"[4]

जीवन की मौलिक वृत्ति प्रेम का अभिव्यंजन भी रूढ़ शहरी जीवन में सहज व्यापार नहीं बन पाता। वहाँ सब कुछ सतही, दिखावटी और ढोंग है। वहाँ शारीरिकता का कोई

---

1. पूर्वा : पृ.246.
2. वही : पृ.246.
3. पूर्वा : 'हरी घास पर क्षण भर' कविता - पृ.246
4. वही वही - पृ.246

स्थान नहीं है । मानव की पवित्र भावनाएँ और सम्बन्ध शिष्टाचार का रूप ले गए हैं । अतः शहरी सभ्यता की परवाह किए बिना प्रकृति की सहजता और सुरक्षण में आ बैठने का आह्वान देते हैं कवि -

" नहीं सुनें हम यह नारी के नागरिकों से
जिनकी भाषा में
अतिशय झिझकार है साबुन की
किन्तु नहीं है
दरख्त "।

इसप्रकार नगर - जीवन की दुसहता ही प्रायः प्रकृति प्रेमी कवि को प्रकृतिवादी बना देती है । निर्बंध मुक्त सरल प्रकृति साथ ही जीवन का स्वाभाविक विकास और सच्ची परितृप्ति की प्राप्ति माननेवाले वात्स्यायन जी पर डी.एच. लॉरेंस का प्रभाव कम नहीं है ।[2]

यथार्थ-जीवन के स्वाभाविक व्यापार के खुले वातावरण की सहजता का आग्रह ही कवि के प्रकृति-प्रेम के पीछे सक्रिय है । लेकिन उनके प्रकृति-प्रेम के मूल में किसी अमूर्त सत्ता की अभिव्यक्ति नहीं है । उनका प्रकृति प्रेम पार्थिव है, और उसी रूप में महत्वपूर्ण और महिमामयी भी है । वह जीवित व्यक्ति का शास्त्रिध्यान है । पंक्ति और

---

1. पूर्वा : 'हरी घास पर क्षण भर' कविता - पृ.250.
2. 'Mountain Lion', 'Humming Bird', Baby Tortoise, 'Snake' आदि कविताएँ लॉरेंस की प्रकृत्युन्मुखता को प्रदर्शित करती हैं ।
(D. H. Lawrence : Selected Poems)

अति के बीच के सम्बन्ध के द्वारा जो प्रकृति

" प्राप्ति का सुख प्रेय है, पर
समर्पण भी कर्म सीता "[1] सिखा देती है, और वहाँ " पेरों में बिछी नदी ज्यों दर्द की रेखा "[2] बन कर विरह सिंधु मौन नीरों में "[3] पड़े रहकर वियोग का विषाद स्फुरित कर रहे है, वहाँ उस प्रकृति में ही मानव अपनी सजगता को पुनः प्राप्त कर सकता है । जिस शहर में " विवेकीवासना का सर्प डसता है "[4] और अपनी " संस्कृति की दुर्दशा पर सभ्यता का भूत हँसता है, "[5] उससे क्षुब्ध कवि उस प्रकृति के पास पहुँचना चाहते हैं वहाँ

" बन्धु हैं नदियाँ
प्रकृति भी बन्धु है
और क्या जाने, कदाचित्
बन्धु
मानव भी । "[6]

वहाँ कवि का प्यारा तारा कैसा का तैसा आत्मीयता के प्रतीक के रूप में स्थित है

---

1. पूर्वा : 'खुलती आँख का सपना' कविता - पृ.211
2. वही : ' दुर्वांचल ' कविता - पृ.215
3. वही : वही - पृ.215
4. वही : 'हमारा देश' कविता - पृ.227
5. वही : वही - पृ.227
6. वही : 'बन्धु हैं नदियाँ' कविता - पृ.238

" उस दिन वह छोटा सा तारा
वत्सल था - पर चुप था ।
आज वही
चुप है, पर वत्सल
स्मित, यद्यपि बेचारा,
मेरा तारा ।"[1]

यही नहीं,

" सृष्टि के विस्तार का - ऐश्वर्य का "[2] प्रतीक है बिजली बास । उसे
" या शारद की सांझ के सूने गगन की पीठिका पर दौलती दलगी अकेली
बाजरे की[3] " सुन्दरता या उन्मुक्तता को जब कवि देख लेते हैं, तब
उसपर समर्पित होने लिए वे तैयार होते हैं -

" और सचमुच, उन्हें देखता हूँ
यह झुला वीरान संसृति का बना जो सिमट आता है और मैं स्वस्त होता हूँ समर्पित ।"[4]
अतः वह ऐसी जगह है जहाँ पहुँचकर

" तनिक और सटकर कि हमारी बीच स्नेहभरा का व्यवधान रहे बस
नहीं दरारें सभ्य शिष्ट जीवन की ।"[5] बैठ सकें और हृदय खोलकर, प्रेम
से लेकर सभी मानवीय जीवन व्यापारों की सहजता और स्वच्छन्दता अनुभव कर सकें ।

---

1. पूर्वा : 'मेरा तारा' कविता : पृ.239
2. पूर्वा : 'दलगी बाजरे की' कविता पृ.245
3. पूर्वा : वही पृ.245
4. पूर्वा : वही पृ.245
5. पूर्वा : 'हरीघास पर क्षण भर' पृ.246

वहाँ " नगर की बेचैन चुहकती गड्डमड्ड अकुलाहट "[1] हमारी शान्ति का भंग नहीं कर पाती। अतः मन तनाव रहित रह जाता है, अर्थात आन्तरिक विश्रान्ति के माधुर्य मन को मधुरित कर देते हैं।

मिश्रित एकांतता का पुतला बनकर प्रकृति की गोद में कोमार का सारा दुःख भूलनेवाले कवि के मन में नगर सभ्यता के प्रति यह वितृष्णा स्वाभाविक ही है। अधिकाधिक नगर - सभ्यता से उनका परिचय बढ़ता गया, उत्तरोत्तर क्षीण होता गया उससे विकर्षण भी। उनकी वाणी में अनुभूत 'साधुन की अतिशय विकनाई'[2] कृत्रिम सभ्यता का अभ्यस्त दिखावा मात्र है। कारण कि उसमें हार्दिकता का - सहानुभूति का - स्वाभाविक प्रतिक्रिया का - करुणा का लेशमात्र भी प्राप्त नहीं है। अतः प्रकृति कवि केलिए सहजता एवं उन्मुक्तता की दात्रिका बनी रही है। उसकी पुनः आपना जीवन केलिए वरदायकारी है। प्रकृति के प्रति आस्था और नगर के प्रति वितृष्णा का अभिव्यंजन अज्ञेय की कविताओं में बराबर होता रहा है।

प्रकृति के प्रति इस उन्मुखता को पलायन न मानने का अनुरोध स्वयं कवि ही करते हैं।[3] पलायन दौर्बल्य का द्योतक है। वह कवि में नहीं प्राप्त होता है। वह वास्तव में कपटता एवं कृत्रिमता के प्रति सहज मानवीय भावना के विद्रोह का प्रतिफलन है। सब कह सकते हैं, वह जीवन की सहजता को बनाए रखने और व्यक्तित्व को ठेठमुक्त और विकासशील बनाने की विशेष पूर्ण चेष्टा है। कवि की इस दृष्टि का ही परिचय 'नदी के द्वीप' की रेखा के रूपक में भी प्राप्त होता है -

---

1. पूर्वा ('हरी घास पर क्षण भर') कविता पृ.246.
2. वही वही पृ.250.
3. वही वही पृ.247.

" मानव और मानव का सहज भाव से साक्षात् - वही हमारा मानव जीवन से और मानवता के जीवन से सम्पर्क हो सकता है । नहीं तो मानवता - यानी हमारी कल्पना - एक विलास मरुभूमि है ।"[1]

संवेदना का बिन्दु : व्यक्ति - व्यक्तिवादिता का विकास

विवेकिता से परिपुष्ट व्यक्तिवादिता, जैसे पहले ही - इस प्रकरण के प्रारंभ में - हमने देखा अज्ञेय के कृतित्व की मेरुधार बन गई है । 'भग्न दूत', 'चिंता', 'हरयलम्' आदि रचनाओं में नाना प्रकार से व्यंजित विद्रोह - भावना का मूलस्वर व्यक्ति - सत्ता के आग्रह से अनुविद्ध है । 'दीपावली का एक दीप'[2] कविता में परानिन्दाग्रस्त दीपक की आत्मवेदनापूर्णवाणी यही व्यक्तित्व - मोह प्रकट करती है, 'विजिगीषा की स्मृति में विधित व्यथा की,[3] भुला देने की व्यक्ति की इच्छा में व्यक्तित्व की अवहेलना से जनित अवसाद के साथ व्यक्तित्व की व्यापना की प्रतीक्षा भी सक्रिय है । इसप्रकार 'शिशिर के प्रति'[4] 'वीर की पुकार'[5] आदि कविताएँ भी कवि की व्यक्तित्व-मोह से उद्वेलित दृष्टि का परिचय कराती है ।

इस व्यक्तिमूलक यथार्थ की ओर उन्मुखता की प्रक्रिया का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि 'हरी घास पर क्षण भर' तक आते आते अज्ञेय की कविता का बाह्य और आभ्यंतर छायावादी पुट से पूर्णतः मुक्त हो चुका, और उनकी संवेदनाएँ अधिक मानव सुलभ और यथार्थ हो पाईं । यथार्थ की इस पहुँच (approach) ने आधुनिक सभ्यता और नगर-जीवन की घुटन और विषम सामाजिक परिस्थितियों की वर्जनाओं

1. अज्ञेय : नदी के द्वीप पृ.20
2. पूर्वा : पृ.20
3. पूर्वा : 'पराजय गान' कविता पृ.36
4. पूर्वा : पृ.37
5. पूर्वा : पृ.50

से कवि का अच्छा परिचय करा दिया । कवि ने उनके बीच संचरण होकर सपनेवाले व्यक्ति मानव को पहचान लिया । अज्ञेय का बाद का काव्य जीवन 'अरीन के पार द्वार' तक इस विनष्ट मानव के असली व्यक्तित्व की खोज है जिस को अनुभूत कराने के द्वारा ही यंत्र-सभ्यता से खंडित बाह्याभ्यंतर - जीवन की खाई पाट दी जा सकती थी ।

उभरे व्यक्ति-बोध और मानव के विवेक की क्षमता पर आस्थापूर्ण विश्वास रखने के कारण समाज के बीच - सामाजिक जीवन के बीच - खड़े होने पर भी उसकी कुंठाग्रस्त और वर्जनात्मक परिस्थितियों के साथ वैयक्तिक प्रवाहित होना वे पसंद नहीं करते । उनकी दृष्टि में यांत्रिकता एवं सर्वसत्तावादी राज्य भी वर्जना के हेतु हैं । वहाँ भी विवेक की अवहेलना ही होती है । यह स्थिति वरण की स्वतंत्रता का निषेध करती है । वर्जनारहित, कुंठामुक्त स्थिति के समर्थक कवि इसे स्वीकार नहीं कर सकते हैं । अतः उनकी दृढ़ धारणा है कि

" हम नदी के द्वीप हैं
हम नहीं कहते कि हमको छोड़कर स्रोतस्विनी बह जाय ।"[1]

जीवन की स्रोतस्विनी के द्वीपों के समान हैं व्यक्ति -, नदी से सम्बद्ध रहने पर भी, नदी को समर्पित होने पर भी उनका अपना रूप अलग है । अतः व्यक्ति भी अपने निजीपन को सुरक्षित रखते हुए समाज के सम्मुख विवेकशील समर्पण ही कर ले तो वही कल्याणकारी है, समाज के लिए हितकारी है । कारण कि वर्जनाएँ व्यक्ति को कुंठित करके समाजहित की दृष्टि से अनुपयोगी बना देती हैं । अतः अज्ञेय का कहना है :-

---

1. पूर्वा : ('नदी के द्वीप') कविता पृ.251.

" हम धारा नहीं है
फिर समर्पण हमारा
हम सदा से द्वीप है द्रौपदियनी से ।"[1]

वर्जनाजनक समाज के साथ बहते रहना व्यक्तित्व को नष्ट करना है । अस्तित्व को खोदना है । -" बहना रेत होना है ।"[2] इसप्रकार बहकर चकनाचूर होकर व्यक्ति का नाश होता है और समाज अधिक कलुषित भी बन जाता है -

" और फिर हम रेत होकर भी कभी क्या धार बन सकते ?[3]
रेत बनकर हम सलिल की तनिक गंदला ही करेंगे ।"

व्यक्ति और समाज के ~~सम्बन्ध~~ सम्बन्ध की धारणाएँ अज्ञेय अपनी व्यक्तिवादिता की नींव पर ही दृढ़ करते हैं । उनकी व्यक्तिवादिता की नींव पर ही दृढ़ करते हैं । उनकी व्यक्तिवादिता समाज विरोधी नहीं है, प्रत्युत् समाजोन्मुखी है क्यों कि वह समर्पित व्यक्ति है ।[4] यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उनका व्यक्तिवाद अहंवाद (egoism) भी मुक्त है क्यों कि अहंवादिता कुंठा का प्रकारान्तर ही है । अहंवादिता से अज्ञेय की व्यक्तिवादिता का दृष्टांत कालान्तर में 'आगिन वे पार द्वार' में विकसित 'मम - ममेतर' सम्बन्ध में दर्शनीय है ।

---

1. पूर्वा : ('नदी के द्वीप') कविता पृ.251.
2. पूर्वा : वही पृ.251.
3. पूर्वा : वही पृ.251.
4. " द्वीप हैं हम ।
यह नहीं है शाप । यह अपनी नियति है ।
हम नदी के पुत्र हैं । बैठे नदी के क्रोड में
भूखंड से जो दाय हम को मिला है, मिलता रहा है, माँजती, संस्कार देती चली ।"
(पूर्वा : नदी के द्वीप - पृ.252)

मानव की अद्वितीयता पर अटूट विश्वास

इसलिए 'हरी घास पर क्षण भर' तक आते आते अज्ञेय के काव्य - व्यक्तित्व पर भारी परिवर्तन आ गया । 'पूर्वा' की भूमिका में वे इस बात को स्पष्ट भी करते हैं ।[1] 'हरी घास पर क्षण भर' अभिव्यंजना के नए साधनों के साथ जूझने का परिणाम है । नए साधन की आवश्यकता ही नए कथ्य का प्रमाण है । 'नई व्यंजना'[2] कविता इस परिवर्तन की ओर संकेत करती है ।

बाह्य और आभ्यंतर दोनों दृष्टियों से अज्ञेय की 'हरी घास पर क्षण भर' की कविताएँ 'इत्यलम्' से भिन्न हैं । प्रारंभिक भावगत चांचल्य से मुक्त और प्रौढ़ता से युक्त उनका कवित्व यौवन - सुलभ आदर्शोन्मुखता व स्वप्निलता की ठोस वास्तविकता पर स्थिर हुआ । असीम प्रणय की प्यास बुझ गई, व्यक्ति संवेदना का बिन्दु हुआ । इस राग सम्बन्ध ने तत्कालीन वर्जनापूर्ण, घुटनात्मक सामाजिक परिस्थितियों के बीच विनष्ट हुए 'व्यक्तित्व की खोज' की ओर कवि को प्रवृत्त किया । 'हरी घास पर क्षण भर' इस व्यक्तित्व की खोज की उपलब्धि है ।

अब से 'मिट्टी की ईंधा'[3] से उनके संवेदन - तंत्र का सम्बन्ध हुआ, और उनको अनुभूत होने लगा कि " मिट्टी ही ईंधा है ।"[4] तब से यह दृढ़

---

1. " शीर्षक इस बात का द्योतक है कि लेखक आत्माभिव्यंजन के दूसरे माध्यम या साधनों के साथ जूझ रहा है, किन्तु उसने और कविता न लिखने की शपथ नहीं ले ली है ।" इत्यलम् की भूमिका से पूर्वा की भूमिका में कवि से ही उद्धृत । पूर्वा : भूमिका पृ.5.
2. पूर्वा : पृ.237.
3. पूर्वा : पृ.169.
4. पूर्वा : पृ.169.

धारणा उनके मन में घर गई थी कि " यह मेरा है पूर्ण
तत्क्षण परलोकों का कौन ठिकाना ।"[1]

पार्थिव जीवन के प्रति यह आस्था और व्यक्ति की असीम शक्ति के अणु के रूप में स्वीकार करने स्वयं उसे असीम - सदृश समझ कर उसके महत्व को स्थापित करने की प्रवृत्ति अज्ञेय में पहले से ही प्राप्त है ।[2] वास्तव में, 'असीम समुद्र को अपने भीतर प्रतिबिम्बित '[3] करनेवाली बूंद के रूप में औपनिषदिक परम्परा का अनुसरण करते हुए व्यक्ति सत्ता की प्रतिष्ठा बढ़ाते हुए उससे अपना तादात्म्य रहस्यात्मक सम्बन्ध भी कवि कर लेते हैं ।[4]

इस आत्म सम्बन्ध के आधार पर ही वे कह सके हैं :-

" व्याप्ति अणु की है
सदा गुरु पुंज का सम्मान ।"[5]

यह अणु व्यक्ति के अतिरिक्त और कौन है ? पूर्ण के पूर्णत्व स्वरूप व्यक्ति के शक्ति पुंज और कान्तिपूर्ण व्यक्तित्व की अवहेलना कौन कर सकता है ? यह असंभव है । यही कारण है कि आधुनिक जीवन - परिस्थितियों के विरुद्ध उनमें विद्रोह का स्वर उठता है, वे प्रकृति के सीमाहीन खुलेपन में हरी घास पर क्षण भर के लिए टिक जाना चाहते हैं । कवि के लिए ऐसी उन्मुक्तता का क्षण नश्वरता के दाग से अस्तित्व और व्यक्तित्व को उन्मोचित

---

1. पूर्वा : ' एक दर्शन ' कविता : पृ.190
2. पूर्वा : ' रहस्यवाद कविता' : पृ.79
3. वही वही : पृ.79
4. वही वही : पृ.79
5. वही कितनी शक्ति । कितनी शक्ति । । पृ.200

रखनेवाला अनर्थ निमित्त है ।[1] ऐसे निमित्त ही सक्रिय हो सकते हैं, सृजनात्मकता को उद्दीपित कर सकते हैं :-

" जानता क्या नहीं, निज में बद्ध होकर है नहीं निर्वाह ?
क्षुद्र नलकी में समाता है कहीं बेकाह
मुक्त जीवन की सक्रिय अभिव्यंजना का नित्य दीप्त प्रवाह ।
जानता हूँ ।"[2]

फिर ये कैसे व्यक्तित्व की सीमितता के दोष का परिहार कर सकेंगे ? दोष व्यक्तित्व का नहीं । दोष अहं का है । अहं व्यक्ति को कुंठित करता है । वह आत्मविस्तार में बाधक है । अहं का निजता से सम्बन्ध नहीं है । निजता व्यक्तित्व का सूचक है । निजता के बिना विवेक के प्रयोग की सम्भावना नहीं है । तब निजता को बनाए रखते हुए अहं से रहित होकर व्यक्ति समेतर से विवेक के आलोक में सम्बन्ध स्थापित कर सकता है जो निश्चित ही समाज के लिए हितकारी सिद्ध होगा :-

" नहीं सकुचा हूँ कभी समवाय को देने स्वयं का दान
विश्व जन की अर्चना में नहीं बाधक बा कभी इस व्यक्ति का अभिमान ।
कान्ति अणु की है सदा गुरुत्व का सम्मान ।
बना हूँ कर्ता, इसी से कहूँ - मेरी चाह, मेरा दाह
मेरा खेद और उछाह ।"[3]

---

1. पूर्वा : 'हरी घास पर क्षण भर' - पृ.249 - 250
2. वही : कितनी शान्ति । कितनी शान्ति । । - पृ.200
3. पूर्वा : कितनी शान्ति । कितनी शान्ति । । - पृ.200

अमूर्त, असीम और नियामक सत्ता के सामने निरुपाधिक समर्पण और उसमें विलीन हो सकने में जीवन की चरितार्थता मानने के पीछे की अकिंचनता के भाव[1] इसप्रकार 'हरी - घास पर क्षण भर' आते लुप्त हो जाते हैं । उस स्थान पर अपने में असीम को परि-स्फुरित करनेवाले पंचभूतोद्भूत और पंचप्राणयुक्त व्यक्ति की प्रतिष्ठा हो जाती है, जो शक्ति समुपेत है और अनश्वरता का अधिकारी है । इस महिमामय व्यक्ति सत्ता का महत्व कवि गर्व के साथ घोषित करते हैं :

" जगा हूं मैं
क्यों करूं आराधना उस देवता की
जोकि मुझ को सिद्धि तो क्या दे सकेगा -
जोकि मैं ही स्वयं हूं ।"[2]

इस नव - जागरित 'मैं' का उन्मेष ही अज्ञेय की समस्त काव्य-साधना का चैतन्य है ।

व्यक्तित्व की खोज के द्वारा अज्ञेय ने व्यक्ति की महिमा और गरिमा की अनुभूति के तल पर सर्जक बना डाला । साथ ही कवि का आन्तरिक व्यक्तित्व भी दृढतर होता गया और संवेदनाएं अधिक गहरी और तीव्र हो पायीं । यही कारण है कि 'हरी घास पर क्षण भर' से अरी ओ करुणा प्रभामय' तक के रचनाकाल को कवि के अपने भीतर शक्ति - संचय का समय माना जाता है ।[3] यह 'मैं' अहं युक्त नहीं, अपितु वह जगत में सुकृति का अलौकिक संतोष है, नियति का प्रतिरूप है, जीवन का जलता तेज है, विद्रोह का प्रखर स्वर है, सात्विक मुक्ति का प्रतिमुरुष है, और है मन का स्वयं-भू आलोक ।[4]

---

1. पूर्वा में संकलित 'दृष्टिपथ से तुम जाते हो जब', 'असीम प्रणय की प्यास' आदि कविताएं देखिए : पूर्वा पृ.19, 24.
2. पूर्वा - दीप से अगणित - पृ.207.
3. विद्यानिवास मिश्र : आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि अज्ञेय : पृ.43.
4. पूर्वा : 'प्रणति' शीर्षक कविता : पृ.202.

स्वयंभूत आलोक से दीप्त व्यक्तित्व में अंकुरित भावनाएँ तभी फलती हैं जब उनसे लोक के कल्याण का अंकुर फूटे ।[1] उसके लिए व्यक्ति की निजता की सुरक्षा अनिवार्य है । उसकी अद्वितीयता बनी रहे । कारण कि निजता में ही विवेकिता पर आधारित वरण की स्वतंत्रता का (freedom of choice) उपयोग हो सकता है । समवाय को स्वयं का दान करने में व्यंजित समाजोन्मुखता या समर्पण में 'बना हूँ वर्ती' का प्रस्ताव जोड़कर अज्ञेय ने इस 'वरण की स्वतंत्रता' की ओर संकेत किया है । ' नदी के द्वीप' में चित्रित 'थिर समर्पण' स्वरूप द्वीप की निजता भी इसी सत्य को अभिव्यक्त करती है ।

अज्ञेय की यह धारणा निर्मूल नहीं है । व्यक्ति के अस्तित्व की सत्यता एवं निजीपन को स्वीकार किए बिना वह अपने विवेक का प्रयोग नहीं कर सकता । कारण कि विवेकिता से अनुशासित वरण की स्वतंत्रता ही व्यक्ति के विकास का चालक है । ऐसे निजीपन से युक्त अद्वितीय व्यक्तित्व की महत्ता तब उद्घाटित होती है जब भोर के बावरे अहेरी के समान

" पहले बिछाता है आलोक की लाल लाल कनियाँ
पर जब खींचता है जाल को
बाँध लेता है सभी को साथ । "[2]

यहाँ हम अज्ञेय के 'मम - ममेतर' सम्बन्ध की पहली झाँकी भी प्राप्त कर सकते हैं । यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि अज्ञेय का यह व्यक्तित्व उपनिषद् प्रोक्त व्यक्तित्व - धारणा के कितने निकट है - " सर्वाणि भूतानि [illegible]वानुपश्यति ।"[3] यह व्यक्तित्व मृत्यु - भय

---

1. पूर्वा : 'कवि, कुआ क्या फिर' : पृ.230.
2. अज्ञेय : बावरा अहेरी : (सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, प्रथमावृत्ति, 1954)पृ.14.
3. ईशावास्योपनिषत्, 6.

से स्वतंत्र मुक्त भी है क्योंकि वह मृण्मय उपकार पर मात्र आधारित नहीं, जो एक झटके से भंगुर ही अस्तित्व को नष्ट कर देता है। उसकी जड़ें पार्थिव तल पर होने पर भी, उससे खाद स्वीकार करने पर भी उसका विकास मृत्तिका के दबाव से आगे बढ़कर अनश्वरता के आलोकमय अन्तरीक्ष में हो जाता है। वह सम्पर्क की तीव्र चेतना से उद्वेलित हो आत्मोत्सर्ग आत्मदान की क्रियाओं के बीच प्राप्त ऐसी क्षणों में फलीभूत होता है जो उसे नश्वरता के दाग से मुक्त कर देते हैं।[1] सत्य जीवन की मरण - धर्मिता से परे उसकी प्रवाहमयता ही उसे सार्थक बना देती है।

व्यक्ति की यह अद्वितीयता उसके विवेक की स्वतंत्रता में ही प्रकट हो सकती है और विवेक तो संस्कृति पर आधारित भी है। संस्कृति सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखती है क्योंकि वह तो चेतना का परिष्कार है।[2] अतः व्यक्ति के स्वतंत्र विकास में उच्छृंखलता की गुंजाइश नहीं होती है। वह समाज निरपेक्ष या समाजविरोधी नहीं हो सकता। यही कारण है, व्यक्ति विकास में बाधक वर्जनाजनक मार्क्सवादी समूहवाद का निषेध वे करते हैं।[3] रवीन्द्रनाथ ठाकुर के मानववाद से उन्होंने अपने को अलग कर लिया तो इसलिए कि उसमें यथार्थ व्यक्ति के व्यक्तित्व की सत्यता की उपेक्षा ही रहती है।[4]

---

1. अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी - प्रथम संस्करण 1959) 'मैंने देखा : एक बूंद' कविता पृ.140.
2. आत्मनेपद - पृ.101 हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य : पृ.17
3. आत्मनेपद - पृ. 199 - 200
4. अज्ञेय रवीन्द्रनाथ परम तत्व से मिलकर ही व्यक्ति की सत्यता का अंगीकार करते हैं : देखिए : "हे सत्य देख लूँगा कब पूर्ण ज्योति तेरी
मैं तो असत्य ही की करता अटूट फेरी।"
गीतांजलि : गीत 136. (द्रष्टव्य : गीत, 135, 137) लालधर त्रिपाठी प्रवासी हिन्दी पुस्तकालय, अनारस, 1951.

अपनी प्रज्ञा से प्रदीप्त काव्य यात्रा के बीच उन्होंने सामयिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का कोना कोना टटोलकर सत्य का अन्वेषण किया । सत्य के विविध मुखों का साक्षात्कार भी किया ।[1] केवल एक ही सचमुच सत्य अनुभूत हुआ - व्यक्ति मानव ।[2] उससे ही उनका रागात्मक सम्बन्ध हो सका - बाकी सब तथ्य ही रह गए - उनका कवि से क्या सम्बन्ध है - कवि के ही शब्दों में यह है :

" तुम किसी देवता से नहीं निकले
तुम मेरे साथ, मेरे ही अश्रुओं में गले
मेरे ही रक्त पर पले
अनुभव के दाह पर, क्षण क्षण उकसती
मेरी अशमित चिता पर
तुम मेरे साथ जले
- - - - - -
भस्म हो
मैं ने फिर अपनी भभूत में पाया ।
अंग रमाया
तभी तो पाया - - - ।"[3]

मानवेन्द्र नाथ राय के व्यक्तिमूलक मानववाद से प्रभावित अज्ञेय कैसे यह आधुनिक युग का कराहता मानव सत्य बन गया तो आश्चर्य नहीं । यह व्यक्तित्व तभी पूर्णतः शोभान्वित

---

1. अज्ञेय : 'हम्बूबनु रोंदे हुए ये : (सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, प्रथमावृत्ति 1957)
' सत्य तो बहुत मिले ' कविता देखिए पृ.17.
2. वही, वही कविता : पृ.18.
3. 'हम्बूबनु रोंदे हुए ये ' : पृ.18.

होकर सामने आता है जब वह स्वयं समाज को समर्पित होता है । इस समर्पण में ही अज्ञेय व्यक्ति की निजता और विवेकिता पर बल देते हैं ।

वस्तुतः पूर्णविकास प्राप्त व्यक्तित्व का समर्पण ही समाज और व्यक्ति दोनों के लिए उचित है क्योंकि उसके पीछे स्वतंत्र निर्णय का आधार है । इस दृष्टि का समर्थन अज्ञेय अपने 'नदी के द्वीप' उपन्यास के एक पात्र, रेखा के शब्दों के द्वारा भी करते हैं : " व्यक्ति की दशा पर इस मामले का (विवाह का) जो भी निर्णय होगा - गलत होगा - बुरा होगा, असह्य होगा - - -। "[1] कहने की आवश्यकता नहीं स्वतंत्र निर्णय पूर्णतः विकसित व्यक्तित्व के सहज विवेक का परिणाम है । संक्षेप में, पूर्णतः अर्पित होकर किया जानेवाला समर्पण ही समर्पण है । उसी में कुंठा की संभावना नहीं रहती । 'नदी के द्वीप' के नायक भुवन के मुँह से भी स्वयं अज्ञेय ने इस सम्बन्ध में अपनी यह दृष्टि स्पष्ट की है ।[2]

" यह द्वीप अकेला
स्वयं पूर्ण है दो । "[3] पंक्तियों में भी पूर्ण - विकसित व्यक्ति की समाज धर्मिता मुखरित मिलती है ।

तपःसाधना से आन्तरिक व्यक्तित्व की पूर्ति और विवेकिता की स्फूर्ति प्राप्तकर अपने को समिष्टि की समर्पित करनेवाले महान तपस्वियों की संस्कृति से ही अज्ञेय की इस दृष्टि का सम्बन्ध है । आत्मोत्सर्ग में जीवन की धन्यता एवं सत्ता की सार्थकता अनुभूत

---

1. नदी के द्वीप : पृ.23.
2. वही : पृ.741, 334.
3. बावरा अहेरी : पृ.62, 63.

हो, तो वह स्वनिर्मिति हो । व्यक्ति के विवेक के सदुपयोग से ही यह संभव है । कठिन साधना के ताप में चमकते अन्त : साक्ष्य से वह प्रेरित हो । यह स्थिति कुंठाओं और वर्जनाओं से मुक्त मनोभूमि में ही संभव है । कुंठाग्रस्त व्यक्ति समाज को कुंठा रहित कैसे कर सकता है ?

अस्तित्ववाद का प्रभाव

अद्वितीय व्यक्तित्ववादी इस विदेही मानव का अन्वेषण वर्तमान युग के विनाशकारी वातावरण के अनुभवों से मानवास्तित्व में आस्था रखनेवाले कवि -हृदय में प्रेरित है । दो विश्वयुद्धों की विभीषिकाएँ, वैज्ञानिक प्रगति से घटित शाश्वत - मूल्य-विघटन, यंत्र सभ्यता के विकास के फलस्वरूप सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक तथ्यों और मान्यताओं की वैधता पर पड़ी प्रश्न भरी दृष्टि - आदि ने मनुष्य को अपने अस्तित्व के महत्व पर विश्वासहीन बना डाला ।[1] आधुनिक परिस्थितियों ने मानव की अवस्थाओं की (human conditions) बाह्य और आन्तरिक दोनों पक्षों में विरूप, विद्रूप, आतंकपूर्ण और आधारहीन कर डाला । जीवन उलझनों असंगतियों का पुंज बना,[2] मनुष्य की इस विडम्बना-पूर्ण स्थिति पर अज्ञेय - जैसे कृतिकार का आकुल होना स्वाभाविक

---

1. देखिए सार्त्र का - Existentialism and Human Emotions, Ch. The Hole. नामक अध्याय (पृ.84 - 9) - Castle, Secancus.
2. मानवास्तित्व की असंगतिग्रस्त स्थिति का दार्शनिक चिंतन ही अलबेर कैमू(Albert Camus) का 'Myth of Sysiphus' प्रस्तुत करता है । देखिए The Absurd Man, The Myth of Sysiphus आदि खंड । पृ. 64 - 65, 107 - 111. (Myth of Sysiphus - Penguin Modern Classics, 1984).

ही है । अतः संवेदन के सूक्ष्म तल पर उसका अनुभव करके उसके प्रति अपनी रागात्मक अनुभूतियों को उन्होंने वाणी दी है । ये अनुभूतियाँ तो मानव की अद्वितीयता की चेतना से ही उद्भूत है ।[1] कारण कि ये जीवन में विश्वास और आस्था जगाकर मानव के अस्तित्व को फिर से गौरवान्वित करनेवाले अस्तित्ववादी दार्शनिकों के विचारों से प्रभावित है ।[2] अतः मानव की विनष्ट और खण्डित आन्तरिकता की खोज के सिलसिले में ही उनकी वर्जना-विरुद्ध दृष्टि को देखना चाहिए ।

इस युग - सत्य से अवगत होने पर उनकी युग - चेतना और दायित्व-बोध एकदम ऊर्ध्वायित हो उठता है । वे यह कहकर कि

" आज अगर मैं जगा हूँ अनिमिष -
आज स्वप्न दीदी से मेरे पैर आज पट भटक गए हैं -
तो वह क्यों ? इसलिए कि आज
प्रत्येक स्वप्न दर्श के आगे
गति से अलग नहीं यह तो यति कोई "[3] युगीन आवश्यकता के प्रति आत्मवादी विमुखता और दुर्वह काल्पनिकता से मुक्ति की घोषणा भी करते हैं । इस प्रकार कविकर्म की चरितार्थता जीवन की यथार्थ ज़मीन पर देखकर उसे (यथार्थ जीवन को) स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाते हैं - " सूली पर जो सेज बिछी है वह -वह मेरी है ।"[4]

---

1. डा. श्याम सुन्दर मिश्र : अस्तित्ववाद और द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य (विद्या प्रकाशन मंदिर, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1971.) पृ.130.
2. अज्ञेय पर प्रभाव डालनेवाले आस्तिक अस्तित्ववादी दार्शनिकों में काइर्कगार्द, गाब्रियल मार्सल आदि प्रमुख हैं । दे अस्तित्ववाद और द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य । पृ.133.
3. पूर्वा - 'सपने में ने भी देखे है ' कविता - पृ.224.
4. वही वही - पृ.224.

जीवन के दुःखों की सूली पर किसी सेव को अपनाने के पीछे लोक - कल्याण की भावना ही प्रवृत्त है -

" भावनाएँ तभी फलती हैं कि उनसे लोक के
कल्याण का अंकुर कहीं फूटे । "[1]

सामाजिक - हित चिंतन की इस सतर्कता ने उन्हें वर्तमान युग के जीवन की परिस्थितियों और अवस्थाओं का जो परिचय दिया वह बिलकुल विडम्बनापूर्ण और विद्रूपात्मक ही दीखा। उन्होंने देखा -

" सभी जगह
जो उपजाता है अन्न, पालता सब को,
उसकी झुकी कमर है । "[2] खेत - खलिहानों में

बढ़ई - तीव्र परिश्रम करके खाद्य का उत्पादन करनेवाले किसान का दिन दरिद्रता में गुज़र जाता है । यंत्र के समान उत्पादन करना ही उसका एकमात्र कर्म रह गया है । भोक्ता कोई दूसरा है । लेकिन भोक्ता और उत्पादक कृषक के बीच का हार्दिक सम्बन्ध आज टूट गया है । अतः उत्पादक होने पर भी गरीबी में जीवन बिताने के लिए विवश किसान वर्तमान समाज की विडम्बना पूर्णस्थिति का प्रतीक है । उसकी झुकी कमर मानवता के सामने जो यांत्रिकता के बीच पिस गई है, प्रश्न चिह्न ही है ।

राजनीतिक क्षेत्र की स्थिति बिलकुल डरावनी है । अयोग्य और मन्दबुद्धि व्यक्ति कृत्रिम मार्गों से अपनी अयोग्यता की किताब रखकर जहाँ शक्तिशाली शासक

---

1. पूर्वा - कवि कुछ क्या फिर कविता - पृ.230
2. अज्ञेय - अरी ओ करुणा प्रभामय - 'लौटे यात्री का सम्बल' कविता -
(भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, प्रथम संस्करण, 1959) पृ.36.

बन बैठे हैं, वहाँ देश की प्रगति की बात क्या,

" सभी जगह
जिसकी मुट्ठी में ताकत है
उसका भेजा है एक ओर भेड़िये,
दूसरी पर मर्कट का ।"[1]

जन जीवन के आतंकित होने वैसिए और क्या चाहिए ? वाणिज्य के क्षेत्र में भी सभी जगह व्यापारी लोग व्यापार सम्बन्धी नैतिकता को भूलकर अपने माल को ग्राहक के सिर मढ़ा देने वैसिए ग्राहकों की बात लगाते बैठते हैं ।[2]

कहीं भी कवि मानव - मानव के बीच की आत्मीयता का साक्षात्कार कर नहीं सके । हार्दिकता की आन्तरिकता लुप्त हो गई है । प्यार की पूछनेवाला कोई नहीं दिखाई दिया । आन्तरिकता का संकोच और सतहीपन (दिखावेपन)का फैलाव ही सब कहीं अनुभूत हुआ । नकली व्यवहार के नीचे अपने असली रूप को छिपा कर कृत्रिमता को प्रश्रय देनेवाले वर्तमान समाज में उन्होंने देखा -

" सभी जगह
जो मूल्यवान है सकुचा रहता है, अदृश्य, सीपी के मोती - सा
जो मिलता नहीं बिना सागर में डूबे :
सभी जगह
जो बिकता है, ओछा है,

---

1. अरी ओ करुणा प्रभामय, 'लौटे यात्री का वक्तव्य' कविता : पृ.36
2. वही वही : पृ.36

नकली बीमारवाद पर सजा हुआ बैठा है सकदक,
चौंधाती आँखों को, जब तक ठोकर लगी, पैर रपटे,
या जेब कटे, नीयत बिगड़े, दी मतिभ्रम, दिल डोला जाय ।"[1]

इसप्रकार वर्तमान मानव - जीवन मूल्यों की दृष्टि से वीरान पड़ गया है । वहाँ निर्मूल विद्रूप - भरी धारणाओं की - रूढ़ियों की - जड़ीभूत कर लेने का परिश्रम बेकार है । वह 'सामान्यकृत्रिम' के समान मतिभ्रम या सम्मोहन का व्यापार मात्र है ।

जीवन को जीने योग्य बनानेवाले तत्वों में - प्रेम और विश्वास है - भी हो जाने पर जीवन की अर्थवत्ता ही कुछ नहीं दिखाई पड़ी । देने की बात रटनेवाला भी सिर्फ लेने के उद्देश्य से ही ऐसा करता है । लेने की लोलुपताने देने के महत्व को पीछे ही और धकेल दिया । इस के बीच में पड़कर सच्चीमानवता कराह उठती है । वह कान लगाकर सुनने का परिश्रम करती है कि किस ओर से प्यार की बात कही जाती है । देने में ही जिस प्यार की सफलता है, उसकी पुनः स्थापना में ही जीवन की विनष्ट आन्तरिकता की पुनर्प्राप्ति और मानव के विभाजित व्यक्तित्व का पुनर्गठन संभव हो सकता है । अतः जीवन के प्रतिष्ठापार (प्रेम), संसार भर के साथ निस्वार्थ आत्मोत्सर्ग मूलक संबन्ध भावना - इनके जरिए ही मानवास्तित्व की शाश्वत समस्याओं का परिहार हो सकता है

" और यही पूछते हैं वे भी जिनकी जिज्ञासा
कभी नहीं होती रुपायित, मुखरित,
जो अनासक्त हैं, जिन्हें स्वयं कुछ नहीं किसी से लेना है : क्या दोगी ? कितना दोगी -
दे सकते हो - मुझे नहीं, जग भर को, जीवन भर को, प्यार ?"[2]

---

1. अरी ओ करुणा प्रभामय, 'लौटे यात्री का वक्तव्य' कविता - पृ.36 - 37.
2. वही वही - पृ.38.

इसप्रकार विश्व की ग्रसित विद्रूपता और मानव के अस्तित्व की आकुलता का अभिव्यंजन करते अज्ञेय अपनी अस्तित्व सम्बन्धी दृष्टि का परिचय देते हैं। अस्तित्व के बारे में, जैसे अभी अभी सूचित किया गया, अज्ञेय की आकुलता उन्हें निराशता की तरफ नहीं ले जाती है, यह उल्लेखनीय है।

दर्द या दुःख को कवि अज्ञेय व्यक्ति के लिए ग्लानिकारक नहीं मानते। प्रत्युत दुःख व्यक्ति का परिष्कार ही करता है। वह व्यक्ति को मांज - संवार कर उसे सक्षम रखता है -

" दुःख सब को मांजता है
और -
चाहे स्वयं सब को मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु -
जिनको मांजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सब को मुक्त रखें।"[1]

इसतरह वे दुःख को विशेष मानसिक अवस्था या परिस्थितिजन्य जीवनानुभव से ऊपर उठाकर दार्शनिक कोटि में प्रतिष्ठित करते हैं। उनकी यह धारणा है कि " केवल पीड़ा होना पीड़ा का भोग नहीं और पीड़ा का भोगा करते हुए भी पीड़ा की प्रतीति अनिवार्य भी नहीं है।[2] दुःख की इस धारणा के मूल में बौद्ध दर्शन की अनन्त करुणा की अन्तर्धारा सक्रिय है।[3]

---

1. पूर्वा (पहला दौगरा) पृ.242 - 243.
2. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि अज्ञेय : पृ.20.
3. 'Suffer it to be so, O Arahant, suffer to it be so'..... You are now feeling results of your Karma, that might have cost you centuries of suffering in purgatory ..... Thus bhikkhus must ye train yourselves to meet no matter what treatment at men's hands: Our mind shall not be perverted, nor shall we utter evil words, but we shall abide friendly and compassionate, our thoughts affectionate and not hostile, and we shall continue to suffuse that person with heart of love, and so ..... too the entire world with heart of love, rich and sublime and boundless free from anger or malevolence!. Buddha: Dialogues! i) 127 reproduced in Buddhism by Mrs. Rhys Davis (Williams and Norgate, London). P. 162

अनन्त करुणा या विश्वमानवीय चेतना का रूप लेने वाली इस दर्द और दुःख का अभिव्यंजन, मानव की क्षुद्रता की विवेचना के द्वारा उसके व्यक्तित्व की खोज निकालने का परिश्रम करनेवाले अज्ञेय की कविताओं में प्रभूत मात्रा में नाना प्रकार से हुआ है । बौद्धिक स्तर पर स्वीकृत अनासंगवृत्ति और करुणा ने ही, जैसे पहले सूचित किया गया है उनकी अस्तित्व सम्बन्धी दृष्टि को रूपायित किया है । करुणा की विशुद्ध भावना ने जो अन्तर्दीप्ति कवि को प्रदान की उसकी बौद्धिक अनुभूति कवि के ही शब्दों में इस प्रकार है :-

" या केवल
मानव होने की पीड़ा का एक नया स्तर खोला :
क्या ऐसे इस नये दर्द की भी दीवार में फोड़ा :
उससे फूटा जो आलोक, उसे
- बिसरा जाने से पहले -
निर्निमेष आँखों से देखा
निर्मम मानस से पहचाना
नाम दिया ।"[1]

निर्मम मानस से उन्होंने जीवन की गतिमयता और संकुलता की तटस्थता की दूरी पर खड़े होकर विस्मयपूर्वक देख लिया ।[2] यहाँ स्मर्तव्य है कि अज्ञेय

---

1. अरी ओ करुणा प्रभामय ('हम वृती नहीं हैं') पृ.17
2. अज्ञेय : आत्मनेपद : पृ.45

सदैव लययुक्त गति के दुर्निवार आकर्षण में है । उस गति में भी, जीवन की प्रवाह - मयता में भी आत्मलीन होकर, उस प्रवाह में प्रवाहित होने से (और साथ ही नदी के द्वीप के समान उससे चिरसम्पर्क बनाए रखते हुए)[1] अपनी को बचाए रखना, अपने व्यक्तित्व की निजता को सुरक्षित रखना वात्स्यायन की सहज विशेषता है । इस पारद व्यक्ति के व्यक्तित्व की अद्वितीय आन्तरिक निजता की विशिष्टता प्रवाह में कौंधनेवाली मछली के समान और अलग दिखाई पड़ती है :-

" सब में मैं हूँ, सब मुझ में है,
सब से गुंथा हुआ हूँ, पर जो
बींध गया है सद्य मुझे वह
वह उजली मछली है
भेद गई जो मेरी
बहुत बहुत पहचानी
बहुत बहुत अपनी यह
बहुत पुरानी छाया । "[2]

कवि कैसिर एलेग्रा यह " जीवन " - - - " स्मृतियों और आकारों का एक रंगीन और विस्मयभरा पुंज है ।"[3] 'सीन मछली' कविता भी जीवन और काल के प्रति कवि के आकर्षण और अद्भुत भाव को स्पष्ट करती है । उसी साथ ही मछली में अन्तर्भूत विजीविषा के स्पन्दन और वासना की गुंजार की अनुभूति को अभि - व्यक्ति मिली है :-

---

1. पूर्वा ('नदी के द्वीप') पृ.251 - 252. द्रष्टव्य 'नदी के द्वीप' उपन्यास पृ.334
2. मरी औ कमला प्रद्युम्न ('रश्मि बाव') पृ.93
3. आत्मनेपद : पृ.45

" हम निहारते रूप
काँच के पीछे
हाँप रही है मछली
रूप तृषा भी
(और काँच के पीछे)
है जिजीविषा । "[1]

जीवन के पार्थिव पक्ष के प्रति इसप्रकार तटस्थ निरीक्षण और वात्सल्यपूर्ण विस्मय से पूर्ण दृष्टि के पीछे अज्ञेय की यह धारणा है कि मानवव्यक्तित्व की महिमा उसकी शक्तियों और सीमाओं के ज्ञान के प्रकाश में सम्यक् अहंमुक्त आत्मस्वीकार में निहित है -

" कहा सागर ने : चुप रही
मैं अपनी अक्षमता जैसे
सहता हूँ, अपनी मर्यादा
तुम सही ।
जिसे बाँध तुम नहीं सकते
उसमें असीम मन
लही ।
- - - - -
तुम नहीं व्याप सकते, तुम में व्यापा है
उसी की निराशी । "[2]

---

1. डॉ० श्री कमला प्रसाद पाण्डेय ('दीनमछली') पृ.82
2. अज्ञेय : हरी घास पर क्षण भर ('जितना तुम्हारा सच है')- सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, प्रथमावृत्ति 1957.) पृ.14 - 15.

इसकेलिए पहली शर्त विवेक का उदय और उसपर आधारित प्रेम और करुणा से पूर्ण आत्मोत्सर्ग है । इस स्थिति में कष्ट, मरण, जैसी मानवीय स्थितियाँ भी व्यक्ति को भय-दायक नहीं लगेंगी । मृत्यु को भी कौतुक के साथ देखने की अन्तर्दृष्टि उसे प्राप्त हो जाती है -

" काल की दुर्वह गदा को एक
कौतुक भरा बाल हाथ तौलता है । "[1]

मृत्यु अज्ञेय की दृष्टि में जीवन की अनिवार्य प्रक्रिया है । वह जीवन के क्रमबद्ध विकास का सूचक है । अस्तित्व की गतिशीलता को वह प्रमाणित करती है । वैसे, जीवन की गति भी मृत्यु की ओर है ., फिर भी उस गति में ही जीवन की जीवितव्यता कवि को लक्षित होती है -

" मरण धर्मा है सभी कुछ
किन्तु फिर भी वही
मीठी हवा
जीवन की क्रियाओं को
तुम्हीं तो तीव्र करती हो । "[2]

मृत्यु को इसप्रकार अनिवार्य मानवीय स्थिति स्वीकार करते हुए वे जीवन की चरितार्थता को प्यार के वरण के द्वारा व्यक्ति की अहंमुक्त सामाजिक संपृक्ति में अनुभव करते है :-

---

1. अज्ञेय : अगिन के पार द्वार ('सदि का पुतला') पृ.36
2. बावरा अहेरी (इसने केलिए) पृ. 58 (सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1954.)

" मरण अनिवार्य है
प्रेम सम्बन्ध मरण है ।"[1]

नश्वर पार्थिव अस्तित्व के बीच में भी व्यक्ति को जीवनदायी बना देनेवाला तत्व प्रेम है, कल्पना है -

" जो मरण धर्मा है, वे ही जीवनदायी है "[2]

स्वभावतः मृत्यु उनके सामने समस्या नहीं बनती । और इस अनिवार्यता से संत्रस्त और आकुल हो निराश और अकर्मण्य रहने से व्यक्ति में जीवन - निराश की प्रवृत्ति विकसित हो जायगी ।

मृत्यु समस्या तब बनती है जब जीवन के प्रति - पार्थिव अस्तित्व के प्रति - मोह - ममता पूर्ण अर्थपूर्ण सम्बन्ध बन जाता है । सैद्धान्तिक अर्थ से रहित विवेकी व्यक्ति में यह स्थिति नहीं होती । उसमें जीवन के प्रति जो आस्था बनी रहती है, वह ममता मूलक नहीं, वह जीवन की आन्तरिकता से सम्बन्धित है । उसमें आत्मगतीय विश्व-अनुभव की भावना जगती है :-

" मैं मरूँगा सुखी
क्योंकि मुझे जो जीवन दिया था
. . . .
उससे मैं निर्विकल्प खेला हूँ
खूब रागी उसे मैं ने वारा है - - - -
अभिषेक उतारे है ।

---

1. अज्ञेय : पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ ('सागर मुद्रा - 12') (राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, दूसरा संस्करण, 1976) पृ.28.
2. श्री जी कल्पना प्रणामय ('मैं ने कहा, पेज -') पृ.48.

पाँच ही थे तत्व मेरी गुदड़ी में
मैं ने नहीं माना उन्हें लाल ।"[1]

मृत्यु के सामने यह निर्भीकता और अनुद्विग्नता कवि में इसलिए है कि वे अनस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं क्यों कि अनस्तित्व की शून्य-स्थिति 'सत्' से भरी रहती है :-

" वह कुछ में से वृत्त यह निकला कि जो फिर
शून्य में जा विलय होगा :
किन्तु वह जिस शून्य को बाँधे हुए है -
उसमें एक एषायित ठंडी ज्योति है ।
तब फिर शून्य कैसे है - कहाँ है ?
मुझे फिर आतंक किसका है ।"[2]

अनस्तित्व का निराकरण करते हुए अज्ञेय का कहना है :-

" पश्चिम द्वारा किया गया मृत्यु का अन्वेषण वस्तुतः
आत्म चेतना का अन्तिम छोर है जहाँ विराट के सामने उसे अनस्तित्व
को स्वीकार करना पड़ा । पूर्व या भारत ने अनस्तित्व को नहीं
माना और चेतना के दूरतम छोर के बाहर विराट अन्धकार में करुणा
की स्थापना की है । जहाँ सब कुछ समाप्त हो जाता है, वहाँ कृपा है।"

अज्ञेय की अस्तित्व सम्बन्ध दृष्टि इसप्रकार भावना मूलक न होकर बौद्धिक चिंतन का परिणाम अधिक है । जन्म - मृत्यु के बीच की मनुष्य के पार्थिव अस्तित्व की अवधि को

---

1. पूर्वा (जन्म दिवस) पृ.193.
2. अज्ञेय के पार द्वार (चक्रान्तशिला 17) पृ.48.
3. अज्ञेय : एक बूँद सहसा उछली (भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, प्रथम संस्करण, 1960) पृ. 310.

विभिन्न अवस्थाओं की परम्परा प्राप्त भारतीय आस्तिक दृष्टिकोण से दार्शनिक कोटि में रखकर उन्होंने विश्लेषण का विषय बनाया है । अज्ञेय में उपलब्ध रहस्यात्मक अनुभूतियों के अभिव्यंजनों को अस अस्तित्व की वर्तमान कालीन बाह्य और आभ्यंतर परिस्थितियों की विसंगति के बोध से प्रेरित मानना चाहिए ।[1] 'होने' और 'न कुछ' की स्थिति की विवेचना से हटकर, काल निरपेक्ष या समवर्ती, चिरन्तन परम सत्ता से अपने अन्दर आभासित होनेवाले अरूप को जोड़ लेने और इस सम्बन्ध की अपूर्ण घड़ियों में अनश्वरता का अनुभव करने की ओर उनका व्यक्तित्व प्रवृत्त है । यह बड़ी पूर्णता का निमित्त है -

" रूपों में सदा एक अरूप खिलता है,
गोचर में एक अगोचर, अप्रमेय,
अनुभव में एक अतीन्द्रिय,
पुरुषों के हर वैभव में औचक
अपौरुषेय मिलता है ।
मैं एक शिविर का प्रहरी, भोर जगा
अपने को मौन नदी के बड़ा किनारे पाता हूँ
मैं मौन - मुखर, सब बन्दी में
उस एक अनिर्बंध, छन्द मुक्त की
गाता हूँ ।"[2]

अज्ञेय की काव्य - यात्रा व्यक्तित्व के अन्वेषण से प्रेरित है । उस काव्यत्व - विकास के साथ उभर आनेवाला व्यक्ति पहले मूल्यविघटन की सामयिक प्रवृत्ति के अनुरूप भौतिक -

---

1. इस स्तर पर अज्ञेय आधुनिक अस्तित्ववादी विचारक गाब्रियल मार्सल के निकट हैं । Six Existentialist Thinkers by H.J. Blackham, (Routledge & Kegan Paul London, 6th Imp. 1965.)
2. अरिन के पारदार (चक्रान्त शिला) पृ.39

जीवन - विधान में अपनी अधिकार - हीनता से लाचार है । इस असमर्थता के लिए वह न ईश्वर को दोषी ठहरा देता है । अपनी इस असहाय अवस्था से आकुल होकर वह ईश्वर के सामने अपने अहं का विवशता पूर्ण समर्पण कर देता है -

" तुम मेरी शक्ति के -
- - -
अंश के भी दाह
जड़ता के जगत् में अलौकिक सन्तोष सुवृत्ति के,
अनाचारी, सर्वद्रावी, सर्वग्रासी -
औ नियंता एवं अभिनवशील के,
इसी मेरे
यही सही
हृदय के जगते उजाले, निवेदित रक्त के निवासी ।
प्रणति ले । "[1]

मानव के इन शब्दों में - परस्पर विरोधी सम्बोधनों में - सामयिक परिस्थितियों से जनित आन्तरिक अशान्ति और आकुलता ही व्यंजित है ।

लेकिन बाद में अज्ञेय अन्य यह दुःख और दर्द बौद्ध करुणा, ईसाई कष्ट - सहन एवं मसीही प्रेम[2] से संस्कारित होकर विश्व मानवीय चेतना और परम करुणा में विकसित हो गया । प्रेम और करुणा के बौद्धिक स्वीकार ने जीवन

---

1. पूर्वा : ('प्रणति') पृ.202.
2. अज्ञेय में प्रारंभ से ही ईसा के दिव्य जीवन और ईसाइयत के मूल सिद्धान्तों की ओर आकर्षण रहा है । ईसा का क्रॉस स्वयं कष्ट सहकर दूसरों को मुक्ति देने का प्रतीक है उनके लिए । द्र. Article by Ajneya in Contemporary Indian Literature.

समस्याओं को निर्मम और निर्भय दृष्टि से देखने और मृत्युभय से मुक्त रहने में उन्हें समर्थ किया। यही नहीं, इस स्थिर प्रज्ञता और विवेकपूर्ण उत्सर्ग - भावना ने उन्हें समाज के साथ दर्द और राग से प्रेरित मम - ममेतर सम्बन्ध स्थापित करने की शक्ति प्रदान की जिससे अस्तित्व सर्वपूर्ण हो सका :-

"सांस का पुतला हूं मैं
जरा से बंधा हूं मैं और
मरण को दे दिया गया हूं
पर एक प्यार जो है न, उसी के द्वारा
जीवन मुक्त मैं किया गया हूं।"[1]

मम - ममेतर सम्बन्ध के त्रिकोण निर्वैयक्तिक में विकसित विश्व बन्धुत्व परम करुणा से दीप्त अपनेपन की अनुभूति के क्षण कवि को अपने अस्तित्व की अनश्वरता का बोध प्रदान करते हैं-

"मैं ने देखा
एक बूंद सहसा
उछली सागर के झाग से
रंग गई क्षण भर
ढलते सूरज की आग से
मुझ को दीख गया
सूने विराट के सम्मुख
हर आलोक छुआ अपनापन
है उन्मोचन
नश्वरता के दाग से।"[2]

---

1. अज्ञेय के चार द्वार : ('सांस का पुतला') पृ.36.
2. अज्ञेय की करुणा प्रभामय (मैं ने देखा एक बूंद) पृ.140.

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि अज्ञेय के अस्तित्व - सम्बन्धी विचारों के पीछे पूर्वी और पश्चिमी दार्शनिक विचारधाराओं का गहरा प्रभाव है । इनमें भारतीय औपनिषदिक दर्शन का आत्मविस्तार मौद्ध करुणाभाव, और पश्चिमी अस्तित्ववादी दार्शनिक या एर्स की प्यार की अवधारणा (conception of love) आदि ने अज्ञेय के विचारों के गठन में महत्वपूर्ण योग दिया है । इसप्रकार अज्ञेय की सहज आस्तिक दृष्टि अन्य आस्थावादी सिद्धान्तों से परिपुष्ट होकर अस्तित्व के मूल में करुणामय विराट को स्वीकार करके आतंकरहित और स्वस्थ बन सकी है ।

इस कारण सार्त्र जैसे विचारकों के निषेधात्मक या नकारात्मक विचार अज्ञेय को आवर्षित नहीं कर सके । उनका यह प्रश्न :

" कहा तो सच, पीछे लौट देखो नहीं -
पर नकारों के सहारे कब चला जीवन ?"[1]

नास्तिक अस्तित्ववादियों की निषेधात्मक दृष्टि के खण्डन का द्योतक है । जीवन अज्ञेय के लिए सार्त्र के समान 'व्यर्थ - भावावेग'(useless passion)[2] नहीं है । वह जीने योग्य है । उसे जीने योग्य बनाने वाली चीज़ अनुभूतियाँ हैं ।

" स्वप्न को पाथेय बनने दो
कभी तो अनुभूति उमड़ेगी,
जीवन का साद्र घन भी बन ।[3]" में जीवन की मूल्यवत्ता और रसनीयता के मर्म का उद्घाटन ही किया गया है ।

---

1. अज्ञेय : बावरा अहेरी (वर्षा - रात), सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद 1954 - पृ.54.
2. 'Life is a useless passion - Sartre: Existentialism and Human Emotions. P. 90
3. बावरा अहेरी (वर्षा - रात) पृ.75.

यासपर्स से अज्ञेय की भेंट और घनिष्ठता का मूल पकड़ने केलिए पियरी - वि - वीर के मठ में (पेरिस) उनका वास[1] इस सख्य जीवनास्था को दृढतर बनाने में सहायक हुए । यासपर्स के 'प्रेम के ज्ञान' का सिद्धान्त अज्ञेय के चिन्तन के अनुकूल ही निकला । अनुभूति की प्राथमिकता[2] का आग्रह इस ज्ञान के प्रति आग्रह का परिणाम है क्योंकि यह ज्ञान जिजीविषा की - प्रेम की अनुभूति की - जड़ी है ।

अनुभूति की अद्वितीयता

'अर्थ हमारा जितना है संसार में नहीं, हमारी मुट्ठी में है'[3] मानकर अज्ञेय जीवन के अर्थ को व्यक्ति तल पर स्वीकार करते हैं । जीवन की सत्यता भी व्यक्ति के तल पर ही मानी जा सकती है क्यों कि तथ्य से रागात्मक सम्बन्ध होने पर ही सत्य उपायित होता है ।[4] जीवन की चरितार्थता अनुभूति के तल पर होती है । " यह अनुभूति अद्वितीय है क्यों कि कोई दूसरा की अनुभूति भोग नहीं सकता ।"[5] इस व्यक्ति निष्ठ अनुभूति की अद्वितीयता से अज्ञेय के ज्ञान के आग्रह को भी सम्बन्धित करना चाहिए ।

" अन्तः स्पन्दन, तुम भी
ज्ञान ज्ञान में जी लो ।"[6] के आह्वान में अनुभूति के अन्तः स्पन्दन से चरितार्थ होनेवाले जीवन - निमिषों का आग्रह ही प्रकट किया गया है उसकी महिमा अज्ञेय

---

1. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि : अज्ञेय : पृ.22.
2. "अनुभूति को अनुभावक से अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि कोई दूसरा की अनुभूति नहीं भोग सकता " - आत्मनेपद पृ.169.
3. अरी ओ करुणा प्रभामय प्रभामयः ('ऐर रहा सागर') पृ.168.
4. नदी के द्वीप : पृ.18.
5. आत्मनेपद : पृ.169.
6. बावरा अहेरी (चाँदनी जी लो) पृ. 56.

के ही शब्दों में इस प्रकार है :-

" एक क्षण : क्षण में प्रवहमान
व्याप्त सम्पूर्णता
इससे कदापि बड़ा नहीं था महाम्बुधि जो
पिया था अगस्त्य ने । "[1]

यह क्षण अस्तित्व का अद्वितीय और अखण्ड क्षण है क्यों कि वह

' होने के सत्य का
सत्य के साक्षात् का
साक्षात् के क्षण का
क्षण के अखण्ड पारावार का '[2] बोध प्रदान करनेवाला है ।

स्पष्ट है कि क्षण का यह आग्रह अनवादित्व नहीं है । यह अनुभूति पर आधारित और व्यक्ति तत्व पर संप्राप्त परम सत्योपलब्धि का क्षण है । अज्ञेय का यह आत्मवादी क्षण - मोह, जो 'नदी के द्वीप' जैसी उनकी अन्य रचनाओं में भी व्यापित है, व्यक्ति तत्व पर सत्य के साक्षात्कार पर बल देनेवाले भारतीय वेदान्त की दार्शनिक गरिमा से समुपेत है । यह दृष्टि जब बौद्ध - जैन उपदर्शनों से संस्कारित हुई, तो उसकी चमक और भी बढ़ गई। ध्यान गम्य परम तत्व की अनुभूति सभी साधकों वैसिए समान नहीं होती । प्रत्येक वैसिए वह भिन्न रहती है । यह भी अनुभूति की अद्वितीयता का ही समर्थन करता है ।

---

1. सम्भवतः रोते हुए ये : (नई कविता : एक संभाव्य भूमिका) पृ.44.
2. वही पृ.44.

मम - ममेतर सम्बन्ध

हमने देखा कि अज्ञेय व्यक्ति की अद्वितीयता[1] इसलिए मानते हैं कि उसके द्वारा ही विवेकिता का उपयोग हो सकता है। यह विवेकितापूर्ण अद्वितीयता व्यक्ति को 'ममेतर की समर्पित'[2] करती है। सार्त्र जब 'दूसरे व्यक्ति को नरक'[3] मानते हैं, और व्यक्ति - व्यक्ति के बीच संघर्ष को अनिवार्य घोषित करते हैं, तब अज्ञेय 'मम' - और 'ममेतर' के रागात्मक सम्बन्ध में सत्य का दर्शन करते हैं[4] और संघर्ष की अनिवार्यता का एकदम निराकरण करते हैं। 'जो मेरा है वही ममेतर है' कहा जाय तो दोनों के बीच रागात्मक सम्बन्ध की घनिष्टता अभिव्यंजित है। वह अनुभूति प्रक्रिया या आत्मानुभूत सत्य का रूप धारण कर ही ले।

इस दृष्टि से 'अरी ओ करुणा प्रभामय' से लेकर 'कितनी नावों में कितनी बार' तक की कविताएँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं। यह समय ऐसा है जिसमें अज्ञेय की मानववादी दृष्टि आध्यात्मिक भावनाओं और अनुभूतियों से परिमार्जित होकर परिपक्वता प्राप्त करती सामने आती है। विद्यानिवास मिश्र की राय में यह अज्ञेय की कविता का तीसरा चरण है जिसमें बिना किसी आशा के आत्मदान में सार्थकता पाने की प्रवृत्ति प्रबल रहती है। यही कारण है कि ममेतर के विकास के इस आयाम में उसके दो मुख दृष्टिगोचर होते हैं :- एक तो मनुष्य और दूसरा अध्यात्म। कवि के व्यक्तित्व के विकास के साथ अनिवार्यता उनकी दृष्टि विशाल होती गई। फलतः वह मानव को केवल पार्थिव जगत से ही सम्बद्ध रखने से

---

1. " हर व्यक्ति एक अद्वितीय इकाई है, और हर कोई जीवन का अन्तिम दर्शन अपने जीवन में पाता है, किसी की सीख में नहीं।" नदी के द्वीप : पृ.330.
2. कितनी नावों में कितनी बार('तुम नहीं तो किसे और') पृ.62.
3. Jean Paul Sartre: Existentialism and Human Emotions (Ch. Existence of Others). P.
4. हम बन्दी रहे हुए थे (सत्य तो बहुत मिले) पृ.17 - 18.

परितृप्त न होकर उसमें आध्यात्मिक परिपूर्णता का दर्शन करना चाहकर समझने लगी। ममेतर के इस विकास को हम उसीका परिणाम मान सकते हैं। अथवा, आध्यात्मिक चेतना से संपृक्त सिसृक्षा मानव में ही सीमित रहे, यह अनिवार्य नहीं है। मानव से बढकर बृहत्तर सत्ता की ओर उसका उन्मुख होना स्वाभाविक ही है। धरती पास पर ही उनकी मनीषा बद्ध रहे, सी बात नहीं। वह वहाँ से 'करुणा प्रशमय' की सहानुभूति के द्वारा 'अगिन के पार द्वार' के पार्थिव सत्य की अपने मन में प्रतीति भी करती है।[1] यहाँ 'स्व' व 'पर' की स्वात्मकता का अनुभव प्राप्त होता है। इस कारण रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। कवि के जानते समय नहीं लगता - 'सी इम्'। 'मम' और ममेतर का आध्यात्मिक स्तर पर ही यही रागात्मक सत्य है। इसका परिणाम यह है कि मानव और अध्यात्म का संयोग भी कभी कभी अक्षय काव्य में प्राप्त होता है। 'ओ - निसर्ग ममेतर'[2] कविता में यह स्थिति स्पष्ट परिलक्षित होती है। उसमें कभी कभी यह ममेतर परम सत्ता की विशेषताओं को प्रकट करके अध्यात्म की स्थिति अपनाता है यथा -

" तुम जो मेरी हो, मुझ में हो,
सघनतम निधि में
मैं ही जो हो अनन्य
तुझ में टूट बाहर से, प्रसार से,
देशावर से कालेतर से
तल से, अतल से, धरा से, सागर से, अन्तरिक्ष से
निर्व्याप्ति तेजस के निर्भीगी शून्य आकार से
मैं समाहित अन्तः पुर,

---

1. 'अगिन के पार द्वार' कविता देखिए (अगिन के पार द्वार, पृ.71.)
2. कितनी नावों में कितनी बार, पृ.16.

मंत्राघात कर तुम्हें
ओ निर्लोम ममेतर
ओ अभिन्न प्यार
ओ धनी
आज फिर एक बार
तुम को बुलाता हूँ।

यही ममेतर आगे चलकर

" ओ मेरी सहयायिनी,
- - -
ओ मेरी सहधर्मा
- - - -
ओ सहजन्मा, सह सुप्ता
निर्व्याजा,
सहजीविता
सहजीविता, पत्न्यामी[2] आदि सम्बोधनों में व्यक्तिगत मानव ममेतर के स्वभाव प्रकट करता है। कुछ अन्य कविता में यही ममेतर शुद्ध पार्थिव अस्तित्व वाला व्यक्ति ही रह जाता है -

" तुम नहीं तो किसे और
मैं हूँ
अपने को
(जो भी मैं हूँ) ?

---

1. कितनी नावों में कितनी बार, (ओ निर्लोम ममेतर) पृ.16.
2. वही वही पृ.24, 25.

तुम जिसने तोड़ा है
मेरे हर टूटे सपने को -
- - - -
तुम जो निकले अपने मानव
तुम को मेरे - भाई को ।"[1]

इसप्रकार अज्ञेय में ममेतर के दो आयाम उपलब्ध हैं जो वैयक्तिक के अपने कवि की मनीषा के स्वाभाविक विकास को सिद्ध करते हैं ।

'हरी घास पर क्षण भर' के पहले ही अज्ञेय में 'ममतेरत्व' की भावना अंकुरित थी,[2] वह 'अरी ओ करुणा प्रभामय' में विकसित होती रहती है । उसकी (व्यक्तित्व - ममेतर) बीज में संकलन कवि की अनुभूतियाँ जागतिक जीवन की विभिन्न परिस्थितियों से सम्बद्ध हैं और सामाजिक जीवन में उनकी दृष्टि बद्ध रहती है । प्रकृति को तो व्यक्तित्व के पूर्व विकास की पृष्ठभूमि के रूप में ही देखते हैं । प्रकृति अज्ञेय - काव्य में रूपत्व का उत्तम दृष्टान्त प्रस्तुत करती है और जिजीविषा की प्रेरक और व्यंजक भी बनी रहती है ।

हम निहारते रूप
कवि के पीछे

---

1. कितनी नावों में कितनी बार (ओ निकले ममेतर) पृ.62.
2. मैं हूँ ये सब, ये सब मुझ में जीवित -
मेरे कारण अकारण - मेरे चेतन में व्यक्तित्व प्राण "(पूर्वा, 'उषःकाल की भव्य शान्ति' नामक कविता, पृ.139) जैसी उद्गारें अज्ञेय की 'ममतारत्वभावना के पूर्वसूत्र हैं । वैसे, 'जैसे तुझे स्वीकार हो' कविता(पूर्वा, पृ.147) आध्यात्मिक ममेतर के आविर्भाव प्रकाशन को चीन्हित करती है ।

हाँफ रही है मछली
एप तृषा भी, एप तृषा भी
(और कवि के पीछे)
है जिजीविषा ।"[1]

यों अज्ञेय का रागात्मक सम्बन्ध मानव से जुड़ा हुआ रहता है और 'अगिन के पार द्वार' तक यही स्थिति है । लेकिन तब तक इस जिजीविषा की तड़प के साथ आध्यात्मिक अनुभूतियों का स्पन्दन भी प्राप्त होने लगता है ।

पानी में उछली मछली में पानी के अन्तरंग के कंपन को देखते समय - एषणा में जिजीविषा को अनुभव करते समय ही अज्ञेय भौतिक जगत के - जीवन के - अगिन के पार किसी 'द्वार दीखद्वार' से झरती रसधार से अपने अन्तस्तल को आप्लावित अनुभव करने लगते हैं ।[2] लेकिन वे कुछ ऐसी स्थिति में है कि उस द्वार के आगे के द्वार के पार कुछ अवश्य है कि नहीं, पता नहीं लगता । फिर भी वे बीच बीच में जब से उसके सामने उपस्थित होते हैं, तो मन आलोक से भासित होता है । सागर की झाग से सहसा उछली और ढलते सूरज की आग से क्षण भर रंग जानेवाली बूंद में आलोक

---

1. अरी ओ करुणा प्रभामय : 'सोनमछली' पृ.82.
2. " द्वार के आगे
और द्वार
यह नहीं कि कुछ अवश्य
है उनके पार -
किन्तु हर बार
मिलेगा आलोक
झरेगी रस - धार ।"
(अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ.151)

हुए अपनापन का नश्वरता के दाग से उन्मोचन देखनेवाले कवि में भौतिकेतर अध्यात्म - भावना अथवा असीम सत्ता के प्रति उन्मुखता और आस्था बिलकुल स्पष्ट है ।[1]

यह अध्यात्म बोध अज्ञेय को अहं से मुक्त करके उस बृहद् सत्ता की ऊर्जस्विता स्वीकार करने और उससे संप्राप्त प्रतिभा के प्रस्फुटन में अस्तित्व की सार्थकता मानने और उसकेलिए वृत्तज्ञ रहने को प्रेरित किया है -

" फोड़ फोड़ कर जितने को तेरी प्रतिभा
मेरे अनजाने, अनपहचाने
अपने ही मन गाने
अंकुर उपजाती है -
जय, उतना मैं बीत हूँ । "[2]

---

1. " मैं ने देखा
एक बूँद सहसा
उछली सागर के झाग से
रंग गयी क्षण भर
ढलते सूरज की आग से
मुझ को दीख गया :
सूने विराट के सम्मुख
हर आलोक छुआ अपनापन
है उन्मोचन
नश्वरता के दाग से । "
(अरी ओ करुणा प्रभामय पृ.140)

2. अगिन के पार द्वार (चक्रान्तशिला, 8) पृ.47.

'असाध्यवीणा' के स्वविद् कलाकार केशकम्बली प्रियंवद के द्वारा वज्रकीर्ति की वीणा के सध जाने के पीछे वस्तुतः विराट के सामने अवनमित आत्मसमर्पण से व्यक्ति की संप्राप्त प्रातिभोन्मेष और समरस स्थिति ही दर्शाया गया है । प्रतिहारी सर्पिणी की तपःसाधना की सात्विक तेज से परिपूत वनान्तर के उन्मुक्त वातावरण में पला और बढ़ा किरीटी - तरु वज्रकीर्ति के मन्वी दुस्तर गहनतम सामूहिक अवचेतन में जागरित प्रातिभज्ञान का प्रतीकात्मक अभिव्यंजन है । उस प्रतिभा से गठित है वह काष्ठवाद । अथवा वज्रकीर्ति की प्रतिभा का साकार रूप है वीणा । उसको साधने केलिए, कलाकार की अपनी अस्मिता को तोड़ कर विराट पर समर्पित होना चाहिए, जिसपर समर्पित है वज्रकीर्ति भी -

" कौन प्रियंवद है कि दम्भ कर
इस अभिमंत्रित कारुवाद के सम्मुख आवे ?"[1]

अतः उस विपंचिका को ध्वनित करने केलिए उसमें वज्रकीर्ति ने अपनी विसर्जित आत्मा के जिन जिन स्वरों और रागों को सन्निविष्ट कर दिया था, उन्हें अपने में अनुभव करने केलिए स्वयं प्रियंवद में वज्रकीर्ति को पुनर्ध्वनित होना चाहिए ।

" किन्तु मैं ही तो
तेरी गोद में बैठा मोद - भरा बालक हूँ,
जो तरु - तात । सँभल मुझे,
मेरी हर किलक
पुलक में डूब जाय
मैं सुनूँ,
गुनूँ,
विस्मय में भर आँसू

---

1. अज्ञेय के पार द्वार (असाध्यवीणा) पृ.78.

तेरी अनुभव का एक एक अक्षर
तेर दोलन की लोरी पर झूमूं मैं तन्मय ।
मेरी अंधियारी अन्तस् में आलोक जगा
स्मृति का
श्रुति का
तू गा, तू गा, तू गा, तू गा ।"[1]

कारण कि इस वीणा की रहस्यात्मकता में वज्रकीर्ति और प्रियंवद में वर्तमान समान आन्तरिक पक्ष के साक्षात्कार के द्वारा ही प्रेषित सम्भव हो सकता है । प्रियंवद को यह मालूम था । अतः वे ज्ञान मन की अहं से मुक्ति पाकर अपने अन्तस् की उस विराटता - तरु की विशालता और गाम्भीर्य की स्मृति - साधना के माध्यम से वज्रकीर्ति की विस्तृत आत्मवत्ता से एकाकार हो जाते हैं, और विराट सत्ता से सम्बद्ध हो जाते हैं । इसप्रकार साक्षात्कृत सामान्य मानसिक पक्ष में अनुभूत वज्रकीर्ति की आत्मवत्ता ही उनकी प्रतिभा की प्रतीक - स्वरूप वीणा में स्वर पा लेती है । यही कारण है प्रियंवद कहते हैं -

"श्रेय नहीं कुछ मेरा
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में -
वीणा के माध्यम से अपने को मैं ने
सब कुछ को सौंप दिया था -
सुना आपने जो वह मेरा नहीं,
न वीणा का था
वह तो सब कुछ की तथता थी -"[2]

---

1. अगिन के पार द्वार : (असाध्य वीणा) : पृ.79 - 80.
2. वही : पृ.87.

वीणा से निसृत स्वरधारा से अभिभूत हो सभी श्रोता एक - रसता और एकात्मता की सात्विक भाव भूमि में उपस्थित हो जाते हैं। इसप्रकार कला - व्यापार के द्वारा सम्पन्न आत्म विस्तार - प्रक्रिया का उपसंहार - सब के हृदय का संस्पर्श करके उनके आत्मैक्य को सिद्ध करता है। प्रियवर के आत्म समर्पण में उसकी (व्यक्तिकी) इयत्ता खोजती है और उसमें दूसरे लोग भी अपनी अनुभव करने लगते हैं। इसप्रकार यह कविता अध्यात्म चेतना से प्रेरित अहंमुक्त आत्मदान में व्यक्ति की इयत्ता की खोज, और इस इयत्ता के प्रसार में दूसरों की समरसता - प्राप्ति का काव्यात्मक अभिव्यंजन है।

अज्ञेय काल को सम्पत्ती मानते हैं।[1] यह नकारात्मक कदापि नहीं है। काल चट्टान्त शिला पर उपविष्ट है।[2] वह अस्तित्व की इयत्ता को भग्नग्रस्त नहीं करता है, साथ ही भविष्य की प्रेरणा भी नहीं देता है।

काल की सम्पत्तिता अस्तित्व की सत्यता को कालनिरपेक्ष किसी स्तर पर ढूँढने को हमें बाध्य करती है। वह स्तर निश्चित ही अनुभूति का है। कारण कि अनुभूति काल - सम्बद्ध नहीं है। वह काल निरपेक्ष है। उसकी काल - निरपेक्षता में

---

1. अज्ञेय : एक बूँद सहसा उछली : (एक दूसरा प्रकाश ' अध्याय देखिए)
2. " उस बीहड़ काली एक शिला पर बैठा दस्तावेज -
   वह काल चीथ से लिखता ही जाता है अविराम
   पल - छिन, दिन - युग, भय - त्रास, व्याधि - ज्वर,
   जरा - मृत्यु,
   बनने मिटने के क्षय, मिलन - बिछुड़न,
   गति - निगति - विलय के
   अन्तहीन चट्टान्त।"
   - अरिम के पार द्वार (चट्टान्त शिला 19) पृ.60.

की अनस्तित्व से मुक्ति का गुरुमंत्र निहित है ।[1] काल की समवर्तिता की धारणा जो अज्ञेय-काव्य में विकास पा सकी है, फ्रांसिस के प्रभाव से प्रभावित है,[2] फिर भी मौलिक रूप में उसका सम्बन्ध बौद्ध दर्शन से, धर्म - चक्र से ही है ।[3] भारत का 'कुलाल चक्र' यही काल चक्र नहीं है तो और क्या है ।[4]

---

1. अनस्तित्व का अर्थ क्या है ? यदि सभी काल समवर्ती है ? भूत और भविष्य भी साथ वर्तमान है, तो होना और न होना भी समवर्ती है । फिर डर क्यों ? मैं इस डर को नहीं जानता । तो क्या मैं जीवन को नहीं जानता ?
जिन में उत्साह थी, या है, उन्हें यह डर नहीं था, न होता है । पर अपने को आस्तिक कहते मुझे संकोच होता है, यद्यपि मैं जानता हूँ कि मैं नास्तिक भी नहीं हूँ । किसी भविष्यत् जीवन में मेरा विश्वास नहीं है, लेकिन उससे इस जीवन के बाद जो 'न कुछ की - स्थिति' सिद्ध होती है, उसका मुझे डर भी नहीं है । आशा मुझ में नहीं है, लेकिन आतंक भी मुझ में नहीं है"- एक बूँद सहसा उछली पृ.83.

2. " पिया - पिव - वीर " - यह पत्थर जो घूमता है । चक्रमिव शिला चक्रान्त शिला । चक्रान्त : जो संक्रमण करके फिर लौट लौट कर आता है, यह काल के अतिरिक्त क्या है ?
- एक बूँद सहसा उछली, पृ.107.

3. 'चक्रान्त शिला' : समय की शिला : युगों के आवर्तन का क्रम जिसपर धर्म सिद्धान्त की प्रतिमा अडिग खड़ी है । धर्म कालजित् है । इसीलिए बुद्ध ने धर्म के शाश्वत् भाव, और चक्रमण के काल - सापेक्ष भाव को एक करके धर्म चक्र की उद्भावना की थी - जो घूमता भी है और थिर भी है । - - - - यहाँ घूमती हुई शिला पर सनातन श्रद्धा की प्रतिमा है- रूपक सांग है, और प्रतीक अभिप्राय भरा - - - - सिंहत्री के ऊपर धर्म चक्र की प्रतिष्ठा की गई, तो उसका भी प्रतीकत्व सम्पूर्ण सार्थक था - ऐहिक सत्ता को धर्म सिद्धान्त के परत्व में

ऐसे अज्ञेय का अध्यात्म मनुष्य की बृहत्तर सत्ता से जोड़ने का प्रयास है जिसकेलिए भारतीय दार्शनिक पद्धतियाँ, यायावर, पियर - लि - वीर आदि प्रेरक हुए हैं। वास्तव में इसके पीछे मानवात्मिक में अज्ञेय की आस्था और उसकी महिमामय बनाने की अभिलाषा ही सक्रिय रहती है। उनकी संवेदना के मूल में स्थित रहनेवाला तत्व मानवीय यथार्थ है। अतः सहज ही वे फिर से उसकी तरफ मुड़ जाते हैं और उसका रागात्मक सम्बन्ध उससे घनिष्टता हो जाता है। 'कितनी नावों में कितनी बार' में यह परिवर्तन स्पष्ट परिलक्षित होता है -

" कितनी दूरियों से कितनी बार
कितनी उगमग नावों में बैठकर
मैं तुम्हारी ओर आया हूँ
ओ मेरी छोटी सी ज्योति।"[1]

ही आश्रय दिया गया था (आज हम सिद्धत्थी के अवशेष तो हैं पर सिद्धत्थी के ऊपर का वह कमल चक्र कहाँ लिप गया है न जाने। इस खण्डित प्रतीक से सांत्वित होकर हम क्या उस कमल से कुछ सान्त्वना पा सकते हैं जिसकी भित्ति पर स्वयं सिद्धत्थी खड़ी है - कमल जो कि सत्य का प्रतीक है।

इसप्रकार मठ का नाम जो वास्तव में केवल स्थान का नाम है, एक प्रतीकार्थ ग्रहण करके मेरे सम्मुख आता है। और प्रतीक की सत्ता निरन्तर नए नए बिम्ब मूर्त करती रहती है - - कुछ लिखता हूँ तो उसमें उनका स्वर बोलने लगता है।" - एक बूँद सहसा उछली, पृ.101-108

4. "By him indeed driven by the body round and round and round like wheel turned by the potter. The body becomes minding, in other words, (the mind) is its driver" — Maitri Upanishad. 2,6. — Journal of the Indian Society of Art. Vol. VIII. 1940.

1. कितनी नावों में कितनी बार : पृ.8

वस्तुतः अज्ञेय की अध्यात्म - अनुभूति आद्य सत्ता के निराकरण के द्वारा प्राप्त नहीं है, यह विशेष द्रष्टव्य है । आध्यात्मिक अनुभूति - प्रक्रिया की व्यंजना आदरी सत्ता के परिपार्श्व में अज्ञेय - काव्य में हुई है । 'भीतर के देवता के देवत्व की सार्थकता वे 'द्वार के प्रतिहारी' के 'पा - लागन' में ही देखते हैं ।[1] उनका अध्यात्म - बोध मनुष्य को आद्य सत्ता के साथ जोड़ते समय दोनों के अस्तित्व की सत्यता मंजूर कर लेता है ।

यही कारण है कि उनका 'ममेतर' अध्यात्म से अलग होकर 'कितनी नावों में कितनी बार' में आते जाते अपने भाई से - व्यक्ति मानव से - जुड़ जाता है ।[2] अपना राग - सत्य जो उनका भाई है, उसे वे कैसे भूल सकते ? 'अनदेख अरूप' कैसिर वे उसे छोड़ नहीं पाते । अपना प्यार अपने भाई कैसिर ही वे रख लेते हैं ।[3] इसके परिणाम - स्वरूप, व्यक्ति की सत्यता पर विश्वास दृढ़तर हुआ, अतः अध्यात्म के आंगन में अपने को बंधि रखने के बदले व्यक्तित्व की अद्वितीयता एवं लघु मानव की प्रतिष्ठा की ओर वे प्रवृत्त हुए ।

इसप्रकार अज्ञेय में अध्यात्म - 'ममेतर' की सत्यता मानवीय यथार्थ पर आधृत पार्थिव 'ममेतर ' - तू - की उपस्थिति के द्वारा समर्थित होती है और अभिव्यक्ति

---

1. आंगन के पार द्वार (चक्रान्तशिला, 26) पृ.71
2. कितनी नावों में कितनी बार, पृ.62
3. " तुम्हें नहीं तो किसी और
   मैं दूँ
   अपने को
   - - - -
   तुम, जो एक, निःसंग, अकेले,
   मानव
   तुम जो मेरे भाई 'को' - कितनी नावों में कितनी बार, पृ.62.

पाती है ।[1] 'सजीव' उपस्थिति को ईश्वर माननेवाले कवि[2] इसलिए मानव की सबसे सजीव उपस्थिति स्वीकार भी करते हैं ।[3] सब प्रकार की उपस्थितियों के पीछे भी यह चैतन्य - जिजीविषा का स्पन्दन - सदैव रहता भी है । 'कितनी नावों में कितनी बार' से लेकर 'महावृक्ष के नीचे' तक की कविताएँ तो इस बदलते हुए 'मम - ममेतर' सम्बन्ध की अनुभूतियों की व्यंजनाओं से भरी रहती हैं । उसके साथ ही, जैसे विद्यानिवास मिश्र निरीक्षण करते हैं, ये मानवीय दायरा बोध के साथ साथ भारतीय अस्मिता की पहचान से भी अनुप्राणित हैं ।

प्रारंभ में अव्यक्त रूप में अज्ञेय में अंतर्हित यह व्यक्ति चेतना आगे चल कर भारतीय और पश्चिमी आत्मवादी दर्शनों और चिंतन पद्धतियों से सुधार कर सुघट रूप धारण करती है । यह उनकी व्यक्तित्व की खोज की यात्रा 'की कहानी है । अध्यात्म 'तू' के द्वारा उसके अस्तित्व की सत्यता की दृढ़ता प्रदान करनेवाली महत्वपूर्ण सजीव उपस्थिति के रूप में 'मम' (मैं) के व्यक्तित्व की खोज की यह यात्रा वास्तव में अज्ञेय के काव्य जीवन को आर्ष - तप : साधना का गौरव प्रदान करती है । व्यक्ति की यह सजीव उपस्थिति 'अहं' से बिलकुल रहित है क्यों कि वह " पर उतना ही जितने को तू है, अपने भीतर से दानी ।[4]" इसमें 'केवल समर्पण' की भावना है, आत्मविस्तार की वांछा है,

---

1. हम् धनु रीते हुए थे, 'क्योंकि तुम थी' कविता पृ.46.
2. " सजीव उपस्थिति का नाम ही ईश्वर है - कोई भी उपस्थिति ईश्वर है, क्योंकि नहीं तो कोई उपस्थिति हो ही कैसे सकती है ?" अज्ञेय : 'अपने अपने अजनबी' पृ.51.
3. " पर मनुष से नहीं कहीं कुछ " हम्धनु रीते हुए थे (यही रूप अमरत है)पृ.49.
4. कितनी नावों में कितनी बार(यात्री): पृ.70

ममेतर से ग्रहण की कृतज्ञता है । उसे 'स्व' मानने का 'अहं' नहीं है । किन्तु किसी अपने निजीपन को बनाए रखने पर सजगता अवश्य दृष्टिगोचर होती है । इसप्रकार भारतीय सांस्कृतिक पैतृक की दृष्टि के अनुकूल आत्म ज्ञान की प्राप्ति और आत्मदान की तृप्ति में अस्तित्व की चरितार्थता अनुभव करनेवाले अज्ञेय की समर्पण - दृष्टि व्यक्तित्व की स्वतंत्र सत्ता को बनाए रखते हुए आत्मविस्तार करते रहने की है । वे कहते हैं, " समर्पण है तो वह न बाँधती है, न अपने को बद्ध अनुभव करता है । केवल एक व्यापक कृतज्ञता मन में भर जाती है कि तुम हो कि मैं हूँ ।[1] यह वास्तव में व्यक्तित्व - सम्बन्धी अज्ञेय की परिभाषा ही है ।

उपसंहार

अपने काव्य - जीवन के प्रारंभ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर से प्रभावित होकर

" मैं तो केवल तेरे पथ से
उड़ती रज की ढेरी भर के
चुन चुन कर संचय करके
रख भर लेता हूँ मरकत पांखों सा अन्तर कोषों में । "[2]

कहते हुए किसी अपरिमेय सत्ता के विस्मयाश्चर्य और उसमें विलयन में 'मैं' की सार्थकता की आकांक्षा से भरी छायावादी कविता करनेवाले अज्ञेय की काव्य - मनीषा बाद में

" कानन का सौंदर्य लूटकर
सुमन बटोरे करके
जो सुरभित नीहार कणों से
चादर में मैं भरके
देव आऊँगा तेरे द्वार ।

---

1. नदी के द्वीप : पृ.334.
2. पूर्वा : ('दृष्टि पथ से तुम जाने को जब') पृ.19.

किन्तु नहीं तेरे चरणों में दूंगा वह उपहार[1]" के रूप में पहले के निरूपाकिक समर्पण से इनकार करके अपने व्यक्तित्व के निर्माण और वरण की स्वतंत्रता का प्रबल प्रदर्शन करती है कि

" क्यों ? मैं ने भी तेरे द्वारों
सदा यही पाया है -
सदा जी मुझे दिए वा उनकी सुने दुहाया है । "[2]

छायावादी स्वप्निलता और जीवन - निरपेक्षता से कवि के अलगाव के साथ साथ अस्तित्व की आकुलताओं और निराशाओं के बीच मानव यथार्थ की विद्रूपतापूर्ण स्थिति के प्रत्याख्यानमूलक विद्रोह - प्रवृत्ति यहीं शुरू होती है । फिर भी छायावादी भावात्मक व्यक्ति सत्ता और बुनियादी मानववाद से प्रेरित यथार्थ मानव के बीच अद्वैय की काव्य - संवेदना कुछ समय तक दोलायमान रहती है । 'भग्न दूत' में संकलित बिम्बिम्ब कविताएँ इस चंचलता को प्रकट करती है । उदाहरणार्थ, 'असीम प्रणय की तृष्णा' में बृहत्तर से स्वीकार पाकर पूर्णता प्राप्त करने की अभिलाषा करने वाले की प्रेम तीव्रता का छायावादी अभिव्यंजन किया गया है ।[3] लेकिन एक अन्य कविता में (उसी संकलन की 'घट' नामक कविता) मानव - व्यक्तित्व की

---

1. पूर्वा (नहीं तेरे चरणों में) पृ.26
2. वही पृ.27
3. "मैं ही विकसित, कम्पित होकर -
मादकता की संज्ञा धर कर -
हँसकर गाकर, रुला हँसा कर -
क्षण - भर अद्भुत हो - विलीन हो - होता तुझ से स्वीकार
एक बार । "
- पूर्वा (असीम प्रणय की तृष्णा) पृ.25.

कुंठित करनेवाली सामाजिक परिस्थिति जैसिए कारण भूत तत्वों का विरोध करनेवाली मानवसहज विद्रोह - वृत्ति की व्यंजना हुई है ।[1]

एक ओर उनका मन 'संध्या के दूत - आयातों - सा
धृति के तरलित उद्यातों सा ' [2]

प्रियतम - प्रणय को बद्ध कर डालने की आकुल रहता है, तो दूसरी ओर 'हरित घटामय विटप राशि पर विद्युलिस'[3] पलाश के फूल की सुषमा पर मुग्ध हो जाता है । लेकिन काल्पनिकता के इस अलौकिक दायरे से तुरंत बाहर आकर वे सामाजिक जीवन के बीच खड़े हो जाते हैं और पारतंत्र्य की जंजीरों में जकड़ी भारतीय आत्मा की ग्लानि की वाणी देने को तैयार होते है -

" तोड़ो सेतुबन्ध, अरियों के सैनिक । जीभर रो लो । "[4]

और "मैं हूँ विजित, तिरस्कृत, घायल अंग हुए जाते हैं श्रान्त,
लौट किन्तु आया हूँ घर को जाने किस आशा में भ्रान्त ।[5]

कहकर गुलाम भारत के नागरिक की आत्मनिंदा एवं पराजय - बोध को मुखरित करते हैं।

---

1. " मन्द - हसित, सद्रीड झुका लेगी तू माथा,
तब मैं कह डालूंगा तेरे उर की गाथा ।
अलका जल गीला कर देगा प्रतिफल,
अत्याचारों का तुझ को दे देगा प्रतिफल । " - पूर्वा ('घट') पृ.23.
2. पूर्वा ('कहो कैसे मन को समझा लूं ?') पृ.28.
3. पूर्वा (' पूर्वस्मृति') पृ.32
4. पूर्वा (' प्रस्थान ') पृ.34
5. पूर्वा (' पराजय गान ') पृ.35.

वस्तुतः यह समय कुछ ऐसा था कि अज्ञेय के कृतित्व ने किसी ठोस धरातल को तब तक दृढ़ नहीं लिया था। उसमें प्रौढ़ता का अभाव अवश्य है। साथ ही यौवन सहज व्यग्रता, आदर्शोन्मुखता, चंचलता और मस्ती की प्रवृत्तियाँ अधिक गहरा रहती हैं। इस दृष्टि से 'कवि' शीर्षक कविता विशेष ध्यान देने योग्य है। उसमें अज्ञेय के यौवन संबन्धी आदर्श की यत्किंचित स्पष्ट व्याख्या उपलब्ध है। यह ठीक है कि " एक अपील से कविता उत्पन्न हो जाती है " जैसे " एक चुंबन में प्रणय फलीभूत हो जाता है।"[1] फिर भी कृतिकार के दायित्व से सजग कलाकार जीवन की उपेक्षा कर उस प्रेमोन्मत्त अपील विशेष में ही कविता की धन्यता का अनुभव नहीं कर सकता। संतोष के समान, सौंदर्य - चेतना के सदृश, शायद उससे बढ़कर, परिस्थितियों के प्रति सचेत कवि का हृदय विश्व मानव हृदय की व्यथित करनेवाली पीड़ा को अनदेखी नहीं कर पाता है। वह युग - सत्य कवि का राग जन्य अनुभूति प्रत्यक्ष हो जाता है। इस कारण " मैं अखिल विश्व की पीड़ा संचित कर रहा हूँ। क्यों कि मैं जीवन का कवि हूँ।"[2] कहने में अज्ञेय समर्थ हुए। यह पीड़ानुभूति बाद में भगवान बुद्ध की करुणा से संस्कारित होकर व्यक्ति के

---

1. पूर्वा (' कवि ') पृ.43.
2. " सब कुछ अधूरा है, और ज्यों ज्यों वह आगे पूरेपन की ओर बढ़ता है, नई अपूर्णताएँ भी उसके आगे खड़ी हो जाती हैं - - - - कितना बड़ा है जीवन, कितना विस्तृत, कितना गहरा, कितना प्रवाहमान, और उसमें व्यक्ति की ये छोटी छोटी इकाइयाँ - - - - - फिर भी सम्पूर्ण हैं, स्वायत्त हैं, अद्वितीय हैं, और स्वतः प्रमाण हैं क्योंकि अन्तर्लोकवासी आत्मानुशासित हैं, अपने आगे उत्तरदायी हैं, स्वर्ग और नरक, पाप और पुण्य, दण्ड और पुरस्कार, शान्ति और तुष्टि ये सब बाहर हैं, तो केवल समय, सत्य तभी है जब भीतर से उद्भूत हो - - - - -"

— नदी के द्वीप, पृ.334.

परिष्कार का सर्वोत्तम साधन का रूप धारण कर लेती है । 'अखिल विश्व की पीठा' जो अज्ञेय का आत्मानुभूत सत्य बन गई, उसे साधारणीकृत करके ग्राहकों तक पहुँचा कर व्यक्ति मानव की प्रतिष्ठा में अज्ञेय का कृतित्व कृत कृत्य होता है ।

वरण की स्वतंत्रता

अज्ञेय की व्यक्तिवादिता का मूलाधार व्यक्ति की निजता की सुरक्षा का बोध है । निजता के अभाव में व्यक्तित्व का कोई अर्थ नहीं होगा क्यों कि वही उसके विवेक की उपयोगिता की शर्त है ।[1] विवेचिता वरण की स्वतंत्रता में परिलक्षित होती है । वरण की स्वतंत्रता मौलिक व्यक्ति का परम अधिकार है । तब तो वरण की स्वतंत्रता उसकी निजता का द्योतक है । या कहें, वरण की स्वतंत्रता ही उसे मशीन के निचले स्तर से ऊपर ले जाती है । और वही तिर्यक् प्राणियों से उसकी पृथकता को प्रमाणित करती है । उसमें ही अपनी विशेष सिद्धि जो प्रज्ञा है, उसके प्रयोग का अवसर उसे प्राप्त होता है ।

वरण की स्वतंत्रता के अधिकार में अज्ञेय व्यक्ति की निजता की सुरक्षा का प्रमाण सिद्ध करते हैं तो वह इसलिए कि वे मानते हैं कि अनुभूतियों की चरमावस्था में या चरम वेदना एवं अनुभूति के निमिषों में व्यक्ति अकेला है ।[2] अर्थात् निर्णय के क्षणों में वह अकेला है । तब निर्णय के समय पर उसका एक मात्र सहारा अपना विवेक मात्र रह जाता है ।[3]

---

1. Jaspers. (Six Existentialist Thinkers, by H. J. Blackham Part III of the article on Jaspers.)

2. आत्मनेपद, पृ. 67 - 66.

3. आत्मनेपद, पृ. 251

इसका अर्थ यह नहीं कि निर्णय के निमित्त का अकेलापन समाज विरोधी है। कारण कि समाज के बीच रहनेवाले व्यक्ति उससे पूर्णतः कटा हुआ नहीं हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस पर निर्णय करना पड़ता है, वह समाज सम्बन्धी रहे, फिर भी निर्णय के क्षण में विवेक का ही आश्रय लेना पड़ता है।[1] विवेक के प्रयोग की यह क्षमता स्वयं दायित्व बोध से परिमार्जित भी है। इस प्रकार का अकेलापन व्यक्ति को समाज से पृथक बनाने के बजाय उसे समाज से अधिक संपृक्त बना देता है।[2] कहने की जरूरत नहीं, यह व्यक्तित्व के विलयन से एकदम भिन्न है। अर्जुन को " विमृश्यैतदशेषेण

यथेच्छसि तथा कुरु।"[3] के रूप में निर्णय का अधिकार जो दिया जाता है उसमें स्वतंत्र विचार के द्वारा विवेकपूर्वक निर्णय कर लेने का ही आदेश है। यह वास्तव में आधुनिक चिन्तन - पद्धति की 'वरण की स्वतंत्रता'[4] ही है। तब अज्ञेय का अकेलापन व वरण सम्बन्धी दृष्टि को हम भारतीय परम्परा से बिलकुल अनुकूल ही पाते हैं।

---

1. " भीड़ों में
   जब जब जिस जिस से आँखें मिलती हैं
   वह सहसा दिख जाता है
   मानव अंगारे - सा, भगवान - सा अकेला।" -
   अज्ञेय, जी कलगी बाजरे की (मानव अकेला) पृ.161.
2. हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य : पृ.127.
3. श्रीमद्भगवद् गीता 18. 63.
4. 'No choice without decision, no decision without will, no will without duty, no duty without being'. This formula shows choice proceeding from its source in myself, to which it also returns in making me become what I am - Six Existentialist Thinkers: H.J.Blackham, Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 6th Imp., 1965. P.

वरण की स्वतंत्रता व्यक्ति की विवेकिता पर आधारित होने से इस भय की अवकाश ही नहीं कि वह उच्छृंखल होकर समाजविरोधी हो जाय । वरण, विवेकिता के आलोक में अधिकार का प्रयोग परिणाम के नैतिक दायित्व बोध से नियंत्रित है ।[1] और इसीलिए हमने कहा कि अज्ञेय की वरण की स्वतंत्रता में व्यक्ति एवं समाज का हित ही अन्तर्भूत है । वह एक ओर व्यक्ति की सुरक्षा का सबूत प्रस्तुत करती है तो दूसरी ओर उसके परिपक्व व्यक्तित्व से समाज लाभान्वित ही आगे बढ़ सकता है । इससे यह स्पष्ट है कि अज्ञेय का अकेलापन समाज विमुक्ति का द्योतक नहीं, उसमें अनुभूत वेदना विद्रोह की नहीं, वरन् चरम अनुभूति की वेदना है ।[2] अज्ञेय वैसिए यही वेदना उनकी वरण की स्वतंत्रता का साक्षी है । इस स्वतंत्रता में 'अहम - ममेतर' के बीच तनाव [3] के बदले रागात्मक्य सम्बन्ध की मधुरता रहती है । व्यक्ति - व्यक्ति के बीच सहज सम्बन्ध की

---

1. " मनुष्य की नैतिकता का क्या अर्थ है सिवा इसके कि वह अपने कर्म वैसिए उत्तर-दायी है ? लेकिन जिस कर्म का उसने स्वेच्छा से वरण नहीं किया है, वह उसका कर्म कैसे है । इसलिए अगर हम मनुष्य की वरण की स्वतंत्रता नहीं मानते, तो हम उसकी नैतिकता की सम्भावना भी नहीं मानते ।

   - एक बूंद सहसा उछली, पृ.312 - 313.

2. " मेरी वेदना ही मेरी स्वतंत्रता का प्रमाण है । यदि मुझे स्वतंत्र विवेचन का अधिकार न होता तो, मुझे वेदना भी न होती : क्योंकि यातो मैं निर्विकल्प भाव से वही कर्म करता जो सही है, या निर्विकल्प भाव से उसे स्वीकार करता जो सही नहीं है । मेरी विकल्प और वरण की स्वतंत्रता का और क्या प्रमाण है सिवा मेरी वेदना के-सिवा उस कष्ट के जो मुझे अपने अधिकार का उपयोग करने में होता है ।

   आत्मनेपद , पृ.251 - 252.

3. यहाँ भी अज्ञेय की दृष्टि सार्त्र से भिन्न पड़ती है । सार्त्र वैसिए 'दूसरा नारक है ।' सार्त्र रचित Being and Nothingness, Philosophical Library, N.Y.' Existence of Others का लेख देखिए ।

स्थापना की ही अज्ञेय का अकेलापन प्रस्तुत देता है । 'अपने अपने अजनबी' में भी अज्ञेय ने अकेलापन और वरण की स्वतंत्रता की विशद चर्चा प्रस्तुत की है ।[1]

अपनी व्यक्तिवादिता का मूलाधार जो वरण की स्वतंत्रता है, उसे आत्मघाती 'अहं' से बचाकर, सामाजिक जीवंतता के हेतुभूत एवं नैतिक मान्यताओं का बन्धन करके कुंठा रहित समाजोपयोगी आदर्श स्थापना के गठन वैसिए कवि ने अनुपेक्षणीय सिद्ध किया है, 'व्यक्तित्व की सुरक्षा' का यह आग्रह 'नदी के द्वीप' कविता, और 'शेखर - एक जीवनी' उपन्यास में भी स्पष्टतः अभिव्यंजित होता है ।[2]

कवि का अभीष्ट स्वप्रसार 'व्यक्तित्व की सुरक्षा' है । अकेलापन उसका साधन मात्र है । तब लक्ष्यप्राप्ति तक ही साधन की अनिवार्यता होती है । इसलिए यह भी संगत है कि व्यक्तित्व के पूर्ण विकास और उसकी सुरक्षा के प्राप्त होने पर अकेलापन छोड़ दिया जाय । व्यक्तित्व में दृढ़ता और स्थिरता आ जाने के बाद भी अगर अकेलापन का साथ नहीं छोड़ दिया जाता है तो वह व्यक्ति की गतिशीलता में, विकास में बाधा उपस्थित कर देगी ही । अतः जैसे प्रयोग कवि वैसिए साधन है, वैसे अकेलापन भी साधन मात्र है, साध्य नहीं । तात्पर्य यह कि स्वतंत्र निर्णय की क्षमता व्यक्ति में पूर्णतः विकसित होने पर, उसको बनाए रखते हुए अकेलेपन को मिटा दिया जाय । यह इसलिए आवश्यक है कि

---

1. अज्ञेय : अपने अपने अजनबी पृ.37, 60
2. पूर्वा ('नदी के द्वीप') पृ.251 - 52,
   " एक बूंद जो स्वयं कुछ नहीं है किन्तु जिसके बिना उस प्रवाह में गति नहीं आ सकती - जिसके बिना उसका अस्तित्व ही नहीं हो सकता ।"
   - शेखर एक जीवनी (प्रवेश)
   सरस्वती प्रेस, बनारस - सप्तम संस्करण, 1961 - पृ.15.

" जानता नहीं, क्या निज में ब्रह्म होकर है नहीं निर्वाह ।"[1]

उसी साथ ही

" कान्ति अणु की है सदा गुरु पुंज का सम्मान ।"[2]

कहकर व्यक्तित्व की महिमा और अद्वितीयता पर बल भी देते हैं ।

इससे तो विदित होता है कि व्यक्तित्व की सुरक्षा का मतलब अन्यों से हमेशा अलग रहना नहीं है । उस व्यक्तित्व के अवलेपन में दूसरे भी समा जाएँ, यही उनकी कामना है । यह तभी संभव है जब सत्य की स्वतंत्रता से युक्त समग्र व्यक्तित्व में जागरित चेतना को सब के साथ जी दिया जाय । -

" मैं हूँ ये सब

मेरे चेतन में अस्तित्व प्राप्त ।"[3] इस अनुभव में ही अज्ञेय के अवलेपन की विशिष्टता निहित है । प्राचीन ऋषियों की एकांत साधना से संप्राप्त आत्मविस्तार की प्रक्रिया अज्ञेय में पुनः सृष्ट होती दिखाई देती है ।

इसप्रकार, दूसरों के निरंतर सम्पर्क में परहितकारी सिद्ध होने और 'तेन त्यक्तेन' ममेतर से संपृक्त रहने की वे वरेण्य मानते हैं[4] .

---

1. पूर्वा (कितनी शान्ति । कितनी शान्ति । ।) पृ.200
2. पूर्वा (वही) पृ.200
3. पूर्वा (उषा काल की भव्य शान्ति) पृ.139.
4. " जीवन की बात मैं कहता हूँ तब अपने जीवन से बड़े, संपुक्त, व्यापक, समष्टि-गत जीवन की बात सोचता हूँ - उससे एक होना चाहता हूँ - अगर वह बहुत बड़ा प्रवाह है, तो उसकी धारा को बाँहों से घेर लेना चाहता हूँ - - - उस पर एक पुल बाँधना चाहता हूँ, चाहे क्षण भर कैसिर ।" नदी के द्वीप - पृ.21.

" मैं सेतु हूँ

- - -

किन्तु क्षुद्र से क्षुद्र तक का सतरंगी सेतु नहीं,

वह सेतु

जो मानव से मानव का हाथ मिलाने से बनता है,

जो हृदय से हृदय को मिलाता है ।

- - - - - - - -"[1]

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि " जो है और जो होगा दोनों को "[2] मिलाने की सेतुधर्मिता में अज्ञेय अपनी परम्परा संपृक्ति और भूत से भवितव्य के निर्माण की धारणा को भी व्यंजित करते हैं ।

जब अज्ञेय कहते हैं कि " अकेलों की भीड़ से अकेलापन नहीं मिटता, किन्तु अकेले के आत्मदान से मिट सकता है ",[3] तो ममेतर को व्यक्तित्व के दान की ओर संकेत करते हैं । उसका अर्थ कदापि भीड़ में खो जाना नहीं है । अपनी विशिष्टता को बनाए रखते हुए समूह से मिलना है । इसमें पीछे स्वतंत्र निर्णय है, इस - कारण विवेकिता से प्रेरित भी है । तब यह निश्चित है कि यह ममेतर सम्बन्ध कोई यांत्रिक व्यापार न होकर सहज मानसिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति की अद्वितीयता - निजता - बनी रह सकती है । मृत्युबोध के सामने आकर

" जो कली खिलेगी वहाँ, किसी

जो फूल जहाँ है,

---

1. बन्दूबनु रोंदे हुए ये (मैं वहाँ हूँ) पृ.21
2. वही वही पृ.21
3. आत्मनेपद पृ.262.

जो भी सुख
जिस भी डाली पर
हुआ पल्लवित पुलकित
- - - - उसे वहीं पर
अज्ञात, अनाघ्रात, अस्पृष्ट, अनर्पित"[1] अर्पित करनेवाली सम्राज्ञी की समर्पण भावना में अज्ञेय की व्यक्तित्व की सुरक्षा या व्यक्ति की अद्वितीयता पर आधारित ममेतर - सम्बन्ध चेतना ही प्रवृत्त रहती है । अहं का लोप ही इस प्रक्रिया में हो जाता है । अहं का विलयन व्यक्ति केलिए त्रासकर और समाज केलिए हितकारी है ।

संस्कृति का उन्नयन भी निजतायुक्त व्यक्तित्व पर निर्भर रहता है। निजतायुक्त व्यक्ति के आत्मविस्तार पर ही संस्कृति आधारित है । व्यक्ति के विकास, उसके आत्म विस्तार और निजतायुक्त ममेतर - सम्बन्ध की संभावना जहाँ नहीं होती, वहाँ संस्कृति की आशा करना मूर्खता है ।[2]

---

1. अज्ञेय की कविता प्रभामय (सम्राज्ञी का नैवेद्यदान) पृ.85.
2. " संस्कृति व्यक्तित्व का विस्तार और प्रसार मांगती है, संकोच या ह्रास नहीं । संस्कार व्यक्ति बराबर नई उपलब्धियों को आत्म सात् करता चलता है । संस्कृत व्यक्ति की आत्म - सत्ता - एक बूंद सहसा उछली पृ.314.
- - - किसी व्यक्ति या वस्तु के मुकाबले में - - - उसकी अपनी कीमत नहीं होती ।"

यही कारण है कि यद्यपि अज्ञेय परम्परा से जुड़े - रहते हैं, फिर भी परम्परागत रूढ़ियों और रूढ़ नैतिक मान्यताओं का विरोध करते हैं। यह कार्य वे करते हैं यौन बिम्ब - उपमान आदियों के प्रचुर प्रयोग से नैतिकता, सौन्दर्य, श्लील - अश्लील आदि की रूढ़ दीवारों पर धक्का देकर।[1] ये रूढ़ियाँ इसलिए तिरस्कार - योग्य हैं कि व्यक्ति के स्वतंत्र विकास में बाधक हैं और सांस्कृतिक जड़ता के पोषक हैं। निजता-पूर्ण, विवेकपूर्वक वरण की स्वतंत्रता में ही सांस्कृतिक परम्परा कालानुसारी एवं गतिशील रह सकती है। व्यक्ति की निजता की यह अदम्य आकांक्षा अज्ञेय - काव्य की केन्द्र -बिन्दु बनी रहती है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अज्ञेय की व्यक्तिमूलक संवेदनाएँ पूर्वी विचार पद्धति से अनुमोदित है। भारतीय चिंतन - परम्परा में विकसित आत्म विस्तार का उदात्त और उदात्तभाव जो 'सहनाववतु' में शुरू होकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' से हो 'सो हम्' की चरम - अवस्था को पहुँच पाया है, अज्ञेय के 'निजतायुक्त व्यक्तित्व के ममेतर के साथ सम्बन्ध में पुनरुज्जीवित मिलता है। उसमें व्यक्ति का ससीम या असीम में विलयन नहीं दिखता। केवल उसकी संपूर्णता मात्र है। व्यक्ति और व्यक्ति की परस्पर युक्ति से व्यष्टि और समष्टि की संपूर्ति संभव हो सकती है। व्यक्ति के विकास का अनुकूल साहचर्य उस स्थिति में है। समाज की प्रगति का द्वार भी यहीं खुलता है। संस्कृति की सुरक्षा एवं चेतना भी उसी में है।

व्यक्तित्व की अद्वितीयता और 'मम - ममेतर' सम्बन्ध के मूल में जिसप्रकार वरण की स्वतंत्रता और समर्पण की भावना रहती है, उसीप्रकार अज्ञेय के

---

1. द्रष्टव्य : अज्ञेय - लिखित 'श्लील और अश्लील' लेख - आत्मनेपद, पृ.77-81.

व्यक्ति - बोध (वैयक्तिकता) में भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की करुणा एवं प्रेम का भी समावेश हुआ है। अज्ञेय काव्य में इसका स्वर मुखर रहता है।

हमने अन्यत्र देखा कि मुक्त अज्ञेय वैशिष्ट्य व्यक्ति - आत्मा - के संस्कार का साधन है। ऐसे करुणा एवं प्यार के भाव जीवन को जीने योग्य बनानेवाले तत्व हैं। 'तुम' 'मेरे' अस्तित्व की सुरक्षा इसलिए बन सकता है कि 'तुम' 'मुझ' से अलग नहीं। प्रस्तुत तुम मेरे रागात्मक स्निग्ध कोमल सम्बन्ध का प्रतीक है। उस प्यार की अरुणिमा से हृदय में आप्लावित हुए बिना रह नहीं सकते - " मेधों की सहसा चिमनी अलकावलि छू जाती है।"[1] प्रकृति एवं जीवन की सुन्दरता अन्तरतम में सुन्दर भावनाओं के उद्वेलन की अपेक्षा रखती है।

" जीवन का हर सम्पर्क "[2] जिस त्याग की ओर संकेत करता है, वह भी इस रागात्मक सम्बन्ध के विशुद्धतर रूप के अतिरिक्त क्या हो सकता है ? ईसा मसीह और भगवान बुद्ध की करुणा और परित्याग के आदर्शों से अज्ञेय का काव्य - व्यक्तित्व आमूलाग्र प्रभावित हुए हैं तो उसका कारण यह है कि उन दोनों महापुरुषों ने करुणा और त्याग के द्वारा मानव प्रेम का सर्वोत्कृष्ट रूप प्रस्तुत किया था। उस करुणा और त्याग में ही उनका जीवन महिमामय हो गया था, अमृतत्व की स्थिति में पहुँच गया था। इस आस्था और व्यथा के अभाव में मनुष्य का, उसके अस्तित्व का क्या मूल्य है ? और किस में उसकी महिमा और गरिमा लक्षित हो सकती है ? अतः कवि कहते हैं :

" मैं आस्था हूँ
तो मैं निरंतर उठने की शक्ति हूँ
मैं व्यथा हूँ।"[3]

---

1. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये (क्योंकि तुम हो) पृ.46.
2. वही वही पृ.46.
3. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये पृ० २१.

सब इस जीवन का मूल भूत तत्व जो राग है, कल्पना और सौन्दर्य चेतना है, वे वैक्ल्यपूर्ण जीवन में सुख के स्पन्दन भर देने के साथ, उन स्पन्दनों के क्षणों में मनुष्य को नश्वरता के ऊपर उठाकर अमरत्व की रस - बिन्दुओं की चखा देते हैं। कालक्रम में बद्ध अस्तित्व - चिंतन नश्वरता का बोध जब हमारे अन्दर भर देता है तब अनुभूति के क्षण कालनिरपेक्ष रहकर हमें काल बोध से मुक्त कर देते हैं और चिरन्तनता से संपृक्त कर देते हैं। घटना - अनुभव तो सार्वधिक काल से सम्बन्धित है जब कि अनुभूति का सम्बन्ध निरवधि काल से है। अनुभूति के ये क्षण घनिष्ट हैं और अपनी स्फूर्ति से समग्र जीवन को चेतन्यपूर्ण और रसानुविद्ध कर डालते हैं। ये जीवन में परितृप्ति के क्षण हैं जिन पर जीवन की चरितार्थता आधारित है, अस्तित्व की सत्यता का परिष्कृत प्राप्त होता है। 'नदी के द्वीप' की रेखा जब कह उठती है - " I am fulfilled "। तब उसके शब्द इस परितृप्ति से साक्षु निकलते हैं। भुवन को छोड़कर अन्य किसी के साथ वैवाहिक जीवन बिताते वक्त भी रेखा भुवन से प्राप्त अनुभूति के उन क्षणों को अपने मन में कान्तिपूर्ण मोती के समान सुरक्षित रखती है। अज्ञेय की यह क्षण - जीवन उनकी कविताओं में भी अनुगुंजित मिलती है।

रागबद्धता के अनुभूतिपूर्ण क्षणों में अनश्वरता का अधिकारी हो सकने के कारण मनुष्य को मृत्यु - भय से आतंकित होने की आवश्यकता ही नहीं। यही नहीं, इस कारण अज्ञेय मनुष्य को सबसे बड़े सत्य के रूप में स्वीकार भी करते हैं और उसके जीवन को महत्वपूर्ण भी -

" परे मनुज से नहीं कहीं कुछ
इसी तर्क से जीवन स्वतः प्रमाण है।"[2]

---

1. नदी के द्वीप : पृ.160.
2. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये (यही एक अमरत्व है) पृ. 49.

अगर मनुष्य सर्वोच्च सत्य है तो उस सत्य की यथार्थता का अनुभव पक्ष है पार्थिव जीवन । सब वह भी अवश्य सत्य हो क्योंकि असत्य से सत्य को नहीं प्रमाणित किया जा सकता है । इसलिए कहना पड़ता है कि प्यार की क्षमता मनुष्य को संप्राप्त एक ऐसा वरदान है जिसे वह वैयक्तिक और सामाजिक पहलुओं पर विकसित करके अनश्वरता पा सकता है । सब प्रेम में अक्षय की आस्था को मानव में उनकी आस्था का प्रतीक ही समझना चाहिए ।

जहाँ प्यार है वहाँ समर्पण है । यह समर्पण व्यक्ति का है, मानव और जीवन केलिए । जहाँ समर्पण है, वहाँ अहं लुप्त हो जाता है । अहं के विलयन में ही समर्पण की पूर्ति है । अहं स्वार्थता का जनक है । जहाँ अहं नहीं, वहाँ स्वार्थता भी दूर है । स्वार्थ के न रहने, आसक्ति भी नहीं होती । अनासक्त समर्पण से प्रेरित कर्मों में जो आनन्द है वही जीवनानन्द है । इस आनन्द में स्वार्थ - जन्य आसक्ति के अभाव से उसकी साधनों की आकांक्षा या भय भी नहीं रहता है । इसलिए रागोद्वेरित समर्पण से प्राप्त जीवनानन्द शुद्ध - सात्विक है । अहं की उपस्थिति इस शुद्ध चित्तावस्था को कलुषित करती है । अतः अहं का विलोनीकरण समर्पण और आनन्दोपलब्धि की अनिवार्य शर्त है ।

इसप्रकार अकेलेपन की सीमा में ममेतर के साथ अक्षय संबन्ध - संगति स्थापित कर लेते हैं । जीवन को वे अकेला नहीं मानते हैं -

"क्योंकि यही सब तो है जीवन
गरमाई, मिठास, हरियाली, उजाला
गन्धवाही मुक्त खुलापन, लोच, उल्लास, लहरिल प्रवाह,
और बोध भव्य नित्यास निसीम का :
ये सब उधार पाए हुए द्रव्य ।"[1]

---

1. कितनी नावों में कितनी बार ('उधार') पृ.।

जहाँ समर्पण हो, वहाँ लेना मात्र नहीं है । जो लिया जाता है, उसके बदले वह भी दे दिया जाता है । देने में ही लेने की सार्थकता है । समर्पित - चेता की जीवन - साधना ही ग्रहण और दान है, क्योंकि

" सब से उधार माँगा, सब ने दिया ।
यों मैं जिया और जीता हूँ ।"[1]

इसप्रकार आदान - प्रदान समर्पण को आनन्द मय बनाता है । तब ऐसा जीवन आनन्द-साधना के नाम से श्रेय हो जाता है । यदि वैसिए कविता स्वयं आनन्द साधना है वैसे व्यक्ति वैसिए जीवन भी -

" फूल को प्यार करो
पर झरे तो झरने दो ।"[2]

जैसे हमने देखा कि रागपूरित स्थिति के बाद नश्वरता के बोध को हरा देते हैं, वैसे समर्पण आनन्द को प्रदान करता है ।

अज्ञेय की दृष्टि में आनन्द " सभी अनुभूतियों के बीच बनी रह सकनेवाली प्रवृत्ति है ।"[3] इसलिए वह जीवन के प्रति आसक्ति, मोह, और तज्जनित मरण भय से नष्ट हो सकता है । समर्पण इस आनन्द स्थिति से मानव को उबार सकता है । मरण का बोध समर्पितात्मा के जीवन - बोध को दृढतर बना

---

1. कितनी नावों में कितनी बार (' उधार ') पृ.।
2. वही
3. त्रिशंकु

देता भी है । अतः मृत्यु के बीच भी जिजीविषा और आशंका होनता की निरासक्तता और दत्त जीवन की कृतज्ञता के भाव समर्पितात्मा अज्ञेय में सजग रहते हैं । अतः वे कह सकते हैं :-

" नत हूं मैं
सब के सम्मुख बार बार मैं विनीत स्वर
ऋण - स्वीकारी हूं -
विनत हूं ।
मैं मरूंगा सुखी
मैं ने जीवन की धज्जियां उड़ाई हैं ।[1]

---

1. पूर्वा (जन्म दिवस) : पृ.195.

चौथा अध्याय

अनुभूति का शाब्दिक संवहन

चौथा अध्याय

अनुभूति का शाब्दिक संवहन

कला के प्राण अनुभूति है, संदेह नहीं। लेकिन मात्र अनुभूति की अवस्था कला कहला नहीं सकती। कलाकार का यह कर्म किसी माध्यम के द्वारा ग्राहक पर संप्रेषित हो और उसके अन्तस्तल में कृतिकार की जैसी बेचैनी उत्पन्न हो।[1] तभी कोई रचना कृति कहलाने योग्य हो जाती है और कोई कृतिकार के पद का अधिकारी हो सकता है। कला के सामाजिक महत्व और चिरन्तनता का रहस्य भी यह है।

कविता और शाब्दिक माध्यम

काव्य कला के सम्बन्ध में भी यह सत्य है। कवि का माध्यम भाषा है। वह अनुभूतियों का भाषा में रूपान्तर करता है। चित्रकार रंग और रेखाओं के विन्यास और सन्तुलन के द्वारा अपनी अनुभूतियों को मूर्त बना देता है। कवि विशेष शाब्दिक चयन में विभिन्न अर्थ - छायाओं से काव्य को संवलित कर डालता है। यह तभी संभव है जब कृतिकार अपने माध्यम से पूर्णतः अवगत रहता है। जो कवि अपने माध्यम की शक्ति और सीमा का पूर्ण ज्ञान रखता है,[2] वह अपनी विशिष्ट अनुभूति को विशिष्टता के साथ सामाजिक तक पहुँचा कर अपनी भाषा की विशिष्टता को भी प्रकट करता है।

---

1. 'The artist is in an inner world, but its value depends upon the extent to which others can share it'. - C.A. Burland: 'Man and Art' - The Studio Publications, London, 1959. P. 38

2. यहाँ मिखायेल रोबर्ट्स का कथन ध्यान देने योग्य है कि 'Primarily, poetry is an exploration of the possibilities of language' - Introduction of the 1st edn., 1936. The Faber Book of Modern Verse, 1965. P. 3

अज्ञेय की भाषा - सम्बन्धी मान्यता

कवि कर्म के सांस्कृतिक और सामाजिक दायित्व के प्रति हमेशा सतर्क रहने के कारण माध्यम की प्रेषणीयता पर अज्ञेय ज़ोर देते हैं। अभिव्यक्ति में ग्राहक को महत्वपूर्ण स्थान देते हुए संवेदनीय सम्प्रेषण में भाषा की समर्थता कवि कर्म का अनिवार्य अंग वे मानते हैं।[1] भाषा सम्बन्धी उनकी सारी मान्यताएँ इस दायित्व - बोध से गठित हैं। अपने माध्यम की सिद्धियों और सीमाओं का पूरा ज्ञान इस दृष्टि से उन्हों प्राप्त भी किया है। इस कारण परम्परागत रूढिग्रस्त भाषा - शैली नव - संवेदनों के संप्रेषण के लिए अनुपयुक्त मालूम पड़ी। चिरकाल से उपयुक्त और तत्कारण चैतन्यहीन शब्दों में नए अर्थों को भर कर माध्यम के परिष्कार करने का परिश्रम उन्हें अत्यंत आवश्यक हुआ। यह बात इस तथ्य का समर्थन करती है कि कवि अज्ञेय भाषा के संबन्ध में पूर्वाग्रह मुक्त हैं। परम्परा को सूक्ष्म रूप में - तात्विक तल पर - स्वीकार करनेवाले कवि भाषा पर ऐसी दृष्टि रखते हुए यहाँ भी परम्परा से अपना सम्बन्ध व्यक्त कर सके हैं। - शब्दों में नए अर्थ - संभार का कार्य उनकी दृष्टि में ठीक परम्परा सम्पुक्ति है, क्योंकि भारतीय काव्य - परम्परा में हर काल ऐसा कार्य होता ही रहा है। 'वागर्थ-प्रतिपत्ति' के लिए पार्वती परमेश्वर से प्रार्थना करनेवाले कालिदास ही इस दिशा में अज्ञेय के आदर्श हैं।[2]

---

1. हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य : पृ.24, द्रष्टव्य : आत्मनेपद (प्रेषणीयता शीर्षक लेख)
2. हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य : पृ.202. द्रष्टव्य, त्रिशंकु (वागर्थप्रतिपत्तिय शीर्षक लेख)

गिरा - अर्थ जल - वाचि सम

" काव्य सब से पहले शब्द है, और सबसे अन्त में भी यही बात बच पाती है कि काव्य शब्द है ।"[1] अज्ञेय का यह मत प्राचीन भारतीय काव्याचार्यों के ' शब्दार्थौ सहितौकाव्यम् '[2], ' रमणीयार्थ प्रतिपादक : शब्द : काव्यम् '[3] जैसे सिद्धान्त वाक्यों से मेल खाकर काव्य कला को शब्द से अभिन्न ठहराता है । अज्ञेय की यह राय ठीक भी है क्योंकि माध्यम के द्वारा ही कला रूप लेती है । दूसरे शब्दों में, कलाकार की अनुभूति से प्रभावग्रस्त होकर उपस्थित होनेवाला 'माध्यम का विशिष्ट रूप' कलात्मक रचना है । इससे यह सिद्ध होता है कि केवल भाषा अथवा केवल अनुभूति कविता नहीं हो सकती । रचना में दोनों का ऐसा समन्वय हो जैसे प्राण और शरीर में है ।

भाषा मौलिकता की कसौटी

यहाँ एक बात और स्पष्ट होती है कि कवि की मौलिकता की खोज मात्र काव्य में ही नहीं की जानी चाहिए, वरन् उसकी प्रेरणीयता भी मौलिकता का परिचायक अवश्य है । प्रेषणीयता के पीछे माध्यम के परिष्कार - संस्कार - की दृष्टि से किए गए जो प्रयोग हैं, वे कवि की मौलिकता को प्रदर्शित करते हैं ।[4] शाब्दिक माध्यम पर प्रयोग की व्यापकता नए अर्थ की प्रतीति में ही सीमित नहीं है, प्रत्युत लय, छन्द, ध्वनि आदि भी उसकी सीमा में आ जाते हैं । तब कृति के महत्व के आकलन में विषय - वस्तु का जितना ध्यान है, उतना ही साथ, कहीं उससे बढ़कर ध्यान माध्यम - भाषा - का भी है ।

---

1. तार सप्तक : पृ.308.
2. भामह : काव्यालंकार : पृ.1 - 16.
3. जगन्नाथ : रसगंगाधर : पृ. 1 - 1.
4. तार सप्तक : भूमिका, पृ.6

कलाकार के पक्ष में माध्यम का संप्रेषण - सामर्थ्य अनुप्रेरणीय है, जैसे ग्राहक के पक्ष में प्रेषित अनुभूति की पकड़ पाने, उसकी गहराई को आंकने, एवं उसकी मौलिकता को परखने में माध्यम ही सहायक है । इसप्रकार भाषा की मौलिकता दुतरफा महत्व रखती है । अपने अन्दर उद्वेलित होनेवाली अनुभूति को प्रेषणीय बनाने में कवि ने माध्यम का - शब्द का - कहाँ तक परिष्कार - संस्कार कर लिया है, इसपर कवि की मौलिकता निर्भर रहती है, और माध्यम की सृजनशीलता आधारित है ।[1]

माध्यम का संस्कार : कवि का सामाजिक दायित्व

कला की असफलता मात्र माध्यम की असमर्थता के कारण नहीं, शायद उससे जूझकर माध्यम को समझने में कलाकार की असमर्थता के कारण है । जैसे हमने अभी व्यक्त किया, कलात्मक रचना के सन्दर्भ में अनुभूति और माध्यम में अभिन्नता की स्थिति संजात होती है । शब्द स्वयं काव्य हो जाता है । ऐसी स्थिति का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हम मिथकों में पाते हैं । जिनमें शब्द भाव को संकेतित नहीं करता, बल्कि भाव शब्द में स्वयं समाविष्ट होकर उसे चैतन्यपूर्ण बना देता है । आधुनिक कवि भी भाषा को इस मिथकीय स्तर पर ले जाना चाहता है क्योंकि मिथक सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक [illegible] की प्रस्तुत करता है ।[2]

अतः यह कवि का दायित्व है - सामाजिक दायित्व है - कि वह शब्द और भाषा का नए संस्कारित रूप में उपयोग करे ताकि उसकी प्रेषणीयता बढ़ जाय, वैयक्तिक अनुभूति का साधारणीकरण सुगम हो पाये । इसप्रकार संस्कार करने से ही

---

1. तार सप्तक : भूमिका, पृ.13.
2. Northrop Frye: Anatomy of Criticism. P. 136

कवि अपनी सपूर्वानुभूति को पूर्णतः शब्दबद्ध कर कविता की कोटि में प्रतिष्ठित कर सकता है । कारण, कविता मानव के कलाव्यापारों में सर्वोच्च स्थान में स्थित है । इसलिए वह शब्द की अर्थवत्ता में सदा दत्तावधान रहता है । नए अर्थ की इस खोज में शब्दों की ऐतिहासिक परख एवं अर्थ की सामाजिक परख को सर्वाधिक महत्व दिया भी जाता है । यहाँ यह द्रष्टव्य है कि अज्ञेय शब्द के वास्तर्थ की उपेक्षा के पक्ष में नहीं है,[1] फिर भी परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप नए अर्थों की नवीन चेतना से शब्दों को संस्कारित एवं संवेदन के समर्थ बना लेने का समर्थन करते हैं । वे कहते हैं, " युग संपृक्ति के बिना अर्थवान संवेदन "[2] असंभव है । युग - संपृक्ति का यह बोध कलाकार के रूप में अज्ञेय की सामाजिक चेतना का दृष्टान्त है और 'अर्थवान संवेदन' की दीक्षा अपनी सांस्कृतिक परम्परा को आगे से जाने में जागरूक कलाकार की सजग व विकासशील दृष्टि का परिचायक भी । अतः शब्द के प्रति लापरवाही कवि के पक्ष में अन्य नहीं है । कवि की रागात्मक अनुभूति से निष्पन्न अर्थ की प्रतीति शब्द के माध्यम से ही संभव है । अगर शब्दों के प्रयोग में कहीं भूल - चूक हो गई तो कविता की संरचनात्मक अन्विति अवश्य बाधित हो जाती है । फलस्वरूप, कविता प्राणहीन और चैतन्य रहित शिथिल जड़ रचना बन जाती है ।

शब्दों का मितव्यय : भाषा पर अधिकार का प्रमाण

अज्ञेय के लिए " कला मितव्ययता का दूसरा नाम है ।"[3] इस कारण वाचालता के टीलेपन को अपनी कविता से दूर रखने का सतत परिश्रम उन्होंने किया है

---

1. हिन्दी साहित्य : आधुनिक परिदृश्य : पृ.202.
2. तार सप्तक : पृ.309.
3. तार सप्तक : पृ० 309

अनुभूति के अनुरूप भावगत एकात्मयन की दृष्टि से मूल में भी यह मितव्य काम करता है । शब्दों की इकोनमी (economy) की इस सजगता ने उन्हें शाब्दिक माध्यम पर गंभीर चिंतन केलिए प्रेरित किया है । इस विचार - विमर्श ने ' सही - भाषा की सजगता ' में ' भाषा का सरीयन '[1] देख लेने की उन्हें समर्थ किया । 'सीन मछली'[2] और 'साँप'[3] उनकी इन दोनों विशिष्टताओं को सामने करनेवाली कविताएँ हैं । 'सीन मछली ' में कविता की संक्षिप्तता उसकी तीव्रता और तनाव को अक्षुण्ण रखती है । भाव की स्पष्टता को खण्डित करनेवाला कोई भी शब्द उसमें नहीं है । 'मछली' प्रतीक में घनीभूत होकर कविता सीधे ग्राहक के मन में प्रविष्ट हो जाती है । मछली यहाँ कविता का प्राक्कथन तत्व होते हम देखते हैं । वहीं स्वयं कविता का रूप ले लेता है । इस प्रकार मछली की प्रतीकात्मकता से भरी कविता - कवि के पीछे तड़पती मछली में रूप जगत के पीछे अनुभूत जिजीविषा को प्रतीकित करके निसृत कविता ग्राहक के अन्तस्तल को पहुँच पाती है । ग्राहक का अंतरंग भी ऊर्मिल हो उठता है ।

इसप्रकार नगर - जीवन के सारे अवगुणों को साँप में प्रतीकित करके अज्ञेय ने अपने तीखे नगर बोध की संवेदना को तेज़ धार के समान व्यंजित कर डाला 'साँप' नामक कविता में, 'साँप, तुम सभ्य तो नहीं हुए'[4] में 'सभ्य' शब्द के पीछे छिपी रहनेवाली कवि की हृदयगत नगर - जीवन - विरुचि पूर्णतः खुल ही नहीं जाती, अपितु आधुनिक युग में 'सभ्य' शब्द की हुई अर्थच्युति और उसके पीछे के पाखण्ड की ओर व्यंग्य भरी दृष्टि भी परिलक्षित होती है । ये कविताएँ शब्द के समर्थ साधक के रूप में अज्ञेय की योग्यता प्रकट करती हैं ।

---

1. आत्मनेपद : पृ.149.
2. अरी ओ करुणा प्रभामय : पृ.82.
3. बन्दूक बनु रोपे हुए थे : पृ.29.
4. वही : पृ.29.

मित-व्ययता और भाषा के संयोजन का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि एकतानता की एक रसता से मुक्त रह सकी उनकी भाषा । नानात्व की भंगिमा से वह नवीन और चैतन्ययुक्त होती गयी है । अज्ञेय के काव्यों का अनुशीलन इस तथ्य को प्रकट करता है कि उनका समस्त काव्य वैविध्यपूर्ण भाषा प्रयोग के द्वारा उद्घाटित होने-वाली नई उपलब्धियों से भरा रहता है । भाषा की सृजनशीलता भी इसमें संलग्न है ।

अज्ञेय की काव्य भाषा के वैविध्य में उसका क्रमिक विकास भी द्रष्टव्य है । कथ्य (अनुभूति) के अनुरूप भाषा पर ज़ोर देनेवाले कवि बदलते परिवेशों के अनुसार भाषा पर प्रयोग की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं ।[1] इस कारण उनकी काव्य-मंजूषा में एक ही वर्ण की अनुभूति का ही रंग नहीं भर गया है, प्रत्युत वह सतरंगी इन्द्रधनुष के टुकड़ों की वर्ण - सजलता से भरपूर रहती है । आद्यकालीन रोमांटिक कविताओं में स्वीकृत 'कोमल कांत पदावली' को आगे चलकर उन्होंने इसलिए छोड़ दिया कि उनके संवेदन में भारी परिवर्तन आ गया । 'बंदी खग' और 'भग्न दूत' में प्रदर्शित यौवन - सुलभ उच्छृंखल भावावेग की उद्दामता भाषा में भी परिलक्षित है । लेकिन 'हरी घास पर क्षण भर' तक आते आते उनकी वाणी भी

* अस्त : मित, अन्तः संयत

हरी घास री[2] हो जाती है । इसके बीच में भी 'असीम प्रणय की प्यास' से तड़पकर प्रौढ व मित भाषा को छोड़कर रोमांटिक भाषा का सहारा लेने से वे हिचकते नहीं । जीवन की त्रिगुण यायावरी - वृत्ति काव्य क्षेत्र में किसी भाषा विशेष से हमेशा बंधित रहने से उनकी प्रतिभा को अलग रख सकी है । अतः भाषा

---

1. हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य : पृ.202.
2. पूर्वा : ('हरी घास पर क्षण भर' कविता) पृ.246.

भावाभिव्यंजन में बाधक नहीं होती। वह भाव से स्वीकार होकर सामने आती है। इस प्रकार अनुभूति की विविधता के अनुरूप भाषा के विभिन्न स्तरों का उद्घाटन अज्ञेय की प्रयोगशीलता, मौलिकता और सृजनशीलता को प्रमाणित करता है, साथ ही कवि के विपुल और वैविध्यपूर्ण जीवन - अनुभवों को भी।

लोकभाषा की वरिष्ठता : ग्रेषणीयता की दृष्टि से

भाषा को संस्कारित और नवीनार्थ संवलित करने और उसका माध्यम को चैतन्यपूर्ण बनाए रखने की निष्ठा अज्ञेय को शुद्ध व्याकरण - सम्मत शब्दों के क्षेत्र में ही सीमित रखा हो, सो बात नहीं। सही भाषा की सहजता के साधक कवि अज्ञेय लोक - भाषा की शक्ति को पूर्णतः समझ सके हैं।[1] जन हृदय के स्पन्दन से अनुप्राणित लोकभाषा का चैतन्य और ग्रेषणीयता उनको हमेशा आकृष्ट किए रही है। अतः रोमांटिक प्रवृत्ति से प्रेरित कविताओं की 'कृत्रिम' भाषा के प्रयोग के साथ ही जीवन के यथार्थ से उद्भूत कविताओं में लोकभाषा का स्वाभाविक प्रयोग भी सहज रूप में प्राप्त है। भाषा की भाव निरपेक्ष सुन्दरता या शाब्दिक कोमलता से बढ़कर काव्य की ग्रेषणीयता पर बल देनेवाले कवि इसप्रकार लोकभाषा के आधार पर माध्यम को रूपान्वित कर लेते हैं।[2] लोक - जीवन स्तरीय भेद को लोकभाषा गत शब्दों के प्रयोग से अज्ञेय बड़ी कुशलता के साथ संवेद्य बना देते हैं। 'सिनेमा घर' के बदले 'सनीमाघर' 'थियटर' के बदले 'थेटर' आदि सारा प्रयोग नगर - जीवन से चुने गए हैं। मझोले और नगर - सभ्यता के चित्र को यथातथ ही नहीं लोकजीवन के अनुभूत रूप में संप्रेषित करने में ऐसे ग्राम्य प्रयोग सफल हो सके हैं।

---

1. एक बूँद सहसा उछली : पृ.176.
2. वही : पृ.177.

लेकिन प्रेमिल हृदय की उद्गारों की वाणी देने में ऐसी भाषा का सहारा नहीं लिया गया है । वहाँ रागपूरित तरल हृदय की मधुर कोमल भावनाओं को व्यंजित करने केलिए आवश्यक रोमांटिक शब्दावली अपनायी गई है ।[1] अध्यात्म बोध से उत्तेजित भक्ति की अनुभूति को व्यक्त करने केलिए तदनुरूप रहस्यात्मक पारिभाषिक शब्दों से युक्त भाषा स्वीकृत हुई है ।[2]

बिम्ब - प्रतीकादि : सफल भावस्फुरण के साधन

काव्य साधना अज्ञेय केलिए शब्द और सत्य को किसी आलोक स्फुरण में मिला देने का परिश्रम है - " दोनों जो हैं बन्धु मेरा चिर - सहचर मेरे ।"[3] कविता में ही मनुष्य की सृजनशक्ति चरमावस्था को पहुँच पाती है । सर्जक शक्ति अपनी प्रतीक - गठन - क्षमता में निहित है क्योंकि मनुष्य मूलतः प्रतीक - सृष्टा है ,[4] यह बात कविता में बिम्ब और प्रतीक के अनिवार्य महत्व को स्पष्ट करती है । काव्य में इनकी

---

1. 'मौन दूत' की प्रायः सभी कविताएँ इस कथन का समर्थन करती हैं। 'दृष्टि प से तुम जाते हो जब', 'रहस्य', 'असीम प्रणय की तृष्णा' 'कहो कैसे मन की समझूँ', 'प्रश्नोत्तर' 'गीत 1', 'गीत 2', 'अपना गान', 'स्वप्न' आदि उदाह
2. 'अगिन के पार द्वार' के 'चक्रान्त शिला' खण्ड की कविताओं की भाषा इस दृष्टि से विशेष द्रष्टव्य है ।
3. अज्ञेय जी कृत्वा प्रणय ('शब्द और सत्य') पृ.19.
4. 'Man is essentially an image maker, but it is his human prerogative' - Jane Ellen Harrison, Mythology.

अनुभूतीयता और प्रभाविष्णुता के बारे में अज्ञेय पूर्णतः सभिज्ञ है, उनकी कविताओं में बिखरे पड़े नाना प्रकार के बिम्ब और प्रतीक इसके प्रमाण है।

स्वयंसिद्ध सत्य के रूप में कविता को स्वीकार करनेवाले कवि अनुभूतियों की प्रतीकाभिव्यक्ति (प्रतीकविधान) के द्वारा कविता में इस स्वयंसिद्ध सत्य को व्यंजित करते हैं। अनुभूतियों को वस्तुनिष्ठ दृष्टि में रूपायित करने केलिए बाह्य संयोजक तत्व (objective correlative) की अनिवार्यता पर टी.एस.इलियट ने भी ज़ोर दिया है।[1] वाग्तीत है कवि सत्य।[2] अतः उसको ध्वनित करने केलिए कवि विधान का सहारा लेना ही पड़ता है। अर्थात् शब्द के सामान्य अभिधेयार्थ के परे के अन्यार्थ - शब्दों की व्यजन - शक्ति - पर काव्य की प्रतीकात्मकता या बिम्ब परक चेतना सन्निहित रहती है। सीधी छत से टपकनेवाली बूँदों की 'तिप् - तिप्' और पत्तों पर पड़नेवाले वर्षा बिन्दुओं की 'पट - पट'[3] की ध्वनियों की व्यतिरिक्तता को समझ लेनेवाली चेतना की शब्दों की व्यजना-शक्ति पर आधृत बिम्ब-योजना-पाटव में देखा जा सकता है। 'सखी सी पायलों की झमि' में [4] लज्जा में नववधू की सौम्य-गंभीर आहट सुनाई दे रही है तो

---

1. The only way of expressing emotion in the form of art is by finding an objective correlative, in other words a set of objects, a situation, a chain of events which shall be the formula of that particular emotion.- Tradition and Individual Talent.

2. " मेरा भाव्यंत्र
एक मशिया है सूखी घास - फूस की
उसमें छिपेगा नहीं ओछा तुम्हारा दान -
साध्य नहीं मुझ से, किसी से चाहे सधा हो।"
- बावरा अहेरी (आज तुम शब्द न दो) पृ. 12

3. पूर्वा : पृ.220.

4. पूर्वा : पृ. औरों के पात्र, पृ० 86.

' फैले हुए अखबार की सरसराहट '[1] हमारे सामने अखबार के पढ़ जाने का सजीव चित्र उपस्थित कर देती है । इसप्रकार 'उबले के कम्बल की सहकन',[2] 'कुलिया की कटी मेड़ से बहते जल की हुल हुल' आदि भी ध्वनिबिम्ब की योजना में कवि की पटुता के प्रमाण है ।

ध्वनियों के मूल भेद पर आधारित इन बिम्बों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के बिम्बों का प्रयोग भी अज्ञेय - काव्य में उपलब्ध है । फेनिल जल राशि पर किरणों का झिलमिलाना वास्तव में झालरदार मखमली चादर पर 'भारहीन पैरों से मचलती अप्सरा कन्याओं का थिरकन'[3] हो जाता है । सूर्योदय अज्ञेय की दृष्टि में सर्वोत्तम का अंकन है, सूर्योदय की वेला में सागर में तरंगें उठती नहीं, बल्कि

" गए गुरुत्व का जगा फूल
नैवेद्य चढ़ चला
सागर द्वारों
अर्घ्य तिमिरमर्यादा को । "[4]

ये सभी दृश्य बिम्ब भौतिक व्यापारों की साधारणता के तल से ऊपर से जाकर जैविक व्यापार के रूप में रूपायित कर देते हैं - animate कर देते हैं ।

कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे बिम्बों से कविता अपने चरम उद्देश्य को प्राप्त करती है । शब्द सामान्य अभिधेयार्थ की जड़ - संगति से मुक्त होकर कवि के आत्म - चैतन्य से दीप्त अनुभूतियों से तादात्म्य पाकर एक जैविक इकाई(organic whole

---

1. अरी ओ करुणा प्रभामय : पृ.156.
2. वही : पृ.156.
3. अगिन के पार द्वार : पृ.15
4. कितनी नावों में कितनी बार : पृ.4
5. अगिन के पार द्वार : पृ.

बन जाता है । शब्द का भाव से भिन्न कोई अस्तित्व तो नहीं है । अज्ञेय के सभी काव्य - संग्रह विशेषकर 'चन्दनु रोदे हुए थे', 'अरी ओ करुणा प्रभामय', 'आँगन के पार द्वार' की अधिकांश कविताएँ उनके अपूर्व बिम्ब - विधान के उत्तम निदर्शन हैं ।

प्रतीक - योजना

बिम्ब के समान प्रतीक भी कविता की भाव - स्फूर्ति का महत्वपूर्ण साधन है । अज्ञेय में प्रतीक अनुभूति से अनुप्राणित होकर काव्य कलेवर का अटूट अंग बन गया है । प्रतीक कवि के लिए उक्तिवैचित्र्य का साधन न होकर काव्य का प्रस्तुत तत्व हो जाता है । कवि के अतीत सत्य का अभिव्यंजन प्रतीकों के द्वारा ही संभव है ।[1] तब यह स्पष्ट है कि कवि चेतना से बाहर से भाव के अनुरूप प्रतीक को नहीं चुन ले सकता है । भाव स्वयं प्रतीक के रूप में सहज ही गठित होनेवाला है । इस कारण परम्परा से चले आनेवाले पूर्वगठित अन्यार्थ से रहित नये - नये प्रतीकों को अज्ञेय नव - संवेदना के पक्ष में अनुपयोगी मानते हैं । शब्द का भी भावानुरूप अर्थगत संस्कार चाहनेवाले ये कवि कैसे

---

1. "प्रतीक वास्तव में ज्ञान का एक उपकरण है । जो सीधे-सीधे अभिधा में नहीं बँधता, उसे आत्मसात् करने या प्रेषित करने के लिए प्रतीक काम देते हैं । .... वह (कवि) प्रतीक द्वारा सत्य को जानता है — सत्य के अथाह सागर में प्रतीक रूपी कंकड़ फेंककर उसकी थाह का अनुमान करता है ।"
अज्ञेय : आत्मनेपद : पृ० 46.
द्रष्टव्य : 'The Image' (P. 222) 'The Poet' (P. 223)
C. D. Lewis : Collected Poems, Jonathan Cape, London, 1954.

अपनी अपूर्व अनुभूतियों को इन ready-made प्रतीकों में भर दे कर अपने कवि कर्म की चरितार्थ कैसे कर सकते हैं ? इस कारण वे कहते हैं -

" ये उपमान मैले हो गए हैं ।
देवता इन प्रतीकों के कर गए हैं कूच ।
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है ।"[1]

अतः अगर पुराने प्रतीकों की अनिवार्यता हो तो उन्हें भी नए अर्थ संकोच के द्वारा संवेदन - सम्पन्न कर लेना चाहिए । उनमें ऐसी क्षमता प्रयोग के द्वारा उत्पन्न की जाय कि वे नव - संवेदनों के संवहन में समर्थ हो सकें । प्रतीकों को माँज कर उनकी चमक बढ़ा लें ।[2]

जैसे पहले सूचित किया गया, शाब्दिक संक्षिप्तता कविता के प्रभाव को बढ़ाती है । काव्य की प्रभाविष्णुता की दृष्टि से प्रतीक भी बड़ा महत्वपूर्ण है । अतः मितव्ययता के पक्षपाती अज्ञेय प्रतीकों को अपने काव्य में पूर्ण प्रश्रय देते आ रहे हैं । काव्यक्ष के विकास के साथ साथ उनकी प्रतीक - योजना भी विकसित होती रही है ।

जीवन की स्वप्नों और आकारों का एक रंगीन और विस्मय भरा पुंज[3] अनुभव करनेवाले कवि में तथ्यात्मक सत्य की वैज्ञानिकता के परे प्रातिभज्ञानाश्रित सत्य के अतीत पक्ष की अनुभूति स्वाभाविक रूप में विद्यमान है । मछली की दौड़ में सागर की गहराई को भाप लेने की क्षमता इसका प्रमाण है, मछली यहाँ प्रतीक है, तब कवि अज्ञेय के ही शब्दों में, सत्य के अगाध सागर में प्रतीक रूपी बंसी फेंककर उसकी थाह का

---

1. पूर्वा : (बकरी बाजरे की) पृ.224.
2. आत्मनेपद : पृ.41.
3. आत्मनेपद : पृ.45.

अनुमान करता है । यह अनुमान कवि का अपना है ।[1]

प्रतीकवादियों से अज्ञेय का प्रतीकाभिमुख भिन्न पड़ जाता है । प्रतीकवादी कैसिर प्रतीक सत्य है, सत्य है, तो अज्ञेय कैसिर प्रतीक सत्य के साक्षात्कार का साधन मात्र है, सत्य अलग है ।[2] फलावस्था में प्रतीक कवि के आन्तरिक सत्य से संयोजित होकर स्वयं काव्य का रूप धारण करता है, फिर भी तत्वतः अज्ञेय कैसिर दोनों अलग अलग है, उनमें साध्य - साधन सम्बन्ध है ।[3]

कविता की सत्यान्वेषण और संप्रेषण के अनिवार्य साधन स्वीकार करने के कारण अज्ञेय - काव्य में प्रतीकों की सजगता और बहुलता दर्शनीय है ।[4] अनुभूति के अनुरूप नवीन संदर्भ - संगति से पुराने प्रतीकों को सम्बद्ध करके और नए प्रतीकों की गठित करके सूक्ष्मतर भावों, चित्तावस्थाओं एवं विचारों को उनमें सन्निविष्ट करके वे काव्य की आन्तरिक गंभीरता को बढ़ा लेते हैं ।

'भग्न दूत' से लेकर 'महावृक्ष के नीचे' तक के संकलनों में अज्ञेय की काव्य प्रतिभा के निरंतर विकास और चरमोत्कर्ष हम देख सकते हैं । उसमें कवि की बौद्धिक प्रौढ़ता के साथ विकसित दार्शनिकता ने उनकी अनुभूति को उत्तरोत्तर गंभीर भी कर दिया है । कवि रवीन्द्रनाथ के प्रभाव में, प्रपद्यवाद की पदधूलि में अंतिम आश्रय की आकांक्षा की अभिव्यक्ति में उनके कृतित्व का प्रस्फुटन हुआ था । बाद में जीवन की नाना अभिज्ञताओं और उपलब्धियों से अनुभवों का संग्रह करते वह आगे बढ़ा । इन

---

1. आत्मनेपद : पृ.45.
2. आत्मनेपद : पृ.45.
3. आत्मनेपद : पृ.45.
4. किंतु प्रतीकादि की प्रचुरता के कारण अज्ञेय पर प्रतीकवाद का आरोप भी लगाया गया है । द्रष्टव्य : 'प्रतीकों का महत्व' लेख : आत्मनेपद पृ० 39 - 42.

अनुभवों के आधार पर उनकी कवि - मनीषा सौष्ठव प्राप्त करती गई । उसकी महिमा और गरिमा वहीं तब पूर्णतः अनुभूत होती है जब उससे निःसृत होनेवाली अनुभूतियाँ की विराटावली काव्य बिखरे प्रतीकों के स्फुट - फलकों में प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण समुपेक्ष्य को पाठक के हृदयाकाश में सौन्दर्य की इन्द्रधनु की रच डालती है ।

ऐसे बहुसंख्यक प्रतीकों में दीप, बत्ती, वट, शिशिर, बन्दी, कीर, वन, हारिल पक्षी, पारावत, सावन मेघ, पपीहा, सागर, द्वीप, फल, नदी, मछली, साँप, वीणा, वर आदि अज्ञेय की कविताओं में बार बार प्रयुक्त हुए हैं । रूढिगत अर्थ संगति को छोड़कर एकदम नए अर्थ में इनका कई प्रकार से प्रयोग करके अज्ञेय ने अपनी प्रयोग-शीलता एवं मौलिकता को प्रदर्शित किया है ।[1]

मस्तक पर भावती अग्निशिखा के साथ दीप - पंक्ति में रहकर दूसरों की श्रद्धा का पात्र बना है दीपक । लेकिन यह आदर दीपक तब तक पा सकता है जब तक उसमें स्नेहधारा रहता है । स्नेह (आन्तरिक चैतन्य) के निश्शेष होने से प्राणयुक्त वे जल जाने पर दीपक जब ज्योतिरहित और जड़वत् हो जाता है, तब श्रद्धापूरित नेत्रों में अवज्ञा और वाणी में तिरस्कार और विद्रूप झलक आने लगते हैं । इसपर दीपक की आत्मवेदना का अनुभव करता है, वह कृतघ्न समाज से तिरस्कृत पर सेवाव्रती के आहत अभिमान की पीड़ा है । दीप यहाँ आत्मा का प्रतीक नहीं, प्रबुद्ध व्यक्ति का प्रतीक है

---

1. संप्रेषण की समर्थता की दृष्टि से किए गए प्रयोगों के सिलसिले में बिम्ब-प्रतीकादि की वशिष्ठता से अज्ञेय पूर्णतः अभिज्ञ हैं । देखिए "प्रयोग और प्रेषणीयता" शीर्षक लेख - आत्मनेपद, पृ० 35-37.

दीपक प्रतीक एक दूसरी कविता में कुछ भिन्न रूप में प्रयुक्त किया गया है। 'दीपावली का एक दीप'[1] में शिखा स्वयं बत्ती की प्राण - ज्योति है या जीवन - ज्योति है तो 'दीप और शिखा'[2] में दीप और शिखा दोनों अलग अलग व्यक्ति हैं। इस नई अर्थ - संपृक्ति का परिणाम यह हुआ कि बत्ती के जलते जलते खुश्त होने की साधारण प्रक्रिया में मानव चित्त का एक सार्वलौकिक सत्य संपुंफित दर्शाया गया है। पति सेवारत मनस्विनी पत्नी के हृदय में पति की अगम्यगामनोत्सुकता से उत्पन्न तीव्र व्यथा का अनुभव कवि इसलिए करा सके[3] कि शिखा रूपी पति के सौन्दर्य और कान्ति का हेतु बत्ती के हृदय - रक्त की लालिमा है। फिर भी पति उसकी अवहेलना कर परस्त्री से नाता जोड़ लेता है तो उस साध्वी का दिल टूट-टूट जाने लगता है। लेकिन वह अपना आत्म-दान जारी रखकर अपनी मनस्विता प्रदर्शित करती है और अपना भी परकीय छाया देखकर अन्दर से जलती ही रहती है।[4] शिखा और बत्ती की इस नई प्रतीक - योजना के द्वारा अज्ञेय ने नारी हृदय के सर्वोत्तम पक्ष का उद्घाटन कर पाठक की सहानुभूति को उसके प्रति जाग्रत किया है।

अज्ञेय के काव्य - जीवन की प्रारंभिक रचनाएँ पीड़ाभिशप्त भारतीय चेतना से ओत प्रोत है। तत्कालीन परिस्थितियों की प्रतिकूलता से उत्पन्न विषाद और विद्रोह और उसके बीच में भी वांछित भवितव्य की आशा से बंधे जानेवाला धीरज - इन सब की संपृक्तता उनमें द्रष्टव्य है। इन मानसिक स्थितियों और अनुभूतियों को वेदी,

---

1. पूर्वा (दीपावली का एक दीप) पृ.20
2. पूर्वा (बत्ती और शिखा) पृ.21
3. वही पृ.21
4. " अपना भी परकीय छाया,
   यह देख जली मैं जाती हूँ।" - पूर्वा : पृ.21

शिशिर, वट आदि प्रतीकों के द्वारा बड़ी ही कुशलता के साथ वे व्यक्त करते हैं।

" बस का जल गीला कर देगा तेरे अंचल
अत्याचारी का तुझ को दे देगा प्रतिफल।"[1] में अनुरंजित विद्रोह - भावना पराजित भारतीय हृदय से निसृत नहीं, प्रत्युत विजिगिषु भारतीयात्मा से प्रसूत है। अज्ञेय गुलाम भारत की पराजित चेतना की सह - धर्मिता शिशिर में देखते हैं। शिशिर कवि वैसिए केवल पराजय जन्य अवसाद का प्रतीक मात्र नहीं है, बल्कि उसमें वसन्त के आगमन की आशा भी बनी रहती है। इस कारण वे शिशिर को संबोधित करते हैं,

" फिर भी - वैसी ही मेरे प्राणों में रहे अनबुझी आशा
जिसे चाहे बाधा, किन्तु बुझने पावे :
इन प्राणों में जो सीसे ही रहे सदा से विफल प्रयास -
कभी न दुख भी कर पाए - रोने तक की समझी आयास।
केवल भरी रहे, अस्फुट आकांक्षाओं से
भरी रहे - वह भरी रहे, ना फूट न पाए।
यह साकांक्ष विफलता ही
रहे दुरा उस मैत्री की
जिस पर झूम रहे हैं प्राण, पाकर साथ तुम्हारा
ओ समदुःखी, सहभोगी, ओ वंचित प्रणयज्ञा शिशिर।"[2]

बंदी भी सहतः इसी बद्ध विफल पराजित भारतीयता का प्रतीक है, कवि की यह वाणी -

---

1. पूर्वा (वट) पृ.23
2. पूर्वा (शिशिर के प्रति) पृ.38

" मैं तेरा कवि, जो धारा के अद्भुत अभाव विकसते
उर पीड़ा निधि, पर आँखों से आँसू नहीं निकलते । "[1]

उस भारतीयता के अलावा किस के प्रति हो सकती है ? बंदी के प्रतीक के द्वारा ही तत्कालीन विवशता और अवसाद को कवि ने स्वर दिया है । यद्यपि इस अवसाद के प्रतीक के रूप में पहले शिशिर अंकित हुआ लेकिन शिशिर केवल अवसाद का ही प्रतीक न होकर पराधीनता और आत्मदीनता के बीच भविष्य की आशा का प्रतीक भी बनता है । यही कारण है कि विफलता के घने अन्धकार के दुर्ग में अद्भुत न होकर आकांक्षा की फीकी किरणों के धीमे आलोक में अजेय कर्म - पथ में उत्तरोत्तर प्रगति कर रही है ।

यह आशावादिता 'बंदी गृह की खिड़की ' में प्रतीकित हो गई है । विफलता में भी वह आकांक्षापूर्ण इसलिए रह सकता है कि वह अपनी शक्ति के प्रति सचेत है, अपना सुप्त आत्म बल उसे मालूम है -

" अभी दीप्त मेरी ज्वाला है
यद्यपि राख ने ढाँप डाला है । "[2]

इस शक्ति के रहते, बाहर स्पन्दित स्वतंत्रता के साक्षात्कार बंदी की बेचैनी का कारण बनता है । उस बेचैनी में रिपु का आसन भी अस्त हो सकता है । उसे ज्ञात है कि उसमें

" अभी शक्ति है, कवि, इस जग की
धूली - सा अंजुली में लेकर
बिखरा दूँ, बह जाने दूँ या
रचूँ किसी नूतन ही लय पर । "[3]

---

1. पूर्वा (बन्दी और विश्व) पृ.52.
2. पूर्वा (बन्दीगृह की खिड़की) पृ.54.
3. पूर्वा (गा दो) पृ.60.

इसलिए वह कवि से कहता है -

" कवि एक बार फिर गा दो
एक बार फिर इस अन्धकार में
फिर आलोक दिखा दो ।" - - -
" तुम मुझ को अन कथ कृतित्व का भूला राग सुना दो ।"[1]

यह विद्रोह भावना आगे चलकर सामाजिक वर्जनाओं की ओर मुड़ जाती है और कुंठाजनक सामाजिक नैतिक चेतना पर यौन - प्रतीकों (sex-symbols) के माध्यम से आघात पहुंचाती है । 'तुम कहाँ हो नारी'[2] में कुंठाजनक सामाजिक परिस्थिति के यौन - वर्जना के शिकार व्यक्ति के चित्त का उद्घाटन ही उपलब्ध नहीं होता, अपितु, उसमें उसकेलिए कारणभूत समाज के प्रति तीव्र विद्रोह का स्वर भी अनुगुंजित है । उस व्यक्ति के सामने सावन मेघ विजृम्भित वासना का साकार रूप बनकर उपस्थित होता है ।[3]

वर्जनापूर्ण सामाजिक परिस्थिति कुंठाग्रस्त व्यक्तित्व के विकास में बाधक है कुंठा मुक्त अवस्था में ही सृजन शक्ति का उन्मेष संभव है । यही कारण है कि खुले आकाश में विश्राम का नाम न लेकर निरंतर उड़ते रहनेवाले हारिल पक्षी के प्रतीक के

---

1. पूर्वा (गा दो) पृ.59 - 60.
2. पूर्वा (सावन मेघ) पृ.132.
3. "घिर गया नभ, उमड़ आए मेघ काले
भूमि के कंपित उरोजों पर झुका - सा
विशद, रवासाहत, चिरातुर
आ गया चन्द्र का नील वक्ष
व्रण - सा, यदि तडित् से झुलसा हुआ - सा ।
आह, मेरा श्वास है उत्तप्त -

द्वारा गत्वर सृजनात्मकता को प्रश्रय दिया जाता है ।[1] लक्ष्य को पाने की असमर्थता से विकल होने पर भी निराश न होकर लक्ष्य की आशा का संबल लेकर शारिल उड़ता ही रहता है । साधना विफलता की यह त्रिस्त शारिल में परिलक्षित है । यह शारिल कवि का 'हिय - शारिल' ही है ।[2] जिसके अस्तित्व ने अज्ञेय के जीवन में प्रेरणा प्रोत के रूप में अमिट छाप छोड़ी थी, उसकी काल कवलितता होने पर अनुभूत व्यथा ही उनका चिर जीवन - संबल हुई है ।[3] यही उनके अस्तित्व का प्रमाण भी है ।

कमनियों में उमड़ आयी है लहू की धार -
प्यार है अभिशप्त - तुम कहाँ हो नारि ?" -
पूर्वा (सावन मेघ) पृ.132.

1. " दृढ़ डैनों के मार थपेड़े
अखिल व्योम को वश में करता
तुझे देखने की आशा से
अपने प्राणों में बल भरता,
ऊषा से ही उड़ता आया
पर न मिल सकी तेरी छाँही -
सांझ समय थक चला विकल
मेरे प्राणों का शारिल पाखी ।"
. . . .
मैं शारिल हूँ, बैठे रहना
मेरे कुल का धर्म नहीं है ।" -
पूर्वा (आज कहा हिय - शारिल मेरा) पृ.118 - 119.

• आज कका दिय हारिल मेरा•,[1]

• ओ मेरे दिल •[2]

• उड़ चल हारिल •[3]

कविताएँ इसप्रकार तितलियों का प्रतीकात्मक अभिव्यंजन ही है । ये दोनों उस अस्तित्व के प्रतीक है जो पूर्ण मुक्त है और सर्वत्रगामी भी ।

अस्तित्व से सम्बन्धित अन्य प्रतीकों में मछली प्रमुख है । कई संदर्भ - प्रसंगों इस प्रतीक में ही गई है । जब एक बार स्वतः प्रमाणित अपने अस्तित्व के रूप में मछली सामने आती है तो दूसरी बार जिजीविषा के प्रतीक के रूप में वह कवि के पीछे झाँकती रहती है ।[4] एक स्थान पर वह ज्ञानार्जन का प्रतीक है[5] तो अन्यत्र

---

3. " पर प्रिय अन्त समय में क्या तुम
इतना मुझे दिलासा दोगी -
जिस सुने में मैं लूट चला,
कहीं उसी में तुम भी होगी ?"- पूर्वा(आज कका दिय हारिल मेरा) पृ.120.

4. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि अज्ञेय : पृ.11 - 12.

1. पूर्वा : पृ.118.

2. पूर्वा : पृ.121.

3. पूर्वा : पृ.125.

4. "हम निहारते रूप
काँच के पीछे
हाँप रही है मछली
रूप तृषा भी
(और काँच के पीछे)
है जिजीविषा ।" -अरी ओ करुणा प्रभामय(सीन मछली) पृ.82.

जीवन का निहितार्थ प्रतीकित करती है ।[1] सागर में जीवन की देखते समय ही अनजाने ही कवि के सामने ज्ञान का प्रतीक बन उपस्थित होती है । अज्ञेय की ऐसी पूर्वाग्रह मुक्त प्रतीक धारणा एक ही प्रतीक को कई अर्थ - छायाओं से नितचेतन एवं नवीन कर देती है ।[2] इस कारण सागर प्रतीक के अर्थ के भी कई मान ही पाए हैं । सागर एक ओर जीवन है[3] तो दूसरी ओर परम सत्य को व्यंजित करता है ।[4] उषा और सूर्य में

---

5. " अरे, कब से बेचारी मछली
   फिर अगाध से
   सागर खींच रही है ।"
   - अरी ओ करुणा प्रभामय (पहेली) पृ.87.

1. " अर्थ हमारा
   जितना है, सागर में नहीं
   हमारी मछली में है
   सभी दिशा में सागर जिसको घेर रहा है ।"
   - अरी ओ करुणा प्रभामय (घेर रहा सागर) पृ.138.

2. 'मछलियाँ', 'जीवन छाया', 'मछली', आदि कविताएँ (अरी ओ करुणा प्रभामय में संग्रहीत) इसके प्रमाण हैं ।

3. अरी ओ करुणा प्रभामय में संग्रहीत धरा व्योम(पृ.81), पहेली(पृ.87.), 'सागर में ऊब - डूब'(पृ.133), 'सागर चित्र'(पृ.134), 'सागर पर भोर' (पृ.135), 'सागर पर संध्या'(पृ.136) 'सागर - तट : संध्या तारा'(पृ.139 'घेर रहा सागर'(पृ.166) - ये सब जीवन को सागर में प्रतीकित करती है।

4. 'सागर मुद्रा' नामक संग्रह की 'पार पर सितार दो'(पृ.20) 'सागर मुद्रा 3', (पृ.68), 'सागर मुद्रा 6', (पृ.72) 'सागर मुद्रा - 7'(पृ.75) आदि

भी समान संदर्भ - संगति संभव ही पाई है । मछली में रूप - सृजा के साथ जिजीविषा के दर्शन कवि इसलिए करते हैं कि सागर जीवन का मूर्त रूप है । उसकी पीठ जिजीविषा की मछली तिरती रहती है ।

अनुराग और ममत्व से सनी किरणों के अनन्त हाथों से सूर्य जिजीविषा से स्पन्दित बूँद का स्पर्श कर लेता है । तब उसके अन्दर अपनापन का आलोक फैल जाता है । आलोक हुआ यह अपनापन उस बूँद को नश्वरता के दाग से मुक्त कर देता है क्षुद्रता - मुक्ति और अपनेपन की यह आलोकित अवस्था बूँद में - उसकी बूँद में - प्रतीकित होकर सामने आती है ।[1] ऐसी स्थिति का चित्रण' जावरा बहरी '[2] में भी उपलब्ध है। इसप्रकार 'चिड़िया की कहानी' वास्तव में सर्जन प्रक्रिया की कहानी है । हृदय डाली पर आसीन अनुभूति की चिड़िया किसी तीव्र निमिष में पक्षाकार के अन्दर से उड़कर बाहर चली जाती है (अभिव्यक्ति पाती है) तो सर्जन का प्रकंपन हृदय में अवश्य महसूस होगा ही । अनुभूति के साक्षात्कृत होने पर फिर से डाली और पत्ती शान्त और स्थिर हो जाती है । हृदय या कवि का अन्तर्लोक शान्त हो जाता है । आन्तरिक विवशता से मुक्ति का यह कविता प्रतीकात्मक अभिव्यंजन है -

" उड़ गई चिड़िया
काँपी, फिर
थिर
हो गयी पत्ती "[3]

कविताओं में भी सागर जीवन का प्रतीक है । प्रस्तुत संग्रह की 'सागर मुद्रा - 1'' (पृ.64), 'सागर मुद्रा - 4', (पृ.70), सागर मुद्रा - 5(पृ.71), 'सागर मुद्रा - 8 (पृ.77) 'सागरमुद्रा - 9', (पृ.78), 'सागरमुद्रा - 10 '(पृ.79) 'सागरमुद्रा - 11 '(पृ.80 आदि कविताएँ सागर प्रतीक का सम्बन्ध विराट पारमार्थिक सत्ता से कर देती है ।

1. अरी ओ करुणा प्रभामय : (मैं ने देखा : एक बूँद) पृ.140

' कितनी नावों में कितनी बार ' तीर्थाटन करनेवाले यायावर, सागर की गहराई को माप डालनेवाली मछली और आकाश की अनन्तता की ओर उड़ान भरनेवाली चिड़िया - ये तीनों एक ही तितीर्षु के विभिन्न चेहरे हैं ।

अपनी अनुभूतियों की सफल अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का यथेष्ट उपयोग करनेवाले अज्ञेय ने ऐसा कोई प्रतीक विरले ही अपनाया हो जो बिलकुल अपरिचित हो । वस्तुतः उनके प्रतीक सब अपने जीवन के परिवेश से चुने हुए हैं । लेकिन अर्थ - संस्कार में भिन्नता लक्षित है । यह कवि की मौलिकता ही समझनी चाहिए ।

'इतिहास की रचा'[1] 'अलाव्यवीचा'[2] जान के लिखेस'[3] आदि कविताओं में पुराण - प्रथित मिथकीय प्रतीकों को अपनाया गया है । ये कवि के अवचेतनागत आदिम - मानव - पशु के जागरण को सूचित नहीं करते हैं, फिर भी ये आदिमता की ओर कवि की उन्मुखता को स्पष्ट करते हैं । पौराणिक मिथकों को आधुनिक जीवन - सन्दर्भों से गठित अनुभूतियों से अनुप्राणित करके कविता की गंभीरता और प्रौढ़ता बढ़ा दी गई है । इन सब के बावजूद अज्ञेय की रुचि लोकजीवन की ओर ही रही । अतः पौराणिक मिथकीय प्रतीकों की कमी उनके काव्य में रहती है ।

स्पष्ट भाषण की प्रवृत्ति कविता के अनुकूल नहीं है । अतः समर्थ कवि उस दोष से अपने को हमेशा बचाए रखता है । व्यञ्जनात्मकता में ही कविता का सौन्दर्य और प्रभाव है । कवि अपनी अनुभूतियों को वाचालता या स्पष्ट भाषण से मुक्त रखकर,

---

2. आवरा अहेरी । (आवरा अहेरी) पृ.16
3. अरी ओ करुणा प्रभामय (चिड़िया की कहानी) पृ.76.

1. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये : पृ.31.
2. अगिन के पार द्वार : पृ.75.
3. महावृक्ष के नीचे : पृ.60.

शब्दों का संयमपूर्वक प्रयोग के द्वारा अनुभूतियों को व्यंजित करने पर ध्यान देता है।[1] अज्ञेय - काव्य में, बहुत कम संज्ञाओं को छोड़कर इस दृष्टि से प्रतीक विधान अन्यत्र सफलता पा सका है। यह उनकी भाषा - चातुरी का सबूत भी है।

छन्द

अज्ञेय की कविता में छन्द योजना की परम्परागत परिपाटी का निर्वाह नहीं हुआ है। छन्द से उनका मतलब भावों को निश्चित वर्णों या मात्राओं की पंक्तियों से भर देना नहीं है। अनुभूति की ईमानदारी के साथ अभिव्यक्ति में भाषा के ही समान छन्द को भी वे महत्वपूर्ण मानते हैं। वस्तुतः अज्ञेय छन्द की सहजात्मकता के सूक्ष्म आधार पर स्वीकार करते हैं। पिंगलशास्त्र भी अभिव्यक्त भावों के आन्तरिक स्वभाव के अनुरूप स्वीकृत संरचना - पद्धति है। प्राचीन कृतियों में भावानुसार या मानसिक अवस्थिति के अनुसार छन्द परिवर्तन दृष्टव्य है। सन्देशात्मक काव्यों में मंदाक्रान्ता की ढीली लय स्वीकृत है तो वियोग या व्यथा के चित्रण में pathetic rhythm से युक्त वियोगिनी का टंचा। यह सब इस बात की ओर संकेत करता कि भावों के उद्वेलन के अनुसार कविचित्त में जागृत होनेवाले मनोवेग ही छन्दों के पीछे की लय है। यह लय पुराने और आधुनिक सभी कालों में परिवर्तन के परे का तत्व है। अपने काव्य में इस लय को स्वीकार करते हुए छन्द के पक्ष में अज्ञेय परम्परा से अपनी संपृक्ति प्रकट करते हैं।[2]

---

1. " सहजगति सीधी रेखा में होती ही नहीं है, सीधी रेखा में वेग - संचालन असंभव जैसा - साध्य होता है। अतः छन्दता की कला का गुण या सौन्दर्य तत्व मानने में हम फिर अपना अनुभव दोहरा रहे हैं। "-अज्ञेय: हिन्दी साहित्य: एक आधुनिक परिदृश्य पृ
2. "वस्तु को रूपाकार से बिलकुल अलग नहीं किया जा सकता, किन्तु दोनों का साथ अधिक समर्थ और प्रभावशाली होता है। "अज्ञेय: तीसरा सप्तक (भूमिका) पृ.17.

अज्ञेय प्रवृत्या लयमुक्त गति की ओर सहज ही आकृष्ट रहे हैं। छोटी उम्र में ही प्रकृति की लयात्मकता से चमत्कृत इस कवि की कविता पिटी पिटाई छन्द - पद्धति की तंग गली को छोड़कर सहज प्राकृतिक लय से अन्वित की गई है। वही लय उनकी कविता का छन्द है।

लेकिन गेयता लयात्मकता नहीं है। कारण कि लय का अर्थ संगीत नहीं। लय संगीत का गुण हो सकती है। लय हर गति का गुण है। यह चराचरों के प्रत्येक व्यापार में परिलक्षित है। पक्षी के खिलने में है, गाय की रंभाने में है, मनुष्य के बोलने में है। बोलचाल के पीछे, या बातों में मनुष्य की भावोद्वेलित मनोगति ही काम करती है। अतः मनोगति की जो लय है वही बोलचाल की भी है। वही स्वाभाविक है। इसमें संगीत की अनुशासित लय को मिलाना या इसकी कृत्रिम छन्दों के कलेवर में जमा देना भावानुभूति में बाधा उपस्थित करेगा।

अज्ञेय के छन्दपरक प्रयोग की महिमा यही हम देखते हैं। छन्द को संगीतात्मकता या गेयता के साथ प्रस्तुत करना मात्र कविता को शोभा नहीं देता। संगीतात्मकता से हटकर भाव का साधारणीकरण ही काव्य लिए आवश्यक है। उसमें प्रेषणीयता की दृष्टि से संगीत उपयुक्त है, या लय की संगीतात्मकता प्रेषणीयता की दृष्टि करती है, लय का मौलिक तत्व है, वह समकालीन जीवन की लय से प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकती। सब काव्य के अनुसार एक विद्वान की दृष्टि से पुराने काव्य एक अनुपयोगी ही ठहरेंगे। वह इसलिए कि आधुनिक जीवन की लय पुराने से बिलकुल भिन्न है। जिस समाज में, संसार में मानव जीवन की सार्थकता की सीमाएँ टूट गई हैं या टीसी पड़ गई हैं, जहाँ नष्ट - मूल्य का विषाद रात दी भरा रहता है, जहाँ विश्वास की दृढ़ता के अभाव ने आत्मीयता के तिरोभाव के अन्धेरे में संदेह का कुहरा बिछा दिया है, जो जीवन बौद्धिकता की तार्किकता और वैज्ञानिकता की यांत्रिकता से घिरा

रहता है, उस जीवन की गति में लय भी अवश्य है । इसी लय भी ने आधुनिक कवि अज्ञेय के लय - बोध को प्रभावित किया है ।

जीवन के लय - भंग से अनुप्राणित कवि के इस नए लय बोध ने बात चित की लय में चरितार्थता पाई है । आधुनिक संवेदनाओं के लिए यही लय उन्होंने सर्वोत्तम समझा । इसके फल स्वरूप उनकी कविता अधिकाधिक बन - जीवन की सामान्य लय के निकट आ सकी । इस वाक् - लय में जब नाटकीयता का समावेश भी हो पाया, तो कविता निरी वर्णन से बचकर जीवन्त - सत्ता (organic entity) बन गई ।

'असाध्यवीणा' एक साधारण प्रतीकात्मक कविता के सामान्य स्तर से ऊपर उठकर महत्वपूर्ण उत्कृष्ट कृति के पद पर पहुँच सकी है तो उसका कारण वाक्लय की नाटकीयता से उत्पन्न दृश्य - संवेदनक्षमता है । प्रियंवद की संगीत उपस्थिति की अनुभूति कविता की पहली पंक्तियों में बड़ी दक्षता के साथ कवि उत्पन्न कर सके हैं -

" आ गए प्रियंवद । केश कम्बली । गुफा गेह ।
राजा ने आसन दिया । कहा :
" कृतकृत्य हुआ मैं तात । पधारे आप ।
भरोसा है अब मुझको
सध जाय मेरे जीवन की पूरी होगी ।"[1]

इसीप्रकार किरीटी तरु से निर्मित वीणा के पुरावृत्त के आख्यान में भी वाक्लय के आर्द्रव और प्रभाव अवश्य अनुभूत होते हैं । शब्द विशेषों और स्थान विशेषों पर जोर देकर निर्मित यह लय कविता के समग्र प्रभाव का अटूट अंग सी जाती है । ऐसा बल(stress)

---

1. आँगन के पार द्वार (असाध्य वीणा) पृ.75.

काव्य शब्दों की बानन - शक्ति को बटाकर अर्थ - विस्तार कर देता है ।

यहाँ एक बात और स्पष्ट होती है । बातचीत की लय चित्तावस्था से अभिन्न है, फिर भी प्रकट रूप में उसका आधार शब्द ही है । अज्ञेय भी इस सत्य से अभिज्ञ है, अतः बातचीत के लय को उन्होंने शाब्दिक आधार पर विन्यसित रखा है । संगीतात्मकता की काव्यानुभूति में बाधक मानने का एक दूसरा कारण भी यही छिपा रहता है । संगीत में शब्द की अवहेलना है । लय पहले निश्चित है । उसके अनुसार शब्द का चुनाव होता है । लेकिन कविता में यह संभव नहीं है । कविता शाब्दिक कला है । शब्द ही उसका माध्यम है । अतः कविता में शब्द की अनिवार्यता और प्रमुखता रहती है । अनुभूति के अनुरूप विन्यसित होने वाले शब्दों के आधार पर ही कविता में लय निर्मित होती है । यह लय कविता का संगीत है ।

पीड़ा के घनीभूत होने से सहमत होने पर भी उसके बरसने में तीव्रता का नए अनुभव करनेवाले कवि छंद में उस समग्र पीड़ा को अनुभव करने और कराने में स्वाभाविक भाव - स्फूर्ति देखते हैं ।[1] लम्बी कविताओं की अपेक्षा छोटी कविताओं को वे इसलिए प्रश्रय देते हैं ।

अज्ञेय छोटी कविता के समर्थ कवि हैं । 'असाध्यवीणा' के कवि कम समर्थ नहीं हैं, फिर भी छोटी कविताओं में अनुभूति की तीव्रता और अभि - व्यक्ति की सहज चटुलता है । यह चिंतन परकता और विस्तार के कारण लम्बी कविताओं में प्रायः कम है । अज्ञेय भी स्वयं अपने को छोटी कविता के कवि मानते हैं, यह भी स्मरणीय है । ऐसी छोटी कविताओं में लयात्मकता कितनी वेगवती है, देखने लायक है ।

---

1. आत्मनेपद : पृ.31.

वाद् - लय की ओर एक विशेषता अज्ञेय जैसिए यह है कि सब उनकी शैली के अनुरूप है । अज्ञेय की कविता स्पष्ट संगीतात्मक नहीं है । वे ग्राहक के सम्मुख हैं । उससे साथ संवाद में है । ' संप्रेषण ' को ' किस पर अभिव्यक्ति ' का उत्तर माननेवाले कवि कैसे श्रोता की उपेक्षा कर सकते हैं ? 'क्यों कि',[1] 'इसलिए'[2] आदि तार्किक संवाद में उपयुक्त शब्दों के द्वारा 'संवादात्मक' शैली पर उपयोगित अनुभूति के बिलकुल अनुरूप है बातचीत की लय भी ।

लय को संगीत न मानकर अज्ञेय ने संगीतात्मकता को अपने काव्य में स्थान न दिया हो, सी बात नहीं । साधारणीकरण की काव्योपयोगी तत्वों को अनुभूति के अनुरूप स्वीकार करती ही है । आप की प्रारंभिक कविताओं में भी गेयता है, उदाहरण है । ' ओ पिया पानी बरसा '[3] गीत 1[4], गीत 2[5], जैसी रचनाएँ गेयता से पूर्ण है । लोकगीत की बुनियाद पर उनकी लय निश्चित की गई है ।

'शब्द अधूरे हैं क्योंकि उच्चारण संगीत है '[6] कहकर कविता की पाठ्यता की अपूर्णता की ओर कवि संकेत करते हैं । वे कविता को लय के साथ पढकर और सुनाकर ग्राहक तक पहुँचाने के पक्ष में हैं । टी.एस.एलियट जैसे कवि भी कविता की गेयता की उपेक्षा नहीं करते हैं । अंग्रेजी कवि डब्ल्यू. बी.यीट्स के कविता वाचन से स्वयं अभिभूत हो जाने की घटना का वर्णन तक उन्होंने किया है ।[7] अज्ञेय भी कविता को

---

1. शब्द बन गये हुए ये : पृ.
2. वही : पृ.
3. पूर्वा : पृ.
4. पूर्वा : पृ.
5. पूर्वा : पृ.

लय के साथ ज़ोर से पढ़ लेने की चीज़ समझते हैं। तभी तो उच्चारण के द्वारा शब्द गत सीमाओं के परे की ध्वनि पूर्णतः प्रकट की जा सकती है, कविता की रमणीयता, ग्रेक्षणीयता बढ़ सकती है। इस प्रकार काव्य की ग्रेक्षणीयता को दृष्टि में रखकर अज्ञेय ने हिन्दी - काव्य - क्षेत्र में काव्य - रचना की जो नई सरणी उपस्थापित की, वह स्वयम मौलिक, परम्परा से सम्बद्ध एवं संस्कृतिक प्रगति में सहायक और काव्य को नई मोड़ और उत्कर्ष की ओर ले जानेवाली सिद्ध होती है।

---

6. नदी के द्वीप : पृ.299.
7. द्रष्टव्य : Music of Poetry by T.S. Eliot, Poets on Poetry.

तृतीय खण्ड

पहला अध्याय

अक्षय - वाक्य में प्रागुक्तियों तथा

पहला अध्याय

अज्ञेय - काव्य में प्रागुक्तियों तत्व :

('रजनीगन्धा मेरा मानस' - अज्ञेय, पूर्वा)

सृजनात्मक व्यापारों में प्रागुक्तियों का स्थान निर्धारित करते हुए प्रथम-खण्ड में स्पष्ट किया गया है कि कला सामूहिक अचेतन (collective unconscious) से सम्बद्ध व्यापार है । उसमें निहित शक्तियाँ ही कला - कृति में साधारणीकृत होती हैं और यही कला की सामाजिकता का आधार है ।

संवेदन की अर्द्ध वे विलयन की अवस्था को उपज और कलाभिव्यंजन को आन्तरिक विवशता से मुक्ति का कार्य मानकर अज्ञेय भी कला के किसी निर्वैयक्तिक और रहस्यात्मक तत्व स्वीकार करते हैं । अर्थात् वे कला के पीछे व्यक्ति - चित्त के किसी व्यक्ति - निरपेक्ष पक्षु के सक्रिय होने की ओर संकेत करते हैं ।[1] विषय और वस्तु का भेद स्पष्ट करते समय भी अज्ञेय वस्तु के रूपान्वयन में व्यक्ति की पकड़ के बाहर की किसी आन्तरिक शक्ति के संयोग की ओर इशारा करते हैं । यही अज्ञेय का आत्मलोक है । इसप्रकार अज्ञेय कला की न केवल मानसिक उपज ही स्वीकार करते हैं, बल्कि उसे कृतिकार की स्वयंभुव अन्तर्योति से प्रभावित चैतन्यपूर्ण सत्ता समझते हैं, अनुभव करते हैं ।

---

1. 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ' नामक कविता कला की निर्वैयक्तिकता के सम्बन्ध में अज्ञेय की दृष्टि स्पष्ट करती है । उस कविता की विवेचना आगे की जाती है ।

सच्चिदानन्द वात्सायन की कविताओं में ऐसी अनेकों मुद्रायें से हमारा साक्षात्कार होता है जिन में कवि अपनी अन्तर्स्थित किसी असीम शक्ति की ओर संकेत करते हैं -

" मैं उस असीम शक्ति से
संबन्ध जोड़ना चाहता हूं -
अभिभूत होना चाहता हूं
जो मेरे भीतर है । "[1]

वे स्पष्ट भी करते हैं कि यह शक्ति ईश्वरीय थी, सो अनिवार्य नहीं है - " मैं भी स्रष्टा प्रवाह में हूं - लेकिन मेरा रहस्यवाद ईश्वर की ओर उन्मुख नहीं है । "[2] तब यह भीतर शक्ति वह है जो व्यक्ति के अन्तरतम में निहित रहती है और ज्ञान स्फुरण के माध्यम से त्रिकाल निरपेक्षतया अकस्मात् प्रकट होकर सिद्ध करती है कि उसकी विद्यमानता मानवता की एकात्मता और आत्मिक महानता का निदान है । अज्ञेय भी अपना रहस्यात्मक संबन्ध किसी भीतरी ईश्वरेतर किन्तु असीम शक्ति से जोड़कर, इस सार्वभौम आत्मिक तत्व की ओर ही इशारा करते हैं । प्रत्येक कवि अपनी कृति के द्वारा इस अन्तर्यामि को अभिस्फुरित करने की चेष्टा करता है । लेकिन उसकी रहस्यमयता पूर्णता की प्राप्ति से कवि को रोक लेती है । इस रहस्यमय पक्षु के उद्घाटन में - अपने संवेदनों के यथार्थरूप अभिव्यंजन के द्वारा - कलाकार जितना समर्थ हो उतना वह श्रेष्ठ है ।[3] कवि इस रहस्यमय सार्वलौकिक शक्ति का संवाहक है, उससे परिचालित है । सागर बिन्दु में सागर प्रतिबिम्बित है । प्रातिभज्ञान प्राप्त कवि में यह असीम शक्ति परिस्फुरित होती है ।

---

1. पूर्वा : 'रहस्यवाद' - पृ.79.
2. पूर्वा : 'रहस्यवाद' - पृ.79.
3. Modern Man in Search of a Soul. P. 177

कवि का परिश्रम तब पूर्ण होता है जब वह अपना आत्मरूप अर्द्ध तोड़कर अपना सर्जनात्मक अचेतन की शक्ति का सम्पूर्ण साक्षात्कार कर सकता है। यह एक आदर्शात्मक स्थिति है जो अप्राप्य है। जब तक अप्राप्य है, तब तक कलात्मक चेतना का विकास है। उसकी रहस्यात्मकता तब तक अनिवार्य है।

अपने अन्दर के उस स्वयंभू आलोक के साथ संवाद में लगते हुए कवि उस की विशेषताओं को और अधिक स्पष्ट करते हैं " कितनी शान्ति ! कितनी शान्ति ! !" कविता में। कवि कैसिए वह हृदय की प्राप्ति है, वह अन्तर्मुखी का अनुपम दुर्लभ - वासी है, अधिर यायावर है, अधिर में चिरकाल से वर्तमान है (थिर प्रवासी)। कवि को कई बार कई रूपों में उसका साक्षात्कार हुआ है। लेकिन कैसे शब्दों में उसे बाँध सकते हैं ? कई विशेषणों से उसको सुबोध बनाने की कवि की चेष्टा देखिए -

" तुम ! जिसे मैं ने किया है याद जिससे बँधी मेरी प्रीत -
कौन तुम ? अज्ञात - भय - सुख - शीत मेरी मीत !
कर्म की आशा नहीं तुम, तुम नहीं प्रवृत्ति से उपराम -
कब तुम्हारे हित क्षमा संघर्ष मेरा - रुका मेरा काम ?
तुम्हें वारे हृदय में, मैं सुने साथी सदा दूँगा आत्म का जो देय -
नहीं गिरने तक कहूँगा, 'तनिक ठहरो, क्योंकि मेरा चुक गया पाथेय।'
तुम ! हृदय के भेद मेरे, अन्तरंग सखा सहेली थी,
कभी से उड़ रहे जीवन - कभी के तुम पटु बहेली थी,
नियत भूतों के सनातन्, स्फुरण की लीला नवेली थी,
किन्तु जो भी थी, निजी तुम प्रश्न मेरे, प्रेय - प्रत्यभिज्ञेय !
मेरा कर्म, मेरी दीप्ति, उद्भव - निधन, मेरी मुक्ति, तुम मेरी पहेली
थी।" [1]

---

1. पूर्वा : 'कितनी शांति ! कितनी शांति !!' - पृ.200 - 201.

यह प्रत्यभिज्ञेय अज्ञात - क्य - कुल - शील रहस्यात्मक सत्ता अपनी प्रभाविष्णुता, सार्व-भौमता, चिरंतनता और बोधातिवर्तिता से मनोविज्ञान सिद्ध प्रगतिक्य की ही सूचित करती है । उसके अभाव में कवि के कवित्व का आधार कुछ नहीं रह जाता है । मानवातितत्व निर्मूल अनुभूत होने लगता है । अतः कवि उसके सामने नतमस्तक है :

" प्रणति ले
ओ स्थिति के प्रतिरूप
जलते तेज जीवन के ,
प्रखर स्वर विद्रोह के -
प्रतिमुक्त सात्विक मुक्ति के,
मेरी प्रणति ले,
स्वयंभू आलोक मन के । "[1]

यही आलोक कवि के हृदय में चिरन्तन रूप में जागृत है । कवि में निगूढ रहकर स्व-अभिव्यंजना केलिए उसे विवश करनेवाला गान भी यह है । वह कैसे स्फुरित होता है ? कवि की आत्मिक चेतना के नीलाम्बर के खुल जाने पर, सम्मोहिनी - सी झिलमिलाती राका के आ जानेपर सकल सीमाओं को लाँघकर आलोक-प्लावन के समान सविच ही जाता है । प्रगतिक्य के पूर्वचर्चित मनोवैज्ञानिक धर्म के साथ कवि का यह चित्रण पूर्णतः मिल जाता है। प्रगतिक्य की प्रतीकात्मक अभिव्यंजन - प्रवृत्ति और प्रतीकवादियों की अध्यात्मवादी दृष्टि का समन्वय निम्न - लिखित पंक्तियों में लक्षित है -

" कहीं भीतर घर चले सब बन्द युग - युग की अपरिचिति के,
एक नूतन समन्वय में खुले सब आकार संसृति के,

---

1. पूर्वा : ' प्रणति ' - पृ.202.

तुम्हारा ही एक हिस्सा
क्या सदा मानस मुकुर में भासता है ?
तुम्हीं हो क्या बन्धु वह जो
हृदय में मेरे चिरन्तन जागता है ?[1] "

मानव चित्त की गहराई में छिपे रहनेवाले प्रागैतिहासों का संकेत अज्ञेय की प्रारंभिक कविताओं में ही प्राप्त है, सो बात नहीं। वास्तव में ऐसी किसी काम्पिलियत की उपस्थिति की धारणा कवि में उत्तरोत्तर बद्धमूल होती दिखाई पड़ती है। 'पूर्वा' के बाद की कृति 'बावरा अहेरी' ऐसी अनेक प्रागैतिहासिक सूचनाओं से युक्त है। उसमें संकलित पहली कविता ' आज तुम शब्द न दो'[2] में कवि किसी अपौरुषेय बृहत्तर सत्ता के साथ अपने रहस्यमय सम्बन्ध और उसी द्वारा प्राप्त रसानुभूति की अवर्णनीय महिमा का ही वर्णन करते हैं। फिर भी कुछ गहराई में जाने पर उसमें मानव के अन्तरतम में छिपे दुर्भेद्य गहनतम पक्ष की ओर संकेत प्राप्त होता है। 'अनन्त दिशाओं के गरिष्ठपुंज' विशेषण जैसे पर्वत का विशेषण है, वैसे सामूहिक अचेतन की अज्ञेयता का भी सूचक है। सामूहिक अचेतन रहस्यमय है, फिर भी व्यक्ति की महानता और अनश्वरता का निधान है। 'पर्वत' वह महानता का परिचायक है। उसमें ही व्यक्ति के अमृत की अमृतधारा निहित है। " तुम्हारे " (सामूहिक अचेतन के) रन्ध्र रन्ध्र से "तुम्हीं की" (ममेतर की) 'रस देता हुआ ' (आनन्दान करता हुआ) फूट पड़नेवाला " मैं" अहंयुक्त व्यक्ति नहीं है, प्रत्युत वह अस्तित्व सलिला है जो सब को स्व - पर भेद से भिन्न समरसता में डुबा देती है। उसी ही मानव के सर्वांगिक जीवन की गति नियमित है -

---

1. पूर्वा : 'तुम्हीं हो क्या बन्धु वह' - पृ.205.
2. बावरा अहेरी : 'आज तुम शब्द न दो ' - पृ. 11

" तुम्हीं ने दिया यह शब्द
. . . . .
जीवन के सच्चा शब्द
तुम्हें पहचानता हूँ । "[1]

इसप्रकार परम सत्ता के सामने आत्मदान करते, उस मुहूर्त से प्राप्त किसी अनवद्य सत्य-धारा में अस्तित्व की महिमा की अनुभूति की व्यंजना करते समय, कवि अपने ही अन्दर वर्तमान विश्व काल (प्रागैतिह्य की दुनिया) के जागरण की अनुभूति को भी शब्दबद्ध कर रहे हैं । लेकिन उन गहनतर मन - स्तरों के उद्वसन की अनुभूति को पूर्णतः अभिव्यक्त करने में शब्द उसीप्रकार असमर्थ है जिसप्रकार परम सत्ता के वर्णन में भाषा - माध्यम - अधूरी रहती है । उस अन्तः शक्ति पर कवि अपना कोई अधिकार भी नहीं मानते हैं -

" मेरा तो नहीं है यह
चाहे वह मेरी असमर्थता से बँधा हो ।
मेरा भाव यंत्र
एक मशिया है, सूखी घास - फूस की । "[2]

' तो नहीं कहा गया ' कविता में यह अधिक स्पष्ट है । हमने देखा कि प्रागैतिह्य का जागरण ईश्वर से सम्बद्ध होकर ही पहले होता है ।[3] अर्थात् ईश्वरीय धारणा ही प्रागैतिह्य के जागरण का परिणाम है । प्रागैतिह्य का उद्गम - स्थान जो सामूहिक अचेतन है वह दुर्भेद्य है, अतः अन्धकारपूर्ण है । सुप्ति की अन्धकारपूर्ण अवस्था में अचेतन के अनजाने पानी में डूबने पर ही प्रागैतिह्य का साक्षात्कार संभव है -

---

1. बावरा अहेरी : आज तुम शब्द न दो - पृ. 11.
2. वही : वही - पृ. 12.
3. मिथकों का गठन इसका प्रमाण है ।

" अन्धकार में सागर के किनारे
ठिठक गया : नत हूँ
उस विस्तार में मुझ से बहा नहीं गया ।
इसलिए जो और रहा, वह कहा नहीं गया ।
शब्द, यह सही है, सब व्यर्थ है
पर, इसीलिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ है ।"[1]

'अर्थ' अज्ञानमूलक है । अज्ञान अंधकार है । अर्थ के नष्ट हो जाने पर ही - अर्थ की समाप्ति - बिन्दु में - ज्ञान का आलोक फूट पड़ता है । ज्ञान जो है, वह ज्योतिर्मय है । ज्ञानोदय में आत्मा का विस्तार प्रपंच भर से चराचरों तक हो जाता है । भोर के आलोक का कारक प्राणविम्ब है । प्राणविम्ब सूरज है । उसके उदेक से मानव की अस्मिता नष्ट हो जाती है । और समष्टि से सम्बद्ध समूह चेतना के रूप के रूप में अपने को देखने लगता है । सब अपनी भास्वरता के क्लोष से मुक्त हो जाता है । 'बावरा - अहेरी'[2] कविता का अहेरी प्राणविम्ब ही है । प्राणविम्ब जो सम्पजात आन्तरिक ज्योति है, उसका प्रतीक है वास्तव में सूरज ।[3]

---

1. बावरा अहेरी : जो कहा नहीं गया - पृ. 65.
2. बावरा अहेरी : पृ. 16
3. अज्ञेय का यह बावरा अहेरी सूक्ष्म तल पर 'गायत्री मंत्र' के सविता से मेल खाता है । सभी को साथ लेनेवाले आलोकवाह की विज्ञानिवाला यह अहेरी सूर्य 'गायत्री' में स्मृत वह तेजस्वी सविता ही है जिस का तेज अनश्वर है, शाश्वत् है ('तदक्षरंहि सवितुर्वरेण्यम्' - श्वेताश्वतरोपनिषद् 4 - 18), त्रिमूर्ति - स्वरूप ज्ञान है ("नमो सूर्य परोक्षाय कव्यसूक्ष्मि रूपिणम्, प्रज्ञानाया - विशेषाय सज्ञानवास

सूर्य के सभी धर्म प्रकृतिस्थ के व्यापार के प्रतीकात्मक अभिव्यंजन है । प्रकृतिस्थ पुरुष रहनेवाले व्यक्तियों की अपनी सार्वलौकिक, सार्वकालिक एवं सर्वोत्तम दीप्ति के जाल में स्वत्व करते हैं और केवल एक " हमी " रह जाता है । अतः कवि के शब्दों में समग्र मानव चित्त ही कह उठता है -

" एक आस मेरी मन विवर की दुबकी
कलौंस की
दुबकी ही छोड़कर क्या तू चला जाएगा । "[2]

वास्तव में अज्ञेय के अतल मन की इस दिव्य ज्योतिस्थ अभिप्रेत ही सूर्य पर हो गया है । वह 'अहेरी' है क्योंकि वह सब को अपने जाल में फँसा लेता है । 'बावरा' इसलिए कि उसके सामने वक्ष - अवक्ष की विवेचना का प्रश्न ही नहीं उठता । उसे सब समान है । सभी उसके शिकार हो सकते हैं । प्रपंच का कोई ऐसा कोन नहीं जो उसके जाल से बचा हो । वह सार्वलौकिक है । 'बावरा अहेरी' में सामूहिक अचेतन और सूर्य

निमृतये ।" - सूर्य, पु. अ. 1. 13, 33 - 34.) और जो सभी प्राणियों की आत्मा होता है ('एष हि सर्वात्मा सविता' - मैत्रायणिनिषद्, 6.8) । आत्मिक, बौद्धिक और आत्मिक तीनों के समन्वय के रूप में सूर्य का संकेत गायत्री में किया गया है । अतः सवितु : शब्द व्यंजित हुआ है -

" ओं भ तत् सवितु : वरेण्यम्
भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो न: प्रचोदयात् । "

1. In primitive world .... everything is endowed with the elements of man's psyche - or let us say of human psyche, of collective unconscious, for there is as yet no individual psychic life. C.G. Jung, 'Modern Man in Search of a Soul, Ch. Archaic Man. P. 168

चित्र – ।।

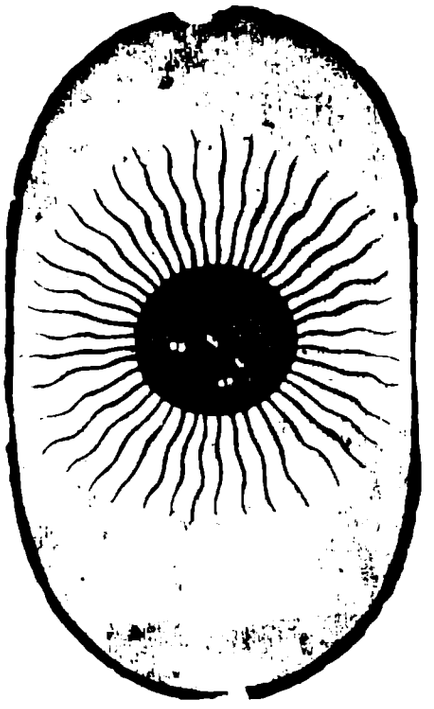

सविता : प्रपंच प्रष्टा ज्ञान प्रीत और
आलोक पुंज सवितृ के रूप में सूर्य का
भारतीय संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान है।

की समान धर्मिता कैसे सकती है, देखने लायक है । सूर्य के समान सामूहिक अचेतन भी त्रिकाल - निरपेक्ष रहकर सार्वभौम प्रभाव रखनेवाला है । चेतन मन की युक्ति - सक्तता से उसका सम्बन्ध नहीं के बराबर है । व्यक्ति की इच्छा - शक्ति से नियंत्रित न रहकर, जब चाहे, यह प्रागुबिम्बीय ज्योति का जाल बिछा लेता है । उस अवस्था में स्व - पर भेद मिट जाता है - " जित देखूँ तित लाल " की स्थिति हो जाती है । मानव की अनुभूति के तल पर संक्रान्त यह स्थैतिक मानवातीत्व के महत्व का आधार ही है । मानव अगर किसी भी अर्थ में अपने को अमरत्व का अधिकारी मान सकते हैं तो वह प्रागुबिम्ब की मौलिक और सार्वलौकिक विद्यमानता के आधार पर ही है ।
अतः कवि की ये पंक्तियाँ हैं :-

" से मैं खींच देता हूँ क्षितिज सारी
मेरी इस खण्डहर की शिरा - शिरा भेद दे
आलोक की अनी से अपनी
गढ़ सारा ढाहकर दृढ़भग्न कर दे : "[1]

इसप्रकार कवि का आन्तरिक आलोक - प्रागुबिम्ब - ज्योतिर्मुख सूर्य पर प्रतीकित मिलता है ।[2]

---

2. आवारा अहेरी (आवारा अहेरी) पृ. 17
1. वही पृ. 17
2. छान्दोग्योपनिषद् में सूर्य का सैद्धान्तिक रूप यों है - " य : एव आदित्ये हिरण्मय : पुरुषोदृश्यते, हिरण्यश्मश्रु हिरण्य केश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्ण: " - छन्दो.1.6.6. यह भी अक्षय्यज्योति का सूर्य में प्रतिफलन है ।

प्रगतिबिम्ब ही इस कविता में 'बावरा अहेरी' के बृहत् वेश में सामने आता है ।

" ये मेघ सांसिक सैलानी"[1] शीर्षक कविता में भी इस आन्तरिक आवेग-लय की सूचना प्राप्त होती है । " लोचन - अश्रुत् - प्यासे - भूखे [2] " में मानवचित्त की गहराई में अभिव्यक्ति के लिए आतुर रहनेवाले प्रगतिबिम्बों का आभास मिल जाता है ।

ये प्रगतिबिम्ब चेतन मन के लोप और अचेतन के जागरण की संक्रान्तिवेला में ही साक्षात्कृत होते हैं । पहले सूचित किया गया है (प्रथम खण्ड में) कि कला की सृष्टि न तो पूर्णतः चेतन अवस्था की उपज है, न पूर्णतः अचेतन अवस्था की । सृष्टि के उस निमिष को टी.एस.एलियट ने तीव्रता की बिन्दु (point of intensity)[3] कहकर अनुभूति की तीव्रता की उस अवस्था को व्यक्ति निरपेक्ष - निर्वैयक्तिक ठहराया है । निर्वैयक्तिकता का मतलब चेतन मन से अनुभूति या वृत्ति के अलगाव से है और साथ ही साथ सामूहिक अचेतन के साथ सम्बन्ध से भी । इसप्रकार चेतन और अचेतन के बीच की व्यक्ति अवस्था की संध्या में बाह्य संयोजक वस्तु (objective correlative) में प्रतीकित होकर बाह्यबिम्ब उदित होता है । -

" बबूल रेखा - सी स्मृति की
कभी नभ पार करती चली जाती है,
कभी अंगन में अंकित सद्य जगी मुग्ध शिशु जैसा
स्वतः संपूर्ण,
तारा चमक आता है ।"[4]

---

1. बावरा अहेरी (ये मेघ सांसिक सैलानी) पृ. 22
2. वही वही पृ. 24
3. Herbert Read: True Voice of Feeling. Ch. A Point of Intensity. P. 148
4. बावरा अहेरी (संध्या तारा) पृ.30.

चेतन और अचेतन अवस्थाओं के बीच के अन्तराल की स्थिति स्वप्न की होती है । इस संक्रान्ति समय में अचेतन का क्रियारत होना मनोविज्ञान सिद्ध है । अपने साक्षात्कार के लिए बसित रहनेवाले प्रागैतिहास का मानसलोक में उदित होना सान्ध्य - तारक के उदय में स्पष्ट रूप से अभिव्यंजित है ।

एक अन्य कविता में, तेजपुंज सूर्य को भी पराजित करनेवाले अन्धकार को ललकारते हुए चमकते रहनेवाला शुक्र नक्षत्र चित्रित किया गया है -

" तब
तुम ने सहसा मुझे जगाकर उस अजस्र पराजय की तन्द्रा से
देख मुझे स्थिर आँखों से (बुद्ध - शुक्र - युगल मेरे मानस का)
यही कहा था :
देखो अब भी चमक रहा है तारा ।"[1] यह नक्षत्र स्थिरता और ज्योति का प्रतीक है । यह कवि के मनोनभ में उदित होनेवाली अन्तः ज्योति के स्वारूप का प्रतिरूप है । अतः कवि उसे नमस्कार करते हुए कहते हैं -

" लो प्रणाम, लो तारे,
साँझ के, प्राणों के,
सुनी सन्ध्याओं के एक सहारे ।"[2]

सुनी सन्ध्याओं के सहारे के रूप में चमकनेवाला तारा चेतन और अचेतन मानसिक अवस्थाओं के बीच उत्पन्न होनेवाली स्वप्नावस्था में स्वयं जाग्रत होनेवाले सामूहिक अचेतन के स्थिर बिम्बों की ओर संकेत करता है । 'बुद्ध' और शुक्र प्रागैतिहासों के दो गुणों को प्रकाशित

---

1. बावरा अहेरी (ऊगा तारा) पृ.32.
2. वही वही पृ.32.

करते हैं यथा - प्रातिभज्ञान और स्थिरता । अपने आलोकपूर्ण अस्तित्व से सूनी सन्ध्या को साथ देनेवाला यह स्थिर नक्षत्र कवि पेलिस अपने मानस का सुन्दर - सुख नक्षत्र बन गया है । यहाँ में, कवि अपने अन्तः स्थित स्थिर तत्व - प्रागुक्तियों - को प्रतीकात्मक रूप ही सान्ध्य - तारक में देख लेते हैं ।

आगे, 'देवयानी'[1] नामक कविता में इस आन्तरिक शक्ति के सूक्ष्मतर स्वभाव का और अधिक स्पष्ट परामर्श प्राप्त होता है । वह एकाकारी का भव्य बीज है। यहाँ प्राचीन पश्चिमी दार्शनिकों से प्रयुक्त 'archetypal light'[2] और प्लेटो के आदि रूप सिद्धान्त[3] व्यावृत्य है । 'निर्निमेष स्व स्थिरता'[4] प्रागुक्तियों की आदर्शात्मक स्थिति (ideal state) की ओर संकेत करता है । प्रागुक्तियाँ मूर्त पदार्थ नहीं है जिसका रूप - रस - गन्ध हो । वह स्वायंभुव है । वह कर्मों का आदर्श मात्र है, जीवन का चिरन्तन तत्व है :

" देखो
रूप
नामहीन

---

1. बावरा अहेरी : पृ.36.
2. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 4
3. Plato's Republic; Book X. (And there is another artist .... who is able to make not only vessels of every kind, but plants and animals, himself and all other things - the earth and heaven and the things which are in heaven or under the earth, he makes the gods also ... in one sense there might be a maker of all these things (the universal creator) and in another there is a way in which you could make them all yourself (an extra-ordinary person). P.
4. बावरा अहेरी ('देवयानी') पृ.36.

एक ज्योति
असिता चयता की
ज्वाला
अपराजिता अनावृता ।"[1] प्रागैतिक सत्ता में अपरिमेय अलौकिक सत्ता का प्रतीकात्मक अभिव्यंजन देखनेवाले अध्यात्मवादियों के प्रतीकवाद से अज्ञेय की ये पंक्तियाँ मिल जाती हैं । वस्तुतः एक अर्थ में प्रागैतिक भी कुछ ऐसी अमूर्त सत्ता है जो व्यक्ति के महान व्यापारों को नियमित करती है और उसके सहजावबोधात्मक ज्ञान में - उसकी कृतियों में - प्रतीकित होती है । उपर्युक्त पंक्तियों में प्रागैतिक की रूप - नामहीन आदर्श - अवस्था और अपराजिता अनावृता ज्वाला के रूप में, उसकी रहस्यात्मकता और प्रभाविष्णुता एवं व्यक्ति सत्ता की आन्तरिक महानता के हेतुभूत अन्तःज्योति के रूप में उसकी उत्कृष्टता - सब व्यंजित है । अतः प्रागैतिकीय दृष्टि से 'देवव्रती' विशेष महत्वपूर्ण है ।

सुमन पौधे का कायक्लेश है । पौधे की जड़ों की उपस्थिति ही उसका कारण है । 'हमने पौधे से कहा' में जड़ों के स्वरूप और धर्म का जो वर्णन किया गया है, वह प्रागैतिक की मनोवैज्ञानिक अवधारणा और धर्म से अभिन्न दीखता है ।-

"मिट्टी के नीचे
घुटघुटाते अन्धकार में
पौधे की वह क्रियमाणता थी ।"[2] मिट्टी के नीचे अन्धकार में क्रियमाण रहनेवाली यह जड़ीभूत शक्ति मानव चित्त की अन्धकार पूर्ण अचेतन - भूमि में छटपटा

---

1. बावरा अहेरी (देवव्रती) पृ.36.
2. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये (हमने पौधे से कहा) पृ.86.

सक्रिय स्थिर तत्वों के अलावा और कुछ नहीं है क्योंकि

" पौधे की जड़
सृष्टि शक्ति
आद्यमातृका "[1] है ।

ये दोनों विशेषण 'जड़' प्रतीक में प्रकट प्राक्बिम्बोन्मुखता के निदर्शन हैं । यही नहीं, इन मूल - बिम्बों की देश - कालातिवर्तिता की सूचना भी देकर पौधे की जड़ों को पार्थिव पदार्थ के वर्णन की कोटि से किसी शाश्वत तथा बलवती सत्ता की विभास में पहुँचा देते हैं । यह जड़ नहीं रह जाता है, मानव के अन्तर्निहित समूहावचेतन की सहज सार्वलौकिक शक्ति का प्रतीक है -

" किन्तु हम जो देखते हैं
क्या वह निर्माण था ?
गुणें हम नींव लें
परन्तु
वही क्या सृष्टि है ?
मिट्टी के नीचे
जहाँ एक खुदबुदाता अन्धकार था
. . . . .
(काल की तो सीमा नहीं
देश की अगर हो
हम नहीं जानते :

---

1. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये (हमने पौधे से कहा) पृ.86.

और मेरा दोनों का -
सीमाहीन काल का, व्यासहीन देश का
माटी में रिसता है, मिलता है
सीखता ही रहता है) -
* . . . .
बूंद बूंदों अन्धकार में
पौधे की वह क्रियमाणा थी,
. . . . .
कचरा दो, राख दो, अशुद्ध दो, अनिष्ट दो -
सब तो है सृजन - रस
उसे सब रस है । "[1]

इसप्रकार जीवानुभवों के बाद की ग्रहण की रचना - एवं 'फूलों का सृजन करनेवाले ये मौलिक तत्व 'सीमाहीन काल और व्यासहीन देश' से सम्बन्ध रखता है । अतः व्यक्ति में मिश्रित रहने पर भी व्यक्ति से निर्लिप्त मुक्त है । इसलिए

" पंखुड़ी - सा पंक में
पंक पत्र में सलिल - सा
तुहिन की बूंद में प्रकाश हेम - शिरा - सा
असंपृक्त रहना "[2] उसका स्वभाव है ।

कृतियों में साधारणीकरण का मनोवैज्ञानिक आधार भी यही सिद्ध हुआ है क्योंकि साधारणीकरण

---

1. रघुवंश रोदे हुए ये (हमने पौधे से कहा) पृ.85 - 86.
2. वही वही पृ.87.

अनुभूति की निर्वैयक्तिक अवस्था से सम्बद्ध है । यह निर्वैयक्तिक अवस्था तो व्यक्तिबिम्ब के सामूहिक अचेतन को प्रभावित करती है ।

जीवन के विस्तृत क्षेत्र के विपुल अनुभवों से सामासकृत युग - सत्य की वर्तमान युग की यंत्र - सभ्यता का शिकार असहाय मानव प्राणी है ? उसके साथ कवि का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो गया । इसप्रकार 'व्यक्ति' जब उनका अनुभूति प्रत्यक्ष हो गया तो अर्थ के विलयन की स्थितिअवस्था में कवि की अन्तःसत्ता से उसके तादात्म्य में समय नहीं लगता -

" नभ के तुम कि गुहा - गह्वर के तुम
मोम के तुम, पत्थर के तुम
तुम किसी देवता से नहीं निकले :
तुम मेरे साथ मेरे ही आँसू में गले
मेरे ही रक्त पर पले

अनुभव के दाह पर क्षण क्षण उकसती
मेरी अस्तमित चिता पर
तुम मेरे ही साथ जले ।

तुम - तुम्हें तो
भस्म हो
मैं ने फिर अपनी भभूत में पाया
अंग में रमाया
तभी तो पाया ।"[1] अज्ञेय अपने कवि - सत्य 'व्यक्ति' की और उसके साक्षात्कार की प्रक्रियाओं और उसकी साक्षात्कार से अभिन्न कार्य चित्रित करते हैं । किसी

---

1. हरी घास पर क्षण भर (सत्य तो बहुत मिले) पृ.18.

देवता से न निकलकर, मेरे साथ मेरे ही आँसू में गला मानव कवि के लिए तब सम्भव होता है जब कवि स्वयं भ्रम को - अहं को नष्ट करके - अपने आन्तरिक आलोक को प्रज्वलित कर लेता है । थोड़े में, कविता की अंतिम पंक्तियाँ अर्थमुक्ति के क्षण में जागरित प्राणविश्व के साक्षात्कार की अनुभूति का चित्रण ही प्रस्तुत करती हैं ।

अगर मनुष्य में 'व्यक्ति' के दायरे से परे एक ऐसी मनोभूमि है जो ममेता सखा, क्रियाशील और सर्वसम है, तो यह निश्चित है कि वह 'ममेतर' से सम्बन्ध रहने के लिए उत्कण्ठित हो उठे । वह विश्व बन्धुत्व की सीमा का स्पर्श करने को उद्यत हो जावे । अपनी व्यक्तिगत परिधि को वह बन्धन ही समझेगा । सेतुधर्मिता का आरंभ यहीं से होता है । अज्ञेय का कथन - " मैं सेतु हूँ" अर्थपूर्ण और स्पष्ट हो जाता है । प्राणविश्वों से नियंत्रित प्रतिभा के उन्मेष को अपनी रचनाओं के माध्यम से सामने रखकर मानव की एकात्मता का समर्थन करनेवाले कवि की सेतुधर्मिता की चेतना में प्राणविश्व ही स्वयं बोल उठता है -

" मैं सेतु हूँ
. . .
वह सेतु
जो हृदय से हृदय को
क्रम की शिखा से क्रम की शिखा को
कल्पना के पंख से कल्पना के पंख को
[illegible] के किरण को
अनुभव के लोक से अनुभव के लोक को मिलाता है,
जो मानव को एक करता है ।"[1] कलाकार का धर्म यह है अवश्य ।

---

1. सन्दर्भ बन गीत हूँ ये (मैं वर्षा हूँ) पृ.21 - 22.

वह अपनी रचना से मानव में निहित स्वतंत्रता के आधार की वेध बनाये । अतः यह कविता " मैं वही हूँ" के द्वारा कवि की वाणी में प्रगतिवाद ही स्वर बोल उठता है ।

सागर के झाग से उछलकर बूँद अरुण सूर्य की लालिमा में क्षण भर राग रंजित होकर चमक उठती है । बूँद के चमकीले क्षण में कवि नश्वरता से मुक्ति का रहस्य यों देख लेता है -

" हर आलोक कुआ अपनापन
है उन्मीलन
नश्वरता के दाग से ।"[1]

यहाँ बूँद की आलोकित अवस्था जीवन की अनश्वर घड़ी का प्रतीक है । यह अनुभूति का क्षण है । अनुभव सत्य अथवा वस्तुगत सत्य (objective reality) से गठित संवेदना जब अंतस के 'निर्मम' रागात्मक प्रगतिवाद को समर्पित हो जाती है तो वह आत्मसत्य (subjective reality) आलोक - कुआ अपनापन अथवा अनुभूति का रूप ले लेती है । मृण्मयता की नश्वरता के परे मानव की उसकी अमरता और स्वतंत्रता से अभिज्ञ करानेवाले प्रगतिवाद का साक्षात्कार - प्रतीकात्मक रूप में सही - मानव की अनुभूति[2] - उसे अनश्वरता का क्षण प्रदान करता है ।
जब कवि कहते हैं

मैं ने देखा
एक बूँद सहसा
उछली सागर के झाग से
रंग गई क्षण भर

---

1. अरी ओ करुणा प्रभामय (मैं ने देखा - एक बूँद) पृ.140.
2. आत्मनेपद पृ० 169

ढलते सूरज की आग से ।"[1] तब ये इस प्रागबिम्ब के आन्तरिक आलोक से दीप्त अनुभूति के क्षण को ही सूचित करते हैं ।

बस और अचेतन का मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध इस कविता में ध्यान देने योग्य है । अचेतन का प्रमुख प्रतीक है जल ।[2] सागर के झाग से उछलनेवाली बूंद अचेतन - जन्य वस्तु को सूचित करती है । यह सागर फेनिल भी है । तब यह वस्तु अशान्त सागर अर्थात् अन्तर्लोक की विवश और आकुल स्थिति की उपज है । कवि के अन्तर्लोक को विवश करनेवाली चीज़ उसका कथ्य है । अनुभूति प्रत्यक्ष है । वह चेतन मन की चीज़ नहीं । वह चेतन के परे के संवेदन के सूक्ष्मतर पक्ष से सम्बद्ध है । एक अर्थ में वह अचेतन से सम्बद्ध है या बौद्धिक स्तर से भिन्न है । वह अनुभूति - प्रत्यक्ष की बूंद 'ढलते सूरज की आग' से रंग जाती है । चेतन के मन्द पड़ने और अचेतन के जाग्रत हो जाने - चेतना चेतन - के बीच की सन्धिस्थ तन्द्रावस्था की सन्ध्या में अचेतन के सागर के अन्तिम छोर पर, सतह पर स्थित, सागराभिमुखी सूर्य की रागात्मक कान्ति से उस अनुभूति - प्रत्यक्ष को नियत, जीवन्त और आलोकमय रूप प्राप्त हो जाता है । इसप्रकार आलोकित अनुभूति की बिन्दु, उसके माध्यम से साक्षात्कृत मूल बिम्ब व्यक्ति को अमृत - स्नात करा देता है । 'सहसा' शब्द का भी इस सन्दर्भ में विशेष महत्व है । प्रागबिम्ब का जागरण चेतन मन या इच्छा शक्ति से नियन्त्रित नहीं है । वह सहज और अप्रत्याशित ढंग से सुघटित होता है । सहजावबोध की अयुक्तिकता की युक्ति सहजा प्रागबिम्ब की स्वेच्छाचारिता से समर्थित है । वह स्वयं चालित है और स्वयंसिद्ध है ।

'विदेही स्निग्ध बाहों से'[3] देवता का आलिंगन करनेवाली भुज - बल्लियों से हीन अवस्था में अपने को पाकर तज्जनित दुःख को कवि ईश्वर के सामने प्रकट करते हैं ।

---

1. अरी ओ करुणा प्रभामय (मैं ने देखा : एक बूंद) पृ.140.
2. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 18

आत्म - निवेदन के उन शब्दों में ईश्वर की अप्राप्यता के साथ प्राणप्रिय की असाध्य-स्थिति की व्यंजना भी स्पष्ट है -

" मैं स्वयं तुम तक पहुँच सकता नहीं,
पर भाव के कितने न जाने सेतु अनुक्षण बाँधता हूँ । "[1]

ईश्वर अभीतक पूर्णतः अकाश नहीं हो पाया है । वह रहस्यात्मक सत्ता है । जिस किसी को उसका साक्षात्कार हुआ है, वह भी उसका अभिव्यंजन पूर्ण रूप से कर नहीं पाया है । उस रहस्यमय सत्ता की अस्पष्टता ने साधक को नाना प्रकार से उसे भाव-संवलित करने का बाध्य किया है । प्राणप्रिय की स्थिति भी कुछ भिन्न नहीं है । मानव मन के निगूढ गहराँ में अदृश्य रहनेवाली यह आदर्शात्मक सत्ता किसी खेमिर, किसी माध्यम खेमिर सुगम नहीं हुई है । इसलिए इसके अधूरे प्रतीकात्मक साक्षात्कार ने कवि - कार को उसके सम्बन्ध में नाना प्रकार के भावों को गठित करने की विवश किया है । इस प्राणप्रिय के अनेक प्रतीकों की विद्यमानता यहाँ ध्यान देने योग्य है । ऐसे इन पंक्तियों में आदर्शात्मक की रहस्यात्मक प्रकृति का संकेत मिल जाता है ।

एक और स्थान पर सामूहिक अचेतन की अन्तः सलिला का चित्रण इन पंक्तियों में बिलकुल अलौकिक पूर्वक ही पाया है -

" एक नीरव नदी बहती जा रही थी,
बुलबुले उसमें उमड़ते थे
रह : संकेत से । "[2]

---

3. स्फुलिंग रोते हुए ये (कुछ - कविताएँ) : पृ.74.
1. वही वही : पृ.74.
2. अरी ओ करुणा प्रभामय (इसारे जिन्दगी के) पृ.32.

यह नीरव नदी, निस्संदेह, युगों से प्रतिमाजित मरुसर सध्या (तरंगहीन मृत सरध्या) - ripple-dead river bed) ही है । उसमें रह रहकर बन जाने की, अज्ञात घड़ी में, अज्ञात स्थानों से बिम्ब उद्वेलित हो जाते हैं, पानी में बुलबुले की तरह । बिम्बों का उमड़न निश्चित ही व्यक्ति के अन्तरंग को हर्षपुलकित कर डालता है, उसे अपनी आन्तरिक महिमा से अवगत करा देता है । उस स्थिति का नष्ट होना फिर से चेतन के घेरे में व्यक्तित्व का बंध जाना उसे दर्दनाक बन जाता है । -

" हर उमड़ने पर हमें रोमांच होता था
फूटना हर बुल बुले का हमें तीखा दर्द होता था ।[1] "

मन की गहराई की रहस्यपूर्ण कन्दरा में प्रागुबिम्बों की विद्यमानता, उनके जागरण से प्रतिबिम्बित से व्यक्ति की अनुभूत आनन्द और उसके विलयन में प्राप्त वियोग व्यथा - सब प्रस्तुत काव्यांश में चित्रित हुए हैं ।

(जीवन चेतना) - जीवन की स्वाभाविक गति चेतना बन निगूढ़ सत्यों की ओर संकेत करती है । मानव की सारी महान उपलब्धियाँ उनके पीछे की शक्ति को सूचित करती है । अतः नाम रूपात्मक जगत छिपे सत्य की ओर - स्थूल सत्य के पीछे के सूक्ष्म सत्य की ओर इशारा करता है -

जिन्दगी बढ़ती रही
नीड़ बनते
हम पकड़ते रहे रूपाकार को
किन्तु रूपाकार

---

१. अरी ओ करुणा प्रभामय (इशारे जिन्दगी के) पृ.३२.

चोला है
किसी संकेत शब्दातीत का
जिन्दगी के किसी गहरे रहस्य का ।"[1]

प्रागुक्तिम्ब की प्रतीकोन्मुखता इसमें भली - भाँति स्पष्ट है । शब्दातीत अर्थ को - जिस अर्थ को समा लेने में शब्द असमर्थ रह जाता है - बाह्य वस्तुओं में आरोपित करके व्यक्त किया जाता है । प्रागुक्तिम्ब अपनी रहस्योन्मुखता के कारण शब्दातीत है, माध्यमों के परे की भावस्थिति है, महाभावानुभूति है । वह प्रतीकों को स्वीकार करता है । तत्कारण प्रागुक्तिम्ब - संवलित प्रतीक भी एक हद तक रहस्यात्मक है । प्रागुक्तिम्ब की शब्दातीतता और प्रतीकोन्मुखता, जो कवि का संवेदनशील हृदय अनुभव करता है, अनजाने ही उपर्युक्त पंक्तियों में प्रकट होती है ।

" उजली मछली
मानो पानी का अन्तराग ही
काँप गया हो ।"[2] में पानी में तिरती मछली के साधारण वस्तुगत चित्रण से परे, इन चिरन्तन आद्यबिम्बों का मनोवैज्ञानिक महत्व भी दर्शाया गया है । मनोविज्ञान में पानी मन का, विशेषकर अचेतन मन का प्रतीक है । मछली चेतन मन के परे, प्रत्यभिज्ञान के माध्यम से ही अनुभूयमान सूक्ष्मतम आन्तरिक जीवन - तत्व है । अतः पानी में उजली मछली समूचाचेतन में बहता तैरनेवाला प्रागुक्तिम्ब ही ठहरता है ।

जैसे मछली की सक्रिय विद्यमानता पानी के आन्तरिक महत्व को प्रकट करती है, वैसे प्रागुक्तिम्ब के सान्निध्य के कारण ही मानव की अन्तश्चेतना विशेष गौरव

---

1. अरी ओ करुणा प्रभामय (ज्यारी जिन्दगी वे) पृ.35.
2. अरी ओ करुणा प्रभामय (मछली) पृ.108.

प्राप्त कर सकी है । ये प्रातन बिम्ब ही सामूहिक अचेतन के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं । युंग ने भी सामूहिक अचेतन की परिकल्पना इसलिए की कि अचेतन के साधारण स्तर से अलग, एक मानसिक पक्ष की विद्यमानता सिद्ध करनेवाले प्रातिभ - ज्ञान गम्य, तर्कातीत सार्वभौमिक एवं सार्वजनीन विशेषताओं की जीवन्त उपस्थिति उन्हें लगातार महसूस हुई ।[1] इस दृष्टि से उपर्युक्त कविता सामूहिक अचेतन के प्रारूपिकों के सत्वर जागरण और उससे उद्भासित अचेतन को प्रतीकात्मक रूप में चित्रित करती है ।

प्रारूपिक्य जीवन का परम तत्व है । जिजीविषा के मूल में यह आन्तरिक तत्व ही सक्रिय है ।[2] अर्थात् जीवन का आन्तरिक पक्ष प्रारूपिक्य से ही गठित है । मानव का व्यक्तित्व इस आन्तरिक जीवन से सम्बन्धित होकर विकास पाता है । विशेष कर, कवि प्रतिभा पर आधारित अपने आन्तरिक जीवन के उत्कर्ष में ही अपने अस्तित्व कृतार्थता अनुभव करता है । प्रतिभा का उन्मेष प्रारूपिक्य के उद्रेक पर आश्रित रहता है । अतः परम सत्ता के सामने कवि जो आत्मनिवेदन करता है, वह कवि की अन्तः स्थित अनादि सत्ता का बोध कराती है -

> " फोड़ फोड़ कर जितने को तेरी प्रतिभा
> मेरी अनजाने, अनपहचाने
> अंकुर उपजाती है
> बस, उतना मैं खेत हूँ ।[3] "

---

1. C.G.Jung. Collected Works. Vol.7. P. 108
   (Also, Archetypes and the Collective Unconscious. P. 118
   Psychological Types. P. 508

2. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 13

3. अज्ञेय के पार द्वार : (चक्रान्तशिला 8) पृ.47.

स्पष्टतः कवि के अन्दर उसके अनजाने, अन पहचाने सृजनशक्ति को अंकुरित कर देने-वाली वह अनादि सत्ता चिंवर प्रवहमान - जन्म जात - प्रागैतिह्य है ।

यही कारण है कि कवि अपने चेतन मन के बन्द द्वार के आगे के द्वार की ओर ताकता रहता है । इस दूसरे द्वार के खुल जाने पर ही, अचेतन के उन्मुक्त हो जाने पर ही अन्तर्दीप्ति - प्रागैतिह्यीय आलोक - फूट निकलेगी -

" द्वार के आगे
और द्वार
यह नहीं कुछ अवश्य
है उनके पार
किन्तु हर बार
मिलेगा आलोक
झरेगी रस - धार "।

जगत और जीवन के परे के आध्यात्मिक क्षेत्र के द्वार के खुल जाने पर समरसता की भूमि में खड़े होनेवाले साधक को संप्राप्त आत्म ज्ञान - परमानन्द की रसधारा को प्रस्तुत कर देता है । इसप्रकार की अनुभूति की तीव्रता में - तल्लीनता की स्थिति में सामूहिक अचेतन के द्वार के खुल जाने पर मानव को अपनी सच्ची आत्मवत्ता का साक्षात्कार हो जाता है, वह मानवमात्र की एकता का ज्ञान प्राप्त कर लेता है । महा मानव सत्ता से साक्षात्कार प्राप्त करने पर वह परितृप्त होता है और परमानन्द की रस धारा में आमग्न होते है । अपने अन्दर की महामानव सत्ता की शक्ति से प्रेरित होकर ही कलाकार

---

१. अरी ओ करुणा प्रभामय (द्वारहीन द्वार) पृ.१५।
२.

कृतियों की रचना कराता है ।[1] उच्चतम कवितायें एक ही समय परम सत्ता और प्रज्ञाविम्ब दोनों को सूचित ही नहीं करता, बल्कि उसमें प्रत्येक शब्द प्रज्ञाविम्ब की स्थिति और प्रवृत्ति पर प्रकाश डालता भी है ।

'बार के आगे बार' चेतन के और बार के आगे के अचेतन में छुपने वाले बार को सूचित करता है । यह नहीं कुछ अवश्य है उनके पार ' में प्रज्ञाविम्ब की अमूर्त तात्त्विक स्थिति सूचित की गयी है ।[2] साथ ही, किन्तु हर बार मिलेगा आलोक, जीगी रस धार" के द्वारा प्रज्ञाविम्ब के जागरण से प्राप्त प्रतिभा के आलोकित चित्त[3] में अनुभूत रसानुभूति का उल्लेख मिलता है ।

असाध्य वीणा को साधने के बाद प्रियंवद राजा से कहते हैं :-

" श्रेय नहीं कुछ मेरा :
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में -
वीणा के माध्यम से अपने को मैं ने
सब कुछ को सौंप दिया था -
सुना आपने जो वह मेरा नहीं,
न वीणा का था :

---

1. Modern Man in Search of a Soul. P. 181-182
   Shaping - reshaping -
   The eternal spirits' eternal past time - Goethe, quoted by Jung in Psychology and Literature - Modern Man in Search of a Soul. P. 181
2. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 5
   (The archetype as such is a hypothetical and irrepresentable model). Also, 'The contentless and therefore unrepresentable archetype is paramount in the mind that thinks abstractly'.- Psychological Types. P. 378
3. Psychological Types. P. 378-379

वह सी सब कुछ की सत्ता की
महा शून्य
वह महा मौन
अविभाज्य, अनादि, अद्वैत, अप्रमेय
जीवंत सीमा है
सब में गाता है ।"[1]

प्रियंवद के इन शब्दों में कलाकार की प्रतिभा की प्राणजिज्ञीयता स्पष्ट रूप में विदित होती है । कला के पारखी, और मानव चित्त के मर्मज्ञ मनीषी प्रियंवद अपनी कलात्मक सिद्धि का श्रेय ' सब में गानेवाले' अर्थात 'महामौन' एवं महाशून्य चिरंतन तत्व को देते हैं, जिसकी वीणा के माध्यम से अहं मुक्त अवस्था में (मैं सी डूब गया था, स्वयं शून्य में) आत्म समर्पण के द्वारा अपने अन्दर से जगा रहे थे । अहं के विलयन की स्थिति में वे अपने संग्रहशील सामूहिक अचेतन पक्षु का सिंहद्वार खोल रहे थे । उन निमिषों में प्रियंवद नहीं रहे । उनके अन्दर के महामानव का साक्षात्कार हो रहा था । " वीणा के माध्यम से अपने को मैं ने सब कुछ को सौंप दिया था " - इस उक्ति में यह सत्य व्यंजित है कि प्रियंवद वीणा वादन के द्वारा अपने अहं मुक्त अंतः सत्ता का उद्घाटन एवं विस्तार कर रहे थे ।

सामूहिक अचेतन और मूलबिम्बों की विशेषताओं और प्रवृत्ति की प्रकट करनेवाली और भी अन्य कविताएँ 'अग्नि के पार द्वार' संग्रह में उपलब्ध है । 'अन्तः सलिला' उनमें से एक है ।

" . . . . अन्तर्निहित लहरिला
मगर छिटूट

---

1. अग्नि के पार द्वार : (असाध्यवीणा) - पृ.87.

सूखी रेत का विस्तार -
नदी जिस में खो गयी
दूराकार " [1] कहकर, यह कविता मानव के उस सीमहीन सामान्य मानसिक पक्ष और उसमें छिपे प्रागैतिहास रूपी ग्रसित ऊर्जा - बिन्दु को प्रकाशित करती है । ध्यान देने योग्य है कि युंग ने सामूहिक अचेतन की मूलतारंग नदीशय्या कहा है ।[2] समान अनुभव की बार - बार आवृत्ति से मन में जम जानेवाले कर्ममूलक संस्कारों के अचेतन की अतल गहराई में प्रविष्ट हो जाने की सूचना 'नदी जिस में खो गई धूल-धार' में प्राप्त होती है । 'लेकिन' रेत का यह विस्तार ' हमेशा केलिए सूख गया नहीं । फावड़े कि उसमें जहाँ और जब चोट लगायी जाती है यह अन्तर्धारा उभरकर उसे नम बना देती है । [illegible] आद्याकिंचित् - की अन्तःसलिला भी किसी भी समय बाह्य संवेदनों के फलस्वरूप समूहावचेतन की सतह पर प्रवाहित हो जाती है -

" किन्तु जब - जब जहाँ भी जिसने कुरेदा
नमी पायी : और खोदा -
हुआ रस - संचार ।"[3]

इसप्रकार

" वस्तु तत्व के बन्धन से छुटकारे के
जो विलक्षण संकेत
जो आत्म - सत्य के मुकुर
प्रतीकों के निर्देशार्थ ।[4] " वाली परमसत्य के प्रति उद्गारों में भी

---

1. अगिन के पार द्वार (अन्तः सलिला) पृ.34.
2. Psychological Types. P. 378
3. अगिन के पार द्वार (अन्तः सलिला) पृ.34.
4. अगिन के पार द्वार (चक्रान्तशिला 22) पृ.65.

प्राणस्थितीय ध्वनि गुंजार रहती है ।

'चक्रान्त शिला' की पच्चीसवीं कविता में,

"अपने भीतर
गहरे में मैं ने पहचान लिया
है यही ठीक । सागर की गति रहे,
धरा की मौन
यही सम्यक्स्थिति है ।"[1]

से द्वारा चेतन मन की धरा के मौन होने पर अचेतन के सागर के संगीत की चेतना को अपने भीतर गहराई में अनुभव करने की अनुभूति भी प्राणस्थिति - जागरण के अतीव-पूर्व अनुभव लगता है ।

रात के अकेले अन्धकार में कवि से बातें करने वाला अथ वह अनदेखा अरूप इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है । वह उनके चित्त के अन्धकार पूर्ण अवचेतन पक्ष के अज्ञात शिखर तत्व है जो स्वप्न की एकांतता में जाग पड़ता है । कवि के अन्तरंग का गुहावासी 'अज्ञातवय कुल शील मीत' ही है । वह अनदेखा है । अरूप है, फिर भी प्रभावशाली है । -

" रात के अकेले अन्धकार में
सपने से जागा जिस में
एक अनदेखे अरूप ने पुकार कर
मुझ से पूछा था : " क्यों री,
तुम्हारे इस जीवन के

---

1. अगिन के पार द्वार (चक्रान्त शिला 25) पृ.69.

इतने विविध अनुभव है
इतने तुम धनी हो,
तो मुझे थोड़ा प्यार दोगी उधार किसी से
सौ - गुने सूद के साथ लौटाऊँगा - "[1]

यहाँ कवि के शब्दों में उनकी अन्तः सत्ता ही बोल रही है । मानव को धरती से, जीवन से, समाज से अपनेपन के साथ जुड़े रहनेवाला तत्व यह तत्व है, प्राणशक्ति है। यही रागात्मक चेतना का आधार है । प्राप्त प्यार को सौ गुने सूद के साथ लौटा देने-वाले जीवन को साकार बनानेवाले - उस गहनतम वस्तु का जागरण बचपन से ही प्यार के लिए तरसनेवाले कवि की एकाकिता और जीवन के प्रति आत्मकेन्द्रिकता से मुक्त रखने और पूर्णतः जीवन और समाज से सम्बन्धित रखने का अलौकिकपूर्ण आन्तरिक व्यापार ही समझना चाहिए । इसप्रकार समूहचेतना के उस ममेतर वस्तु का साक्षात्कार सुझा देता है

" जो मेरा है, वही ममेतर है ।"[2] जीवन की मौलिक प्रेरणा के रूप में प्राणशक्तीय तत्व का अलौकिकपूर्वक साक्षात्कार इस कविता में व्यंजित मिलता है ।

निरंतर अन्वेषण के अन्त में आत्म - सत्य की प्राप्ति पर कवि उसकी पहिचान कर लेते हैं -

" ओ मेरी छोटी सी ज्योति !
कभी कुहा में तुम्हें न देखता भी
पर कुहरे की ही छोटी सी रुपहली छलना में
पहचानता हुआ तुम्हारा ही प्रभामण्डल

---

1. कितनी नावों में कितनी बार (उधार) पृ.2.
2. वही पृ.2.

कितनी बार मैं
धीर, आश्वस्त, अक्लान्त -
ओ मेरी अनबुझे सत्य ! कितनी बार ।"[1]

यह अनबुझा सत्य, कोई बाह्य ठोस तथ्य नहीं है । वह चिरन्तन आत्म ज्योति है। वह प्रातिभज्ञान सिद्ध मनस्तत्व है । कवि की अन्तर्दृष्टा में छिपा गुप्त प्रकाश है जिससे कवि परिचालित है, नियन्त्रित है । कवि की अनुभूतियों और कल्पनाओं को रूपायित करनेवाली शक्ति भी वह है ।[2] कवि चित्त को उन्मथित, और उद्वेलित करने-वाली संवेदनाओं से उसे मुक्त करके धीर, और आश्वास करनेवाला प्रकाशपुंज है ।[3] इस अनबुझे - चिरंतन - मनस्तत्व के साक्षात्कार में कवि-कर्म अथवा काव्य साधना चरितार्थ होती है ।[4] स्पष्ट है कि कवि का पहचाना हुआ आत्म सत्य प्रकृतिदत्तीय अमूर्त स्वभाव प्रकट करता है ।

कृतित्व की प्रगति की या रचना - कर्म की

" अनजानी दूर की ओर
भरी मन में उत्साह अतर्वित निराधार "[5] कहनेवाले अज्ञेय की शब्दावली में प्रतिभा के उन्मेष की आकस्मिकता और लक्ष्य की अज्ञेयता व्यंजित है । ये दोनों बातें सचेष्टया जाग्रत होकर कृतियों में क्रम क्रम में साक्षात्कृत होनेवाले प्रकृतिदत्तीय की निजी विशेषताओं को भी अनावृत करती है ।

---

1. कितनी नावों में कितनी बार (कितनी नावों में कितनी बार) पृ.8.
2. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 7
3. Modern Man in Search of a Soul. P. 1
4. Erich Neumann: Art and the Creative Unconscious. (Trans. Ralph Manheim, Routledge and Kegan Paul, London), P. 82. Also Modern Man in Search of a Soul. P. 1
5. कितनी नावों में कितनी बार (सम्राट) पृ.90.

मैं नहीं गीत गाता, गीत मुझ में गाया जाता है,
जिसके साथ मैं नहीं सकता तानपूरा, मेरे हाथों
यह सजाया जाता है ।"[1] कहकर कवि कविता से कवि की तटस्थता व्यक्त करता है । उसमें यह भी संगुम्फित है कि कवि के अन्दर एक गायक छिपा रहता है । वह जो कवि के अन्तरतम में निहित है, स्वयं अपना आलाप करता है । कविता का कवि से जन्य - जनक सम्बन्ध नहीं है । जनक तो कवि के अन्तस का प्रागैतिहास है ।[2] कविता के माध्यम से वह अभिव्यक्त होता है ।[3] कवि केवल साधन मात्र है । प्रागैतिहास सम्बन्धी अवधारणा और कविता के साथ उसके सम्बन्ध की दृष्टि से कवि के ये वचन महत्वपूर्ण हैं । कवि में परम्परा की आधार भूमि वर्तमान है । कृतिकार के कृतित्व का विकास उसकी परम्परा में अन्तर्भूत होकर ही संभव है । यह परम्परा सामूहिक अचेतन के प्रागैतिहासिक तथ्यों पर आधारित है, उससे विकसित सांस्कृतिक धारा से सम्बद्ध है ।[4] इसप्रकार, कला और परम्परा के आधार की एकता कलाकार को सांस्कृतिक परम्परा का संवाहक बनाती है, कला परम्परा से जन्म लेने-वाली है । कविता या कला की स्वयंभू स्थिति - कलाकार की तटस्थता और कला की परम्परा युक्ति[5] जो अज्ञेय के चिंतन और अनुभूतियों में संकेतित है, प्रागैतिहासिक स्वभाव को प्रकट करती है ।

प्रागैतिहास को मानव मात्र की एकात्मकता का तथ्य अनुभव करते हुए कवि कहते हैं -

---

1. कोकि मैं उसे जानता हूँ (कविता : शं॰ ॰ ॰) पृ. 3
2. Modern Man in Search of a Soul. P. 197
3. Art and the Creative Unconscious. P. 82
4. Modern Man in Search of a Soul. P. 195
5. आत्मनेपद : ('मैं क्यों लिखता हूँ' लेख देखिए) पृ. 236-37.

" मुझ की ओर मुझ की ओर मुझ की
कहीं मुझ से जोड़ दो ।"[1]

सागर से कवि का यह अनुरोध है । सागर का संबोधित करते हुए कवि स्वयं अपने अचेतन से ही बातें करते हैं क्योंकि जैसे पहले दिखाया गया, सागर, पानी आदि अचेतन का प्रतीक है । वस्तुतः आन्दोलित सागर पर कवि के सृजनात्मक अचेतन का आरोप ही हुआ है । यह मानव की अस्मिता का भेद कर अपनी नियंत्रित सामान्य आन्तरिक सत्ता (अचेतन) से मानव को साक्षात् करा देता है, 'मुझ' (ममेतर) के अन्तर् से उसका सम्बन्ध स्थापित करके उसे पार्थिवता की नश्वरता से मुक्ति और मुक्ति के शुद्धिपन की प्राप्ति का अधिकारी बनाता है ।
कवि की प्रार्थना में -

" यों मत मुझे छोड़ दो, मुझे, सागर,
कहीं मुझे तोड़ दो सागर,
कहीं मुझे तोड़ दो ।"[2] इस मुक्ति की तीव्राभिलाषा प्रकट है ।

कवि से वर्णित सागर में सामूहिक अचेतन की पहचान कैसे लक्षित है, देखने लायक है-

"जहाँ घरा और आकाश मिलते हैं
जहाँ देश और वक्ष
जहाँ सागर तल की मछली
लपटाकर उसका वायु मचलती है ।"[3]

---

1. सागर मुद्रा (सागर मुद्रा 8) पृ.77.
2. वही पृ.77.
3. पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ (सागर मुद्रा 12) पृ.25.

सागर में तिरती मछली छटपटाकर जब सतह पर आ जाती है तो सागर की आन्तरिकता छलक जाती है । मछली की स्पन्दनयुक्त गोचरता सागर की पहचान है, सागर के अन्तः स्पन्दन का दृष्टान्त है । धरा और आकाश की मिलन बिन्दु में जहाँ देश व काल की सीमारेखाएँ लुप्त हो जाती हैं, उछल आनेवाली मछली से अपने अस्तित्व को प्रमाणित करनेवाला यह सागर देश काल निरपेक्षतया मानवमात्र में वर्तमान रहनेवाले सामूहिक अचेतन एवं सर्वनामक मानसिक पदार्थ[1] का प्रतीक है । अचेतन के उस सागर में, चेतन और अचेतन के बीच की स्पन्दित मिलन - बिन्दु पर जीवन्तता में साक्षात्कृत हो जाने जैसे झटपटाकर ऊपर आनेवाले प्रागैतिह्य अथवा प्रातन भाव[2] ही मछली में प्रतीकित हुए हैं । यही नहीं, जैसे मछली में सागर की पहचान प्राप्त होती है, वैसे, मूलबिम्ब में सामूहिक अचेतन का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

अचेतन की यह गहरी स्वयं कुछ कहती नहीं । वह वाचाल नहीं, वह मौन मुखरित है, उसकी भाषा ही मौन है । मौन की गंभीरता उसकी वाचालता है । वाचाल रहने के बदले वह क्रियाशील है । हमेशा अभिव्यक्त होने की, स्वयं साक्षात्कृत होने की आतुर रहता है -" सागर, तुम कुछ कहना नहीं चाहते तुम होना चाहते हो ।"[3] अपनी भाव गंभीरता शब्दों में बाँध नहीं सकती, वह जानता, अतः वह स्वयं बाह्य वस्तुओं में प्रतीकित होकर अपनी सत्ता को व्यक्त करता है । अथवा वह विशेष भाषा का सहारा लेकर प्रतीकात्मक रूप में चेतन को संबोध होता है, फिर भी सागर की गहराई कैसे पूर्णतः आँक सकता है ? सृष्टि के आदि - प्रीत के रूप में प्रागैतिह्य और समूहावचेतन सागर में इसप्रकार प्रतीकित होता है -

---

1. Psychological Types. P. 211
   Modern Man in Search of a Soul. P. 197
2. Ibid. P. 177,183
   Also, Art and the Creative Unconscious. P. 94

3. पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ : (सागर मुद्रा 12) पृ.26.

" तू क्या सदा से केवल भाप से जमता हुआ जल का कोष रहा ?
तू क्या अग्नि की, लपटों की, धुएँ की, प्रकाश के रश्मियों की
अनि देवत्व की योनि,
कभी न था, न था ? "[1]

यह सागर वह आभ्यंतर पदार्थ है जो अनादिकाल से सृजन - शक्ति प्रीत रहा है। वह " भावविराशि-जननान्तर सौहृदानि " का दुर्लभ कोष है। सब प्रकार के ज्ञान - विज्ञान की रहस्यपूर्ण आकर है।[2] वह कृतियों का प्रारूप है, आदर्शरूप है, उसी की सृष्टि का आरंभ होता है। मनुष्य के अमरत्व का रहस्य इसी में है -

" सागर, ओ आदिम रस जिसमें समस्त रूपाकार
अपने को रचते हैं,
जिसमें जीवन आकार लेता है, बढ़ता है, बदलता है,
ओ, सागर, कालधाराओं के संगम,
काल - बाघ के उत्स, कालमेघ के नीलाकाश,
काल - विस्फोट की प्रयोग भूमि,
सागर ओ जीवद्रव, वाड्मय,
ओ विकसित प्राण, ओ मार्दव,
आदिम जीवन कर्दम,
ओ आलोक कमल। "[3]

सागर की ओर आत्मिमुख में मरण और प्रलय दोनों है। व्यक्तित्व का नाश मरण का सूचक है तब कि अहं - नाश से व्यक्ति अपनी आत्मारिक सत्ता को प्राप्त करता है -

---

1. पहले मैं सम्राट सुनता हूँ : ('सागर मुद्रा 12') पृ.27.
2. Modern Man in Search of a Soul. P. 175
3. पहले मैं सम्राट सुनता हूँ : (सागर मुद्रा 14) पृ.30.

मनेतर का साक्षात्कार कर लेता है -

" सागर की प्रेम करना
मानव की प्रबल कामना है । "[1]

कला में, सृष्टि के निमिष में साक्षात्कार मानव और मानव दोनों की प्राप्ति होती है ।

काव्य रचना की - कैसे कविता जन्म लेती है, इसकी व्याख्या करते हुए कवि अज्ञेय का कथन है कि वे शब्दावली के माध्यम से जो करते हैं, वह सन्नाटे का जाल बुनने का परिश्रम है । जिस रस - सिक्त तार के सहारे वे यह जाल बुनते हैं, उससे वे बाल जयी हो जाते हैं, मर्मता से मुक्त हो जाते हैं । इस जाल की और एक विशेषता यह है कि बुननेवाले को इसका पता नहीं कि जाल का अन्तिम रूप क्या रहेगा । कारण कि कृति रूपी उस जाल का निर्माता कृतिकार नहीं, कृतिकार में निहित कुछ और निर्वैयक्तिक तत्व ही उसका नियामक है, अतः द्रष्टा भी । कवि इस स्थिति में एक तटस्थ निर्मम कार्यकर्ता मात्र है जिसकी अन्तश्चेतना उस जाल में घिरी रह जाती है । कृति में सन्निविष्ट होनेवाला वह व्यक्तित्व तो कवि का कुछ व्यक्तिगत चीज़ भी नहीं । परिणाम - अपूर्व रचना प्रक्रिया के अन्त में कवि का व्यक्तिगत पक्ष कृति के बाहर रह लेता है । कविता में केवल कवि के अन्तर्भूत मौन - सन्नाटा - प्रतीकात्मक रूप में गूंज जाता है । यह मौन, कहने की आवश्यकता नहीं, प्राणवन्त है ।[2]

---

1. पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ (सागर मुद्रा 12) पृ.28.
2. Cf. Modern Man in Search of a Soul, Ch. VIII, Psychology and Literature. pp. 175-199.
Also, T.S.Eliot's 'Impersonal art'

सृजन के निमिष कवि की तटस्थता अज्ञेय भी स्वीकार करते हैं ।
(दे. आत्मनेपद ' अर्ह का क्लियन ' लेख)

रचना की आन्तरिक अभिव्यक्ति, उस समय कवि की अस्थिरता का नाश, निर्वैयक्तिक अन्तश्चेतना का जागरण, रचना में उसका साक्षात्कार, और कवि की तटस्थता आदि मनोव्यापारों का विवरण तत्वतः प्रागुक्तीय दृष्टि का परिचायक है ।

थोड़े में, काव्य - रचना के पीछे का आन्तरिक मौलिक तत्व - सन्नाटा, कवि के अन्दर स्थित रहनेवाले अव्याख्येय स्थिर बिम्ब की आनुभूतिपूर्ण स्थिति है । उसका अवीक्षपूर्वक और प्रतीकात्मक अभिव्यंजन ही कला के मूल में लक्षित है । कलाकार की मध्यवर्तिता इस अवीक्षात्मक मानसिक तत्व की निर्वैयक्तिकता पर आधारित है । और यह तटस्थता 'एक सन्नाटा बुनता हूँ' कविता में स्पष्ट भी की गई है । प्रत्येक कविता अनुभूतियों की पूर्णाभिव्यक्ति चाहती है । लेकिन प्रागुक्तीय के रहस्यात्मक तत्वों के संयोग से रहस्यात्मक पुट अपनानेवाली अनुभूतियों का पूर्णाभिव्यंजन मुश्किल - असंभव है ।[1] यही कारण है कि मौन में ही अनुभूति की तीव्रता बनी रहती है । - "अंतिम उक्ति मौन" है ।

माध्यम मुक्त स्थिति में ही उक्ति तीव्रतम रहती है । इस तीव्रतम अनुभूति की सम्पृक्त स्थिति है सन्नाटा, जिसमें प्रागुक्तीय की उद्दिश्यावस्था ही प्रबल होती है । उसकी प्रबलता माध्यम में अपने को बाँध लेने वाले कलाकार को काव्य - विवश - करती है । कवि कविता के शब्द - जाल में, स्वर - तंतु में अपने अंदर इसप्रकार जाग पड़े मौन को फँसा लेता है, एक हद तक । श्रोता में प्रतीकित होकर अभिव्यक्ति पाता है । 'एक सन्नाटा बुनता हूँ' कविता में, निष्कर्षतः प्रागुक्तीय के शाब्दिक अभिव्यंजन की ओर ही इशारा किया जाता है ।

'घना अन्धकार' में भी प्रागुक्तीय का व्याख्यान ही उपलब्ध है । अन्धकार पूर्व अचेतन में स्थित आदिम बिम्बों के अस्तित्व को वे इसप्रकार स्वीकार करते हैं -

---

1. Modern Man in Search of a Soul. P. 177

" एकाकार
सब अन्धकार में है
प्रकाश की सुरंग में
मैं उन्हें देखता चला जाता हूँ
उन्हें पकड़ नहीं पाता । " [1]

ये एक , एकाकार सब अन्धकार में डूबे हैं, अतीक उनके अंदर है । उनकी दुर्जेयता - प्रागैतिहासिकता की अज्ञातता - के बावजूद, कविता (प्रतिभामूलक प्रकाश) के सहारे उन्हें पकड़ने (जानने) की कोशिश कवि करते हैं । इन एकाकारों को समा लेनेवाले अन्धकार को वे यथार्थ का विस्तार'[2] मानते हैं । यह चरम एकाकार है । उसका उद्घाटन और उसमें निहित सत्यों का साक्षात्कार कविता के प्रकाश में संभव है । कविता का प्रकाश भी परम्परा का है क्योंकि वह पूर्वजों से संप्राप्त है, क्योंकि सांस्कृतिक परम्परा की नींव निश्चयेय ज्ञान है जो प्रागैतिहासिक है । सब कविता की मूल प्रेरणा प्रागैतिहास ही सिद्ध होती है और कविता के द्वारा प्रागैतिहास ही साक्षात्कृत होते हैं -

" प्रकाश मेरे अग्रजों का है
कविता का है, परम्परा का है
जीता है, जरा है,
अन्धकार मेरा है, रत्न है, धरा है ।[3]

अज्ञेय के काव्य जीवन के अवलोकन से यह पर्याप्त रूप में स्पष्ट हुआ है कि अज्ञेय की काव्य - चेतना कुछ ऐसी अन्तर्धाराओं से - आन्तरिक तत्वों से - परिचालित

---

1. पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ (हरा अन्धकार) पृ.13.
2. वही पृ.13.
3. वही पृ.13.

रही है, जो प्रकृतिस्थ की विशेषताएँ व्यक्त करती हैं। जिन जिन विशेषताओं से कवि उन्हें अन्वित कर देते हैं, और उन्हें स्पष्ट करने केलिए जिन प्रतीकों का उपयोग करते हैं, वे सब प्रकृतिस्थीय सम्बन्ध रखते हैं। अनुभूति की सच्ची और ईमानदार अभिव्यक्ति के रूप में सामने आनेवाले वे कवितागत वर्णित प्रकृतिस्थीय सूचनाओं को सच्चे और अकृत्रिम चित्रण करने में समर्थ हैं। अतः कवि की अनुभूति की सच्ची विवृति के अटूट अंग के रूप में काव्य सन्दर्भों में परिलक्षित ऐसी सूचनाओं को, काव्य वस्तु के जन्म जात प्रकृतिस्थीय सम्बन्ध के निदर्शन के रूप में स्वीकार करना समीचीन है।

दूसरा अध्याय

वंशीय काव्य में सामान्यतः प्रमुख प्रवृत्तियाँ

दूसरा अध्याय

अज्ञेय काव्य में साक्षात्कृत प्रमुख प्रागुबिम्ब

पिछले अध्याय में अज्ञेय की कविताओं में संचित प्रागुबिम्बीय सूचनाओं का विश्लेषण किया गया। उससे यह स्पष्ट हुआ कि उनकी सर्जनात्मक चेतना के मूल में आद्यबिम्ब की प्रेरणा सक्रिय है। अतः उनकी अनुभूतियाँ इन अदृश्य अन्तः सम्बन्धों के अनुरंजन से काव्यिक महत्व की छोटी सीमा को तोड़कर सार्वभौमिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकी है। प्रागुबिम्बीयता का सामान्य बोध करानेवाले इन संदर्भों के अतिरिक्त अज्ञेय में प्रागुबिम्ब - विशेषों का प्रतीकात्मक साक्षात्कार भी प्रभूत मात्रा में उपलब्ध है। इन विशिष्ट मूल बिम्बों में स्त्रैण - बिम्ब (anima), पितृबिम्ब (father imago) मातृ - बिम्ब (mother archetype), छाया बिम्ब (archetype of shadow) प्रौढ़ विवेकी बिम्ब अथवा वृद्ध - ज्ञानी बिम्ब (archetype of wise old man) ईश्वर बिम्ब (archetype of God) आत्म - बिम्ब (soul image) आदि प्रमुख हैं।

स्त्रैण - बिम्ब (anima)

कलाकार की कारयित्री प्रतिभा के प्रेरक तत्व के रूप में मनोविज्ञान ने स्त्रैण - सत्ता का निरूपण किया है, हमने पहले ही देखा। अज्ञेय के व्यक्तित्व में भी आंशिक विभिन्न रूपों में यह प्रकट होता है। कवि के बदलते जीवन परिवेशों और बाहरी प्रभावों के अनुसार वह नाना प्रकार का बाह्य कंचुक अपनाता है। फिर भी यह तत्व अन्तः सलिला बनकर उनकी कविता के भाव जगत को आद्र बनाता हुआ सदा व्यक्तित्व के

मूल में वर्तमान रहता है ।

बहुत ही छोटी उम्र में इस रागतत्व का जागरण अज्ञेय में अनुभूत होता है । घूमती भँवरी की दुतगति की ओर चकित् आकृष्ट होकर अपने आप को भूल जानेवाले बालक अज्ञेय के सामने लास्यवती नारी के रूप में विश्व प्रपंच का अनजाने ही उपस्थित होना कवि के सामूहिक अवचेतन के इस तत्व के प्रतिबिम्बित होने का परिचायक है । अर्थात् आत्म - विस्मृति के उस निमिष में कवि का आन्तरिक नारी - बिम्ब प्रकृति पर अभिक्षिप्त (projected) हो रहा था । कवि का कहना कि "उस समय मैं ने जाना कि मेरी भँवरी ही नहीं, भूमि भी नाचती है । सारा विश्व - ब्रह्माण्ड नाच रहा है ।"[1] उपर्युक्त आन्तरिक सत्ता की आकस्मिक उत्तेजना को स्पष्ट करता है ।

आगे चलकर अज्ञेय के कृतित्व का विकास प्रान्तिकारी जीवन के साथ साथ होने लगा । अज्ञेय की प्रारम्भिक कविताएँ जो ' भग्न दूत ' में संकलित हैं, प्रान्तिकारी जीवन के इन दिनों में रचित हैं । उनका अध्ययन इस बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है कि उनमें समसामयिक परिवेशों के प्रभाव से जागृत विद्रोह भावना की ही प्रधानता नहीं रहती है, प्रत्युत प्रान्तिकारी जीवन की कर्मठता की व्यंजना के साथ अपरिमेय सत्ता से एकाकार होने की आकुलता, असीमप्रेम की तृष्णा, उत्कट सौंदर्यानुभूति आदि कोमल भावनाओं को प्रकट करनेवाली कविताएँ भी उपलब्ध हैं । 'रहस्य'[2], 'असीम प्रणय की तृष्णा'[3] 'कहीं कैसे मन की - समझा तुं'[4], 'प्रतीक्षा'[5], 'गीत ।'[6],

---

1. अज्ञेय : आत्मनेपद (मेरी पहली कविता शीर्षक लेख) पृ. 20.
2. पूर्वा : पृ.22.
3. वही : पृ.24.
4. वही : पृ.28.
5. वही : पृ.29.
6. वही : पृ.30.

'गीत 2'[1], 'पूर्व स्मृति'[2], 'अपना गान'[3], 'सपना'[4], 'कवि'[5], आदि कविताएँ ऐसी तरल प्रेमिल उद्गारों से मुखरित हैं। सामान्यतः कहा जा सकता है कि यह कवि की यौवन सहज स्वप्नोन्मुखता, सौन्दर्यात्मक दृष्टि और प्रेमिलता का परिणाम है जिस पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रहस्यात्मक अनुभूतियों और अंग्रेजी के टेनिसन, वर्ड्सवर्थ आदि कवियों की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का प्रबल प्रभाव पड़ा था।[6] लेकिन अज्ञेय जैसे सजग और बुद्धिजीवी कलाकार के पक्ष में सामाजिक और युगीन चेतना से असंबद्ध अलौकिक और कोरी काल्पनिक अनुभूतियों की व्यंजना में मात्र सहजवासना (instinct) और अनुकरण की प्रवृत्ति को ढूँढ लेना सतही दृष्टि का दृष्टान्त होगा। वास्तव में यह बात एक सामान्य मनोवैज्ञानिक सत्य का ही समर्थन करती है। हमने पहले ही देखा कि प्रत्येक पुरुष में एक समान स्त्रैण - सत्ता अन्तर्भूत है। यह परम आदर्श स्वरूप है, पुरुष का आत्मांश है। पुरुष की बाह्य आचरणों के अनुरूप यह अन्तर्वासिनी नारी भी सक्रिय हो उठती है। जीवन की सन्तुलित स्थिति को बनाए रखने के लिए soul image के पुरुष व स्त्रैण दोनों सत्यों को समन्वित रखना आवश्यक है। स्त्रैण बिम्ब की यह अपनी निजी विशेषता है कि वह सौन्दर्य की ओर सदैव आकृष्ट रहता है।[7] कोमलता उसका

---

1. पूर्वा : पृ.31.
2. वही : पृ.32.
3. वही : पृ.39.
4. वही : पृ.41.
5. वही : पृ.43.
6. आत्मनेपद : पृ.
7. The anima believes in the beautiful and the good, a primitive conception that antidates the discovery of the conflict between aesthetics and morals - Archetypes and the Collective Unconscious. P. 28

स्वभाव है । अतः बाह्य रूप पर व्यक्ति जितना कर्कश और कठोर दिखाई पड़ेगा, उतना अन्दर से वह मुलायम और नाजुक रहेगा । यहाँ भी बात दूसरी नहीं है । गुप्त आन्दोलन के कार्यक्रमों बाहरी व्यापार के अनुसार उनकी अन्तश्चेतना में निहित कोमलतम-चिन्तारी - अनीक्षापूर्वक उन्मीलित हो उठती है । वह अवश्य ही काव्य - व्यक्तित्व का रागतत्व और मूलस्वर हो जाती है । वह जब उनकी युगचेतना से संपृक्त आशा-निराशा और विद्रोह की भावनाओं से भरी कविताओं को उद्गीरित करती है, तो कभी कभी कवि की रहस्यात्मक प्रेमोद्गारों से स्वयं वही बोल उठती है -

" मेरे उर में क्या अन्तर्हित है,
यदि यह जिज्ञासा हो,
दर्पण लेकर अब भर उसमें
मुख अपना, प्रिय ! तुम लख लो ।
यदि उसमें प्रतिबिम्बित हो मुख
सस्मित सानुराग अम्लान,
' प्रेम निलय है मेरा उर भी '
सजान तुम यह लेना जान ।"[1]

पहले रवीन्द्रनाथ के प्रभाव के दिनों में यह किसी असीम सत्ता पर केन्द्रित होकर रहस्यमयी वाणी में बोल उठती है -

" अब भर - संपृक्त हो - विलीन हो - मीता तुझ में स्वीकार
वस एक बार । "[2]

---

1. पूर्वा (रहस्य) पृ.22.
2. पूर्वा (असीम प्रणय की तृष्णा) पृ.25.

यह अन्निमा (चिरनारी) अपनी सब प्रकार की सौन्दर्यात्मक वृत्तियों के साथ 'अपनागान' में प्रस्तुत होती है -

" भरी आँखों की करुणा - भीख
रिक्त हाथों से अंजलि - दान
पूर्व में सुने की अनुभूति
शून्य में स्वप्नों का निर्माण

" इसीमें तेरा सुर प्रसार
इसी में स्नेह सुधा का दान
कहूँ इसको जीवन - इतिहास
या कहूँ केवल अपनागान ?"[1]

यह कविता भावनात्मक दृष्टि से लोक - जीवन व्यापारों और उनकी गतिविधियों का निरूपण ही करती है । उसके द्वारा उनसे (व्यापारों से) अन्योन्याश्रितत्व से सम्बद्ध अर्थवत्ता को संवेदन के धरातल पर अनुभूत कराया गया है । 'भरी आँखों की करुणा भीख' और 'रिक्त हाथों से अंजलिदान' - तथा 'पूर्व में सुने की अनुभूति' की विडम्बनापूर्ण जीवन परिस्थितियों के बीच में भी 'शून्य' में स्वप्नों का निर्माण' कर लेने की क्षमता (जिजीविषा) की मानव के अन्दर तीव्र रागात्मक शक्ति उसके अन्तर्मन की नारी - सत्ता ही है । इसका कारण यह है कि जीवन के सुर प्रसारों के अन्दर स्नेह का सुधादान करके जीवन को जीने योग्य बनानेवाला तत्व वह है । यहाँ जयशंकर प्रसाद की कामायनी की उदाहरण बना सकते हैं । 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो',[2] से अज्ञेय की 'इसी में तेरा सुर प्रसार, इसी में स्नेह सुधा का दान' तक दूरी बहुत कम है । अतः जीवन की

---

1. पूर्वा (अपना गान) पृ.40.
2. जयशंकर प्रसाद : कामायनी (भारती भंडार, इलाहाबाद, बारहवाँ आवृत्ति, सं. 2021.) पृ.114.

चाहता शक्ति यह स्नेह - सत्ता ही है, यह सिद्ध होता है । सब मानव जीवन का इतिहास स्त्री की श्रद्धा, करुणा, और प्रेरणा की अनन्त कहानी है या अबलाओं की आत्म गाथा है -

" कहूँ इसको जीवन इतिहास
या कहूँ केवल अपना गान । "

तीक्ष्ण अपील से कविता को उद्यम माननेवाले कवि अपने समुद्भावचेतन में निहित रहनेवाली चिरकुमारी की प्रेमिलता को ही प्रकट करते हैं । कविता प्रेम के समान अनुभूतिमूलक है । अपील की तीक्ष्णता की व्यर्थता भावुक कवि के हृदय की गहराई को तरंगित किए बिना नहीं रहेगी । यह अपील इसलिए कवि कैसिर जाकर्षक होती है कि उसमें कवि के स्वान्तर्भूत स्नेह सत्ता का विसीभनकारी अपील विशेष ही अनजाने ही प्रतिबिम्बित मिलता है ।

अपना कुछ मानक तत्व नहीं है तो अन्यों से हमारे सम्बन्ध का आधार नहीं रहेगा । आदर्शिक कुछ ऐसे मानक तत्व हैं जो वस्तु जगत से मनुष्य का अनुभूति मूलक सम्बन्ध निर्धारित होता है । अंगी कवि कहते हैं -

" पर मैं अखिल विश्व का प्रेम खोजता फिरता हूँ
क्योंकि मैं उसके असंख्य हृदयों का गायकार हूँ ।
. . . . . .
मैं अखिल विश्व की पीड़ा संचित कर रहा हूँ -
क्योंकि मैं जीवन का कवि हूँ । "[1]

---

1. पूर्वा : (कवि) : पृ. 43.

ठीक है कि कवि को अपने वैयक्तिक सुख - दुःखों के छोटे दायरे में अपने कृतित्व को सीमित नहीं रखना चाहिए । लेकिन यह भी ठीक है कि विषय - संग्रह और संवेदनों के संप्रेषण के बीच काव्य सृजन के एक वैयक्तिक स्तर का निषेध नहीं हो सकता ।[1] लोकजीवन के प्रांगण से वह भले ही कितने ही प्रतिनिधि अनुभवों को चुन ले, फिर भी उन्हें संवेदन के सूक्ष्म स्तर पर रखकर कृति का रूप देने में - वस्तु के गठन में - कवि के चेतन मन की सामाजिक सजगता का अवदान कम है । वह सामूहिक अचेतन में स्थित मूलबिम्बों के आदर्श पर ढल जाती है । दूसरी शब्दों में, कवि के अन्दर के समूह मानव का धर्म है वह ।[2] कृति जब साधारणीकरण की क्षमता से प्रेषणीय होकर ग्राहक के अन्तरतम में प्रविष्ट होकर उसके सामूहिक अचेतन पक्ष का संस्पर्श करता है(अतः समूह मानवों के बिम्ब संवाद हो जाता है) तो वह जीवन का कवि बन जाता है ।[3] कहने का

---

1. ..... the creative function of the psyche is accompanied by a reaction of consciousness, which seeks, at first in slight degree, but then increasingly, to understand to interpret and to assimilate the thing by which it was at first overwhelmed - Art and the Creative Unconscious. P. 85
   Also, Psychological Types. P.555

2. The artist is not a person endowed with free will who seeks his own ends but one who allows art to realize its purposes through him. As a human being he may have modes and a will and personal aims, but as an artist he is 'man' in a higher sense, - he is collective man, one who carries and shapes the unconscious, psychic life of man-kind - 'Modern Man in Search of a Soul. P.195

3. Great poetry draws its strength from the life of mankind and we completely miss its meaning if we try to derive it from personal factors. Whenever the collective unconscious becomes a living experience and is brought to bear upon the conscious outlook of an age, this event is of importance to everyone living in that age - Modern Man in Search of a Soul. P.191

तात्पर्य है कि अनुभव की स्वानुभूति के तल पर से जाकर उसे आत्मालोक में देख लेना चाहिए । अतः सृष्टि के निर्माण में कविता व्यक्ति में वर्तमान निर्वैयक्तिक पक्ष में स्वतः सम्पन्न होनेवाले व्यापार का परिणाम है ।[1] लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि कविता पूर्णतः अचेतन का कार्य हो । हृदय संवेदन के काव्यवस्तु के रूप में परिणत होकर साधारणीकृत अवस्था में कवि के चेतन मन के द्वार पर आकर दस्तक देने के समय तक यह अचेतन व्यापार है । उसके बाद उसे शब्दोबद्ध करने शाब्दिक माध्यम के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है ।[2] यह कार्य चेतन मन का है । इसप्रकार कविता के सृजन के पीछे चेतन और अचेतन दोनों का हाथ है । अतः यीट्स ने कहा है कि कविता का पूर्ण विश्लेषण - व्याख्यान असंभव है ।[3]

कला के पीछे सक्रिय रहनेवाले अचेतनगत तत्व कलाकार के चित्त की गहराई में छिपी हुई आद्यस्मृति ही है । अज्ञेय स्वयं इसे स्वीकार करते हैं -

" जब जब दबे हुए तारों से
छूट लेखनी गिर जाती है

---

1. Whenever the creative force predominates human life is ruled and moulded by theunconscious as against the active will, and the conscious ego is swept along on a subterranean current, being nothing more than a helpless observer of events - Modern Man in Search of a Soul. P. 197

2. Thus at a very early stage there is a relative fixation of expression and style, and so definite traditions arise - Art and the Creative Unconscious. P. 85

3. W.B. Yeats: Selected Criticism (ed. by A. Norman Jeffers), 1966. P.165
(That .... as I lie between sleeping and waking, must come from above me and beyond me).

' सूखा उर का रस - प्रीत' यह
शंका मन में फिर जाती है ।"[1] यह शंका कवि को भावुक बनाती है । उसे लोकव्यवहारविद् एवं कला सर्जक बना देती है । अज्ञेय जिस 'सूखा उर का रस - प्रीत' की शंका करते हैं वह सूखा नदी, प्रसुप्त युग से निष्प्रवाहित ripple-dead river-bed (लहर रहित नदी शय्या) है । वह सामूहिक अचेतन है । बाह्य ऐन्द्रिय - संवेदनों की अनुभूति की तीव्रता उस को सचेतन कर देती है । तब तो आश्चर्य-जनक रूप में अपने अन्तर्स्थित राग तत्व को जाग्रत होते कवि देखते हैं -

" सखी री धीर, क्यों सहसा दीख,
झपक, छिप जाता तेरा स्मित मुख -
कविता की सजीव रेखा सी
मानस पट पर तिर आती है ।"[2]

आद्यनारी के सहसा जागरण के अनुभव का चित्र बिलकुल मनोवैज्ञानिक हो पाया है । उसका स्मित मुख ही कला - सृष्टि की एकमात्र प्रेरणा है । चिरन्तन स्त्रैण - सत्ता के इस स्मित मुख का दर्शन अज्ञेय की अनेक कविताओं में भिन्न रूपों में मिल जाता है ।

'पूर्वस्मृति' नामक कविता में 'धारित अटाम्य विटप राशि पर खिली वसंत - सुषमा पर इस बिम्ब का अभिक्षेप हम देखते हैं । ऋतु - राज - शोभा से मण्डित प्रकृति में यौवन में अल्हड़पन में इठलाती फिरती लास्यवती तरुणी की कोमलता और चंचलता कवि अनुभव करते हैं । यह वास्तव में कवि के समूहावचेतन गत आद्यनारी तत्व की अपनी विशेषताएँ हैं । प्रकृति पर कवि - मानस में निहित नारी - सत्ता का आरोप ही -

---

1. पूर्वा (प्रेरणा) पृ.84.
2. वही पृ.84.
3. पूर्वा (पूर्वस्मृति) पृ.32.

अवीक्षपूर्वक अभिप्रेत ही - उस वर्णन में लक्षित है । वह अनुभूति की अतार्किक मानसिक भूमि पर अप्रत्याशित रूप में संवेद्य है । अतः कवि के ये वचन हैं -

" मायाविनी । मरीचिका है यह
या सपना या मेरा प्यार ।"[1]

साथ ही कवि के अपने " अन्तस्तल में मीठा मीठा "[2] उसका उपवास गूंजता भी रहता है -

" क्या दोगी फूलों का मोल" ।[3] कारण कि जितना कवि उससे प्राप्त करता है, उतना लौटा देने में कवि असमर्थ है । प्रकृतिस्थ के साक्षात्कार की प्राप्ति के अनुसार उसकी बाह्य - अभिव्यक्ति के प्रतिदान में अपनी असहायता कवि अनुभव करता ही है । (सम्प्रेषित आत्महीनता माध्यम को अधिकाधिक समर्थ बनाने के प्रयोगों की ओर कवि को प्रेरित करती ही रहती है) । फिर भी उसके प्यार की प्यास - अपनी अन्तः सत्ता के साक्षात्कार की अभिलाषा - कहीं छिपनेवाली नहीं है -

" मानस मरु में कहाँ छिपाऊँ
अपने प्राणों की प्यास "[4] कवि के पूर्णत्व की सफलता और व्यक्तित्व की पूर्णता, इस आन्तरिक सत्ता के अन्वेषण और साक्षात्कार में ही अन्तर्हित देखते हैं । इसके लिए पहली शर्त है अहं का विलयन, अर्थात् चेतन मन से मुक्ति -

" मेरी माँग स्वयं अपना बन्धन है
क्यों कि वह माँग
दान नहीं है ।"[5]

---

1. पूर्वा (पूर्वभूमि) पृ.32.
2. वही पृ.33.
3. वही पृ.32.

जीवन की मौलिक प्रेरक शक्ति के रूप में भी चिरन्तरी का चित्रण अज्ञेय में ही पाया है । उसका अन्वेषण और साक्षात्कार ही पुरुष के जीवन की धन्यता है । वह जीवन के बन्धनों से त्रसित है, गगन की अनन्त विशालता में उड़ने भरनेवाले वीर में कवि ऊर्ध्वमुखी जीवन की गति और चरम लक्ष्य की ओर प्रयाण करनेवाली आत्मा को देख लेते हैं । -

" प्रज्वल्य गगन का वह वीर
जा रहा अकेला उठा वीर
जीवन से मानो कम्पयुक्त
आरक्त धार का तीक्ष्ण तीर "।

वह यों ही उसप्रकार नहीं उड़ रहा है । उर की अमिट साध को प्रकटित कर उल्लास अवनि के प्रभाहलाद के सदृश ऊर्ध्व गति से आगे बढ़ रहा है ।[2] वीर का आरक्त चंचु रक्तावनी वृत्ति का चोतक है । चैतन्य और ऐश्वर्य के प्रतीक हरीतिमा की पृष्ठभूमि में वह उपस्थित है । इसप्रकार यह उस प्राणबिम्ब का प्रतीक ठहरता है जो सामूहिक अचेतन से उद्भवित होकर, व्यक्ति की अनुभूतियों से अनुप्राणित होकर भाव - शबल चेतन मन में प्रवेश कर अज्ञेयता की अनन्तता में ओझल हो जाता है ।

इस चिर सुन्दरी की सुषमा को ही वे चीड़ तरु - प्रदत्त लाल में मर्मर करनेवाली अस्त - सूर्य - किरणों की आभा में देखते हैं । वह शाब्दिक माध्यम से

---

४. पूर्वा (पूर्वस्मृति) पृ.३३.

१.
1. पूर्वा (वीर) पृ.४।.
2. वही पृ.४।.

द्वारा व्यंजित नहीं हो सकती - वह अनुभव करने से ही बनती है -

" स्वयं उसी मेघ सौन्दर्य - नदी में बह जा ।
नीरवता द्वारा अपनी असफलता कह जा ।
निरुद्वेग, मीठे विषाद में चुप ही रह जा ।

इस रहस्य अपरिमेय से आगे आदर से नतमस्तक रे कवि ।"[1] कहकर यह कवि को अपनी सीमा से सचेत करती है, और सान्त्वना देती है ।

जिसकी स्मिति की फीकी रेखा मात्र कलाकार को उद्वेलित करती है, उस 'देवि'[2] का पूर्ण साक्षात्कार असंभव है । साक्षात्कार की आकांक्षा ही जीवन की प्रेरणा है । प्रतीक्षा में ही प्रगति है, प्राप्ति में जड़ता है । प्रकृतिस्थ भी ऐसे रहस्यमय तत्व है जो प्रतीक्षा कराने पर भी पूर्णप्राप्ति के परे नहीं है । एक निमिष की झलक - साक्षात्कार पुनः प्राप्ति की आकांक्षा जगा देती है -

" तुम्हारी मीलित आँखें देख
किसी स्वप्निल निद्रा में लीन
हृदय जाने क्यों सहसा डूबा
जादू चकित - सा पारावार दीन ।"[3]

अनुभूति की तीव्र घड़ी में स्वप्निल निद्रा की स्थिति में (अर्धमुकुलित स्थिति में) कवि के मन में जागरित आद्यनारी का अधिक साक्षात्कार उनमें अधिक आकुलता उत्पन्न कर देती है ।

---

१. पूर्वा (सुमित्रा) पृ.८३.

२. पूर्वा (प्रेरणा) पृ.८४. (सखी, देवि, क्यों सहसा दीख अमंद, किंचित जाता तेरा स्मित मुख)

३. पूर्वा (निमीलन) पृ.८६. (कविता की सजीव रेखा - सी मानस पट पर तिर आती है ।)

यह विश्वसनीयता का मूल है ।

आद्य नारी रूप की 'आदिम प्रेयसि' कहकर संबोधित करते हुए अज्ञेय उसमें अकस्मात् बसन्तोत्सव की अकाल घन के आगमन के रूप में देखते हैं, 'स्मृति'[1] नामक कविता में । इसमें अज्ञेय ने अपनी प्रियतमा के पूर्वकालीन प्रेम की स्मृति को ही अकाल घन की रस - बिन्दुओं में देखा है जो प्यार से पूर्ण है ।[2] प्रियतमा के चिर वियोग ने जब उनकी आन्तरिक चिरकुमारी के साक्षात्कार से उन्हें वंचित किया तब वह और भी तीव्रतर होकर आकार के बाह्य रूप की लोचिता उसमें प्राप्त भाव के सूक्ष्म आन्तरिक विशेषताओं से (प्रियतमा में प्राप्त आन्तरिक विशेषताओं से) सम्बद्ध हो गयी । उन विशेषताओं के समवाय के अभिप्रेत के रूप में सौम्यसत्ता का अभिव्यंजन अज्ञेय में हम पाते हैं। इसलिए अज्ञेय की कविता में प्राप्त आद्यनारी रूप सौम्य और मधुर ही दीखता है, दीप्त रूप में उसका साक्षात्कार कम हुआ है । इसके अतिरिक्त अज्ञेय में उसका वर्णन सजगता से मुक्त है । शारीरिक अंग प्रसंग वर्णन की अपेक्षा और प्रतीकों की स्वीकृति ने काव्य की आन्तरिक गुरुता और प्रभविष्णुता को बढ़ा दिया है ।

पार्थिव अस्तित्व के न रहने पर भी कवि कैसे प्रियतमा अब भी जिंदा है । स्मृति में वह जीवित है । अतः साधारण विधुरों के समान वे लक्ष्यहीन

---

1. पूर्वा (स्मृति) पृ.88.

2. "आदिम प्रेयसि । किसी समय
जीवन के उजड़े कानन में
विस्तृत आशाहीन गगन में
किसी अजान ही क्षण में
आता अभिलाषाओं की तप्त
उसासों से ही पुंजीभूत -
यह अकाल घन सी आयी थी
बन वसन्त का जीवन दूत । "
- पूर्वा पृ.88.

और निराश नहीं - स्मृति में बार बार उससे मिलने की प्रतीक्षा बनी रहती है -

" इस अनन्त के अधिर जाल में
अभिनव कौन, कौन प्राचीन -
मैं हूँ, तेरी स्मृति है, और
विरह - सजनी है सीमाहीन । "[1]

यहाँ कवि की प्रणयिनी कवि के अन्तर्वर्ति नारी बिम्ब से स्वीकार की जाती है । सार्वधिक काल से मुक्त होकर निरवधिक काल की अनन्तता में उपस्थित होने पर वह चिरता प्राप्त कर गई है । वह अब कवि के स्मृति - मंडल में प्रविष्ट हो चुकी है । वहाँ प्रणयिनी तत्व चिरनारी तत्व से मिलकर एक हो गया है । अतः प्रणयिनी के सम्बन्ध में अज्ञेय की सभी उद्गारों आद्यनारी बिम्ब पर भी लागू है । कवि के अस्तित्व की चरितार्थता इसमें है कि 'तेरी स्मृति है' मुझे संबल के रूप में । वह रह रहकर जाग्रत होकर अवसाद (आत्मानुभूत दुर्बलता) के निमेषों में प्रेरणा, शान्ति और अवलंबन प्रदान करती है । उसकी स्मृति की पुनरावृत्ति ही - प्राणबिम्ब का अधिक साक्षात्कार ही, उसकी प्रतीक्षा ही, विद्रुपन की सीमाहीन अवधि को पार करने की शक्ति प्रदान करती है । 'अन्तिम आलोक'[2] कविता में भी अपनी चिर - वियुक्ता प्रियतमा की स्मृति का वर्णन है, और उसमें उपलब्ध 'पुरानी कसक', 'खोया - सा स्मृति - वन', 'उसका बरसना' आदि प्रयोग समूहावचेतन के चिर बिम्ब - आसक्त ज्ञेय - तत्व की विशेषताओं को प्रकाशित करते हैं ।

'अतीत की पुकार'[3] कविता भी प्रिया - विरह जन्य एकाकिता से पीड़ित कवि की आत्मविस्मृति की घड़ियों में जाग्रत होनेवाली 'निर्मम' अन्तश्चेतना के उद्घाटन

---

1. पूर्वा (स्मृति) पृ.88.
2. पूर्वा पृ.90.
3. पूर्वा पृ.92 - 93.

और उसमें निहित, कवि - व्यक्तित्व के पूरक तत्व स्नेह - सत्ता के साक्षात्कार की अनुभूतियों को अभिव्यंजित करती है । सान्ध्य गगन में उड़ जानेवाले स्वप्न - युगल के गतिमान दृश्य और उनकी अतल काली तीखी आवाज़ में भरी आशा से अभिभूत हो जानेपर कवि की अर्द्ध केन्द्रित जीवनसत्ता - असीमता की माया - थोड़ी देर केलिए टूट जाती है -

" कहीं से पाकर निर्मम चोट
हुआ माया का शीशा चूर ।"[1]

अन्तश्चेतना की इस उद्भितावस्था में, कवि का 'देह - बन्धन - मुक्त' व्यक्ति 'स्वयंचालित पंखों के बल पर' अनीहपूर्वक साक्षात्कृत अपनी समग्रात्मचेतन की चिर कुमारी को साथ लेकर स्वप्न - युगल के सदृश पूर्णत्व की स्थिति में निस्सीमता (असीम) की तरफ प्रयाण करता है ।-

" व्यक्ति मेरा बन्धन अभाव
स्वयं चालित थे मेरे पंख -
और तुम - तुम थी मेरे साथ ।"[2]

स्पष्ट है कि यह 'तुम' कवि की अतल मनोभूमि में वर्तमान रागतत्व है - नारी सत्ता है, जो पुरुष के व्यक्तित्व को पूर्ण करता है, जिसके साक्षात्कार में पुरुष के जीवन की धन्यता निहित है । इसका साक्षात्कार कवि केलिए प्रियतमा में पहले हो चुका था - " तुम थी मेरे साथ ।" लेकिन इसप्रकार प्रियतमा में ध्येय - प्राप्त चिरनारी - तत्व उसके मिलन पर स्मृति - जगत में छिप जाता है । फिर भी उसके साक्षात्कार की उत्कट अभिलाषा कवि में बल पकड़े रहती है ; किन्तु उससे मिल जाना उतना आसान नहीं है क्योंकि " मुझे ज्ञात है यह अस्तित्व ।" अतः यह जान नहीं पाता - " मृत्यु तुम किस पर्दे के पार ।"

---

1. पूर्वा (अतीत की पुकार) पृ.92.
2. पूर्वा (अतीत की पुकार) पृ.93.

कवि वैसिए यह निरन्तर अन्वेषण का कार्य है । स्मृति - मण्डल में जीवित प्रियतमा से मिलने का एकमात्र उपाय रागात्मक चेतना के उद्रेक से अस्मिता की तोड़कर अस्तित्व के बंदीगृह के द्वार को खोलकर - स्थिर भावों के सीमातीत उन्मुक्त जगत में प्रवेश करना ही है -

" किन्तु आकर आत्मा की चोट -
खुल गए बंदी - गृह के द्वार
यही है मिलन मार्ग का सेतु
हृदय की यह स्मृति - प्यार - पुकार
इसी में रहकर भी विच्छिन्न
हमारा है अनन्त अभिसार ।"[1]

इसप्रकार इसमें मानव चित्त के सामान्य पक्षु से स्थिर नारी - सत्य के कवि की प्रियतमा में साक्षात्कार की अनुभूति और उस प्रियतमा की स्मृतियों के जागरण में चिरन्तन नारीबिम्ब के उद्रेक का आभास अनायास प्राप्त है । स्वयं कविता का नाम ही प्रागबिम्बीय विशेषता को लिये हुए है - 'अतीत की पुकार' । 'अतीत' से तात्पर्य प्रातन (primordial) या आदिम (a-priori) है । 'खोकर चला जाना', 'काल की ललकारना' 'ससीम आवरण का ढह जाना', 'निर्मम चोट पाना', 'माया का शीशा चूर होना' अस्तित्व का विदीर्ण होना' व्यक्ति का 'देह - बन्धन - मुक्त' होना, 'पर्दे के पार होना', 'आत्मा की चोट खाना', 'बंदी गृह का द्वार खुलना', 'मिलन - मार्ग का सेतु' 'हृदय की स्मृति - प्यार-पुकार' आदि शब्दावली प्रागबिम्ब की स्वरूपात्मक और धर्ममूलक विशेषताओं को व्यक्त करनेवाली है ।

---

1. पूर्वा (अतीत की पुकार) पृ.93.

'नाम तेरा', 'एक चित्र' आदि कविताओं में भी अपनी प्रियतमा के प्रति प्रणय - निवेदन के रूप में कवि ने अपनी अलक्ष्य आद्यनारी की ही ओर संकेत किया है -

" मोह हम को है नहीं पर प्यार आशा का फूला है -
क्या पता फिर सामने ही जाय तेरा और मेरा ।"[1] में चिर कामिनी से मिलन की प्रतीक्षा बनी रहती है । कवि और उसकी कामिनी का मिलन रजनी में घटित होता है । रजनी अन्धकार है । अन्धकार में मिल जानेवाली यह कुमारी अचेतन की अवस्थाओं वस्तुतः की पकड़ से मन के मुक्त होते समय अचेतन की अन्धकार पूर्ण धरती पर जाग पड़नेवाली आद्यनारी चित्र का प्रतीकात्मक साक्षात्कार है । स्वप्निल अवस्था में इसप्रकार कवि की विदित हुई अपनी अन्तर्निहित नारी सत्ता का मिलन जागरण के अवश्यम्भाव्य पर नष्ट हो जाता है । आगे कब मिलन का यह अवसर प्राप्त होगा, कवि को पता नहीं । फिर भी कवि आशा नहीं छोड़ बैठते । -

" मिलन रजनी हो चुकी, विश्वास का अब है सवेरा ।
जा रहा हूँ - और कितनी देर अब विश्राम होगा ।"[2]

अपने अन्दर बसनेवाली आद्यनारी का एक बार रूप - दर्शन कवि के लिए बिलकुल प्रेरणा दायक है । उसकी ओर कवि और कवि की ओर वह दोनों स्वतः आकृष्ट है । अतः विरह की अवधि अनन्त जानने पर भी निराश न होकर, अतिशय की आशाओं से प्रेरित कवि चिर प्रतीक्षा में ही रहते हैं । फलतः अनुभूति की तन्मयता में " अनजाने में मन दोनों के मिल जाते हैं ।"[3] कवि के जीवन

---

1. पूर्वा (नाम तेरा) पृ.102.
2. वही पृ.103.
3. पूर्वा (एक चित्र) पृ.105.

के प्रवास में आगे बढ़ने में कितना प्रेरणा दायक है, देखने लायक है -

" इस प्रवास में चिर तुम्हारे बना हुआ है मेरा सहचर
इसीलिए यह लम्बी यात्रा नहीं हुई है अब तक क्षार ।"[1]

मानव के व्यक्तित्व के इस कोमल और प्रेमिल तत्व को इसी कारण युंग ने जीवन का प्रेरक तत्व बताया है ।[2] मानव की सारी उपलब्धियों के पीछे यही तत्व सक्रिय है । अपनी प्रियतमा को जीवन - प्रेरणा स्वीकार करते हुए वास्तव में कवि अपने ही अन्दर बहुत रहनेवाली नारी तत्व का अलौकिकपूर्वक आरोप (अभिक्षेप) ही उसपर करते हैं । यही कारण है कि प्रियतमा का बाह्य और आभ्यंतर रूप कवि की दृष्टि में अलौकिक सिद्धियों और विशेषताओं से प्रायः युक्त ही जाता है ।

'पूर्वा' में संकलित अधिकांश कविताएँ रहस्यमय किसी अनादि और चिरंतन रागात्मक मनस्तत्व की अकस्मात् स्वयं अलौकिकपूर्वक साक्षात्कार की ओर संकेत करती है । वस्तुतः कविता के द्वारा स्वयं कवि का अन्तर्मन - उसमें निहित यह चिरंतत्व - ही बोल उठता है । यह तत्व ही प्राणचिन्त्य है ।

" प्रथम बार का मिलन चिरन्तन सीखी कैसे हो सकता है ?
.. . .
प्यार अनादि, स्वयं है, यद्यपि हम में कभी कभी आया है ,
जीव हमारे जाने कितने मिल - बिछुरों की काया है ।"[3] में प्रातिभज्ञान सिद्ध प्राणचिन्त्यीय बोध ही स्पष्ट है ।

---

1. पूर्वा (एक चित्र) पृ. 105.
2. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 32
3. पूर्वा (द्वितीया) पृ.114.

" मैं मलयानल की चेरी हूं,
ओ मेरे सिंधु तेरी हूं "[1] कहकर औशिनस के सामने खड़ी होनेवाली गोपा (यशोधरा) के

" वह ममतित, वह चिरकातर
पर आत्मदान की चिर लहर "[2] रूप में दर्शनीय पर आत्मदान की चिर -

" युग युग से सदा पुकार रहा
औदार्य भरा नारी का उर "[3] पुरुषाकृति चिरन्तन नारी तत्व के जीवनोद्देश्य मनस्विनी रूप का प्रतिनिधित्व ही है । उसके साक्षात्कार कैसिर पुरुष की अन्तरात्मा का दायित्व पाती प्रयत्नशील रहता है । जैसे प्रसाद ने कहा, नारी ही पुरुष के जीवन की प्रेरणा, उसकी सरसता का हेतु बनती है -

" नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल पर
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में । "[4]

अवि कैसिर अपना मन रजनीगन्धा है । वह प्रेमिल सौन्दर्यमयी बाह्य प्रभावों के स्पर्श से खिल उठनेवाला निशागन्धी है । उसमें अन्तर्भूत स्मृतियों का मधु- कण छलक आने लगता है । साधारण दृष्टि से एक सुन्दर पुष्प दिखाई पड़ने पर भी, गहराई

---

1. पूर्वा (ओ मेरे दिल) पृ.123.
2. वही (वही) पृ.123.
3. वही (वही) पृ.123.
4. कामायनी पृ.116.

पेठने पर कुछ और महत्वपूर्ण तथ्य स्पष्ट हो जाता है । मानस की रजनीगन्धा से अभिन्न ठहराकर किसी रहस्यपूर्ण परिस्थिति में जाग्रत होनेवाली मानसिक - प्रवृत्ति की ओर इसमें संकेत अवश्य प्राप्त है । इस तरह, 'इन्दु किरण के मेह परस' [1] का भी कुछ मनोवैज्ञानिक अर्थ निकालना मुश्किल नहीं है । इन्दु किरण की शीतलता, सुखदता और उसकी अव्यक्तता में प्रेमिलता - स्नेहमयता - भी संगुम्फित है । रात के समय ही यह इन्दु - किरण - स्पर्श संकेत भी देकर मनोव्यापार के पक्ष में रहस्यमयता की ओर संकेत करता है । इसप्रकार रात में चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से खिलनेवाली रजनीगन्धा के साथ मानव चित्त की अभिन्नता स्थापित कर कवि ने चेतन मन की सुप्तावस्था में, सौन्दर्य-मयी बाह्य प्रभावों से जाग्रत होनेवाले अचेतन के गहनतम पक्ष को ही निरूपित किया है। इसप्रकार जागरित अचेतन की अनादि स्मृतियाँ अपने आप उद्भासित होती है -

" चलकाता अन्तस् से स्मृति - रस । "[2]

अज्ञेय की यह कविता मानव मन में वर्तमान अनादि बिम्बों अथवा चेत - स्मृतियों के जागरण और उसके द्वारा मानव - अस्तित्व की महत्ता और अनश्वरता को प्रमाणित करती है । यहाँ, कालिदास की निम्न लिखित पंक्तियों में अचेतनगत अनादि भावों के जागरण (अबोधपूर्वक) का जो मनोवैज्ञानिक संकेत मिल जाता है, उसके साथ अज्ञेय की इस कविता को रखकर अध्ययन करना प्रागुक्तीय दृष्टि से और भी लाभदायक है-

" रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तु :
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्

---

1. पूर्वा (रजनीगन्धा मेरा मानस ।) पृ.127.
2. वही वही पृ.127.

भावविराणि जनान्तर सौहृदानि ।"[1]

प्रगतिवादी में प्रमुख जो स्नेह - बिम्ब है, उसके अभिक्षेप का एक सुन्दर चित्रण 'चार का गजर'[2] नामक कविता में उपलब्ध है । अपने मन - पसंद नारी के साथ कवि के अन्तस्तल की चिरनारी का तादात्म्य इसप्रकार हो जाता है -

" ..... भावना के द्वीप में
झलकार नीचे देखता हूँ, छुटी भीड़ को
और फिर निज उठे कारों
जिसमें मैं एक चित्र खींचे हूँ,
और फिर मुख नेत्र चित्र को ही देखता -
निर्निमेष लोचन युगल जिसमें कि युवा कवि के
देखे जा रहे हैं, एक लयमय
किन्तु दीप्तिमान नारी मुख को ।"[3]

यह चित्र चित्रकार की " पुंजीभूत कल्पना की चिन्मूर्त प्रतिमा है "[4] है । अर्थात् उसमें चित्रकार के अन्दर सृजन के विलक्षण क्षणों में मौनतोड़पूर्वक साक्षात्कृत चिरन्तन स्नेह सत्ता का ही अभिक्षेप हुआ है । उस नारी रूप के दर्शन से प्राप्त अनुभूति की विस्मृतावस्था में कवि को लगता है कि उस चित्र सिक्षित नारी रूप से अव्यक्त रूपवाली उस नारी की दीप्त दृष्टि उनके अन्तस्तल का स्पर्श कर रही है -

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5.2.
2. पूर्वा पृ.149.
3. पूर्वा (चार का गजर) पृ.149.
4. वही वही पृ.150.

" आकृति नहीं है स्पष्ट, किन्तु मानो फलक की भेदती - सी
दृष्टि उन अप्सरा की आँखों की, पैठी जा रही है कवि मुख के उर में ।"[1]

वस्तुतः यहाँ अनुभूतिमूलक तन्मयावस्था में (ध्यानावस्था में) रहनेवाले कवि की अन्तर्यामिनी चिरनारी का उद्रेक और चित्र में आलेखित नारी रूप पर उसका अभिक्षेप का मनोवैज्ञानिक कार्य ही सम्पन्न हो रहा है । अस्पष्ट किन्तु कान्तिपूर्ण चेहरा ही चित्र में आभासित मिलता है । उस चिरनारी का ही है । इस नारी बिम्ब के अविस्फुरण के कारण ही चित्रलिखित नारी रूप सजीव दीखने लगता है । पहले ही प्रियतमा से तादात्म्य प्राप्त कवि की यह आदर्श नारी सत्ता उस चित्र में भी कवि की प्रियतमा के रूप में ही साक्षात्कृत हो जाती है -

" मैं ने स्वप्नस्थ चीन्ह लिया उस फलक की छायाती - सी
छायाकृति - बीच बड़ी अपलक आँखों की -
मानो किसी दूरतम
तारे की चमक हो ।"[2]

वियोग - व्यथा से उदास प्रियामुख के कवि के स्मृतिमण्डल में उभर आने का जो चित्रण किया गया है, वह भी जादुई उपादानों के कारण सामूहिक अचेतन से सहसा उद्भासित प्राक्तन स्मृतियों के जागरण का बोध - दिलाने में समर्थ है -

" मेरी स्मृति गगन में सहसा
अन्धकार चीर कर आया एक चेहरा उदास ।

---

1. पूर्वा : (चार दो गजर) पृ.149.
2. वही वही पृ.150.

आँखों की पुतलियों में सींची थी बिजुलियाँ -
किन्तु वेदना का आदु बन छाया आस पास ।"[1]

यहाँ अन्धकार की चीरकर स्मृति गगन में सहसा आनेवाला उदास चेहरा कवि की प्रियतमा की भी हो सकती है और साथ ही, अचेतन के अन्धकार से अनजाने ही (सहसा) चेतन - पक्ष में प्रतीकों के द्वारा (प्रियतमा के उदास चेहरे के) अभिव्यक्तित होनेवाला आद्यनारी - बिम्ब भी ।

प्राणबिन्दु का नष्ट कोई सह नहीं सकता । सभी मानवीय सम्बन्धों का आधार यह है । इसी के आदर्श पर मानव जीवन गति लेता है और अस्तित्व गठित होता है । अतः कवि प्रिया के विछोह की पीडा के बीच में भी, तात्त्विक तल पर उससे सम्बन्ध रखना, उसका साहचर्य अनुभव करना चाहता है क्योंकि प्रिया उनकेलिए अपने अन्तर्भूत स्नेह - तत्त्व का मूर्तरूप है । अतः कवि की एकमात्र प्रार्थना है -

" मेरी चेतना उसी के चिंतन से प्लावित है युग - युग -
चोट नहीं, यह मेरी जीवनानुभूति है ।
झूला ही रहे यह मेरा वातायन वेदना का,
देखता रहूँ मैं सदा अपलक
वह कवि दीप्ति युक्त - कायामय -
मिटो मत मेरे स्मृति - पटल के तल से,
हटो मत मेरी प्यासी दृष्टि के क्षितिज से
मेरी एक मात्र संगी चेहरे उदास ।"[2]

---

1. पूर्वा (चेहरा उदास) पृ.154.
2. वही वही पृ.155.

" नन्ही शिखा "[1] में जिस अयानी नन्ही सी शिखा के निसृत होने का वर्णन प्राप्त है, वह मानव के जीवन को जीने योग्य बनानेवाले चिरंतन प्रेमतत्व - स्वरूप चिरनारी - तत्व के साक्षात्कार का काव्यात्मक चित्रण ही है -

" जब सपक जाती है सभी पलकें
कन्दरा - सी क्लांत लम्बी रात में
सिमट कर भीतर कहीं पर
संचयित कितने न जाने युग - क्षणों की
राग की अनुभूतियों के सार को आकार देकर
मुझ मेरी चेतना के द्वार से तब
निसृत होती है अयानी
एक नन्ही सी शिखा ।"[2] यहाँ भीतर कहीं पर संचयित कितने न जाने युग-क्षणों की राग की अनुभूतियों के सार' के द्वारा अज्ञेय वस्तुतः प्रागुबिम्ब की चिरनारी तत्व की - परिभाषा ही कर डालते हैं । प्रागुबिम्ब तो युगों से समान अनुभव की निरन्तर आवृत्ति से मन की गहराई में स्थिर रूप से अंकित या रूपायित मनोव्यापार - नियामक तत्व होते हैं ।[3] ये बाह्य वस्तुओं से गठित प्रतीकों में प्रविष्ट होकर साक्षात्कृत होते हैं अथवा प्रतीक उनको आकार देते हैं ।[4] चिरनारी तत्व भी ऐसा है । वह प्रेम,

---

1. पूर्वा : पृ.171.
2. पूर्वा : (नन्ही शिखा) पृ.171.
3. The primordial image (archetype) is a mnemic deposit, an imprint (engram) - semon) which has arisen through a condensation of innumerable similar processes. - Psychological Types. P. 55(
4. They (archetypes) draw the stuff of experience into their shape presenting themselves in facts rather than presenting facts. They clothe themselves in facts, as it were. Ibid. P. 37

रूप, आशा आदि में परिस्फुरित है और प्यार के आलम्बन में प्रतीकित होता है। इस कविता में 'मुझ मेरी चेतना के द्वार से' स्त्री सखी सी छिपा के समान ज्योतिर्मयी रूप से निहित दीपिकाली अर्थात भी इस आद्यनारी का चिरकुमारी रूप है जो कवि कहता -

" अमरता मेरे हृदय का प्यार है।"[1]

जीवन की प्रबल प्रेरणा, व आत्मा की अर्धांगिनी के रूप में आद्यनारी का चित्रण आषाढस्य प्रथम दिवसे' कविता में मिलता है। कालिदास के 'मेघदूत' के यक्ष के समान(प्रत्येक पुरुष यक्ष होता है।) कवि अपने आप को एकाकिता और नीरसता में पाता है और वे 'उसकी' उत्कट प्रतीक्षा में समय को बिता रहे हैं। उनका विश्वास है कि वह आएगी, जीवन सरस जायगा -

" वह आएगी -
मेरा दीप लेगी मौन
अपनी देह से
बहते स्नेह से
अभी सूखी रेत है पर हो जाएगा हरा,
गति - जीवित, भरा,
वायु धारा बन जाएगी -
धारा धानी - धानी है
पर मेरी तो वह नस - नस की पहचानी है।"[2]

---

1. पूर्वा (नदी सिखा) पृ.172.
2. "तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः।
आषाढस्य प्रथम दिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श।" मेघदूतम्. 2.

अज्ञेय के काव्य व्यक्तित्व के विकास के साथ साथ उनकी कविताओं में आद्यशक्ति विश्व भी उत्तरोत्तर निखर उठने लगता है । 'नव सर्जना में अपने को धीमे धीमे आनन्द मग्न होनेवाले कृतिकारों के अन्तर्गत में सृजनशक्ति के प्रेरक तत्व के रूप में जिस आन्तरिक सत्ता का अंकुर फूट पड़ता है और कृतिकार की जीवन के प्रति आस्थापूर्ण दृष्टि प्रदान करता है वह ममतामूलक तत्व यही आदिम प्रवाहिनी सत्ता है । अचेतन के गहन अन्धकार में छिपकर फिर जाग्रत रहनेवाली इस सत्ता की रागात्मकता ही मेघों की बिजली अन्धकार[1] में, तारागण से बनकर आनेवाली भीनी किरणों की शान्ति[2] में प्रतिबिम्बित मिलती है । फुटकी की लहरिल उड़ान[3] में कवि देख लेते हैं कि सान्ध्य - गगन में शाश्वत के मूक गान की स्वरलिपि अंकित हो रही है[4] तो उसका कारण भी इस चिरन्तन सर्जक शक्ति के अलावा कुछ नहीं है । अतीत की अस्पष्ट सुधि अनजानी मन्यार्थ प्रतीति का स्फुरण मालूम पड़ती है । इसप्रकार वह अनामिका सत्ता जो कवि ने प्रतिभा के प्रकाश में साक्षात्कृत किया है, कवि की कल्पना शक्ति का आधार है, और उसकी सौन्दर्य चेतना के जागरण के द्वारा स्वतः प्रमाणित है । यही अज्ञात पक्षपूर्ण जीवन को समर्पण के समतल में लाकर उसी स्वार्थ - रहित आस्था से आस्थापित करता है । विषमतापूर्ण जीवन के बीच में भी लोकोत्तर सुख के स्पन्दन की अनुभूति के पीछे भी यही सत्ता प्रवृत्त है । इसप्रकार मानव के व्यक्तित्व और कृतित्व की मूलभूत शक्ति और प्रेरणा यह अनादि नारी सत्ता है, कवि अनुभव करते हैं -

---

1. बन्दू धनु रोंदे हुए ये (व्यक्ति तुम ही) पृ.46.
2. वही वही पृ.46.
3. वही वही पृ.46.
4. वही वही पृ.46.

" तुम तुम हो, मैं - क्या हूँ ?
ऊँची उड़ान, छोटे वृत्तिक की लम्बी परम्परा हूँ,
पर कवि हूँ, द्रष्टा हूँ, दृष्टा दाता :
जो पाता
हूँ अपने को भट्ठी कर उसे गलाता चमकता हूँ
अपने को मट्ठी कर उसका अंकुर पनपाता हूँ
पुष्प - सा, सलिल सा, प्रसाद - सा,
कंचन - सा, शस्य - सा, पुण्य - सा
अनिर्वच आह्लाद - सा, लुटाता हूँ
क्यों कि तुम हो । "[1]

कृतिकार की प्रतिभा को उद्दीपित करने वाली कृति में व्यंजित दीनेवाली यह स्नेह - सत्ता जीवन को सरस और जीने योग्य बनानेवाली चिरसंगी है । उसका रूप प्रेमिल है । पुरुष के हारी बीता जाने पर भी वह पुरुष को प्यार करती ही रहती है। सूर्य हर बार धोखा दे चला जाता है, फिर भी नव सृजन को प्यार किए बिना रह नहीं सकता । यह स्त्री नानारूपों को अपनाकर राग जन्य सम्बन्धों के भूत - भूत तत्व के रूप में कवि के सामने उपस्थित होती है -

" यों नारी का, जो रजनी है, धरती है,
बच्चा है, माता है,
प्यार हर बार छला गया । "[2]

अन्तर्मुखित नारी चेतना की प्रेमिलता, काव्य पदार्थों में उसका परिष्कृत रूप, देवी सम्बन्धों की

---

1. रूपवती वधू रोती हुए ये (क्योंकि तुम हो) पृ.46 - 47.
2. रूपवती वधू रोती हुए ये (पुरुष और नारी) पृ.80.

आधारशिला के रूप में उसके अस्तित्व की प्रामाणिकता, - सब इस छोटी कविता में व्यक्त मिलती है । वह अज्ञेय के ही आन्तरिक नारी तत्व के चैतन्य को प्रकाशित करता है । और कविता के प्राणबिम्बीय आधार को स्पष्ट करता है ।

इस मनस्तत्व का प्रसादात्मक [illegible] 'तुम हँसी हो' [1] शीर्षक कविता में उद्घाटित मिलता है । उसकी हँसी की झाँकी जीवन के प्रत्येक आमोदपूर्ण मोड़ पर मिल जानेवाली है । अगर अवरुद्ध जीवन की घुटी को आलोकित, एवं ऊष्मल बनानेवाली चीज़ हँसी है, तो कवि को दूसरों से बाँध देनेवाली दया भी वही है । वह मनुष्य के अन्न कहे किन्तु अपने अन्दर अनुभूत संघर्ष के संदेश को समझ लेने की समर्थ बना देती है। अतः उसे

" हँसी की उज्ज्वल
दया की अनिमेष
धैर्य की अच्युत [2]

आप्त अतीव " कहकर कवि संबोधित करते हैं । तब ये हँसी, दया, धैर्य - सब एक ही चेतना से - तत्व से - उद्भासित सिद्ध होते हैं । वह चेतना कवि में अन्तर्भूत जीवनात्मा अथवा आद्यनारी तत्व है । पुरुष चित्त है, तो स्त्री उसकी शक्ति है। वह पुरुष की कार्यित्री शक्ति है । वह मरु की और अदृश्य घटी अन्तः सलिला है । अस्मिता से अलग हुए बिना यह प्रवाह असंभव है । प्राणबिम्ब के जागरण और साक्षात्कार के लिए अहंमुक्त चित्तात्मक अनिवार्य शर्त तो है ही । अस्मिता नीरस जीवन के मरुस्थल, को आर्द्र और उर्वरा बनाने से नारी को रोक लेती है । वह उस अन्तः सलिला की भीतर ही भीतर अवरुद्ध रह जाने को विवश कर देती है । - हमारा अहंकार

---

1. बन्दूक बनु रोपे हुए थे : पृ.92.
2. बन्दूक बनु रोपे हुए थे (तुम हँसी हो) पृ.93.

" मन की ओर अदृश्य लहरी
अन्तः सलिला की
सहज पुलक कहे बिन
फिर भीतर को मोड़ गए "[1]

अपनी काव्य यात्रा के बीच बीच में कवि अपनी 'आदिम प्रेयसी' के रोमानी रूप का साक्षात्कार पाते रहे हैं -

" गा रही थी एक दिन
उस ओर बेपरवाह
लोकमय सुहावनी, रूमानियत की चाह
- अवगुंठनमयी ठगिनी
एक मीठी रागिनी । "[2]

यौवन की अवस्था में वृत्तियों का विकास कर लेनेवाले कवि की भावुकता का रोमानी भावनाओं से रंजित होना स्वाभाविक है । यौवन आत्मोन्मुखता और व्यक्तिता की अवस्था है । उस स्थिति में उनकी संवेदनाएँ जीवन के यथार्थ से दूर और काल्पनिकता की अधिकता से भरपूर रहती हैं । यौवन की यह सहज वृत्ति उनकी सौन्दर्य चेतना को भी नियंत्रित करती है । वस्तुतः यौवन की आकर्षक बनानेवाली शक्ति वही सत्ता है जो उस अवस्था की सब से प्रबल चित्रकार के रूप में कवि के अन्तरतम के उस ओर पर बैठी बेपरवाह गा रही है । वह लोकमय, सुहावनी, रूमानियत की सहज प्रेरणा - स्वरूप बेपरवाह सत्ता ही यौवन सहज रोमानीवृत्ति, जीवन सम्बन्धी अतिभावुकता, सौन्दर्यात्मक दृष्टि, साहसी वृत्ति एवं बेपरवाही में प्रतिफलित होती है । कारण कि अपने साक्षात्कार-

---

1. रूपहू धनु रोंदे हुए ये (कवि के प्रति कवि) पृ.100.
2. अरी ओ करुणा प्रभामय (वही लम्बी राह) पृ.22.

फिलहाल उस अन्तःसत्ता की प्राप्त उन्मुक्त और उच्छृंखल अवस्था है यौवन । लेकिन आगे चलकर जीवन की प्रौढ़ता विगत दिनों की ओर दृष्टि डालने पर वे समझ लेते हैं कि वे मुग्ध थे, ठग गए थे, जीवन से वंचित थे । अतः एक समय लुभानी दीखनेवाली यह सत्ता अब कवि की दृष्टि में अवगुंठनमयी ठगिनी ठहरती है । उस चिरकुमारी के लोभनीय रागिनी रूप का गुप्त स्पन्दन पूर्ववत् मीठी तान - सा लगने लगता है । मीठी रागिनी में उस अवस्था की मधुरानुभूतियों की सुखद स्मृति पूर्णतः व्यंजित है ।

बाद में यह चिरन्तन सत्ता कवि के संवेदन के स्तर पर जिन्दगी के साथ एकात्मता प्राप्त कर लेती है । यह जीवन की आस्था, जिजीविषा, का रूप धारण करके उनकी सर्जनात्मा को नियमित रखती है । -

" जिन्दगी करती रही
मौन इशारे
हम पकड़ते रहे एकाकार को
किन्तु एकाकार चोला है
किन्तु एकाकार चोला है
किसी संकेत शब्दातीत का
जिन्दगी के किसी
गहरे इशारे का ।"[1]

शब्दातीत का यह संकेत किसी अनवद्य किन्तु अनुभूत आन्तरिक तत्व की ओर है । जिन्दगी स्वयं अपने नाना प्रकार के एकाकारों से उनके बीच के सम्बन्धों से, अपने पीछे छिपे किसी गहनतर अर्थ की ओर इशारा कर रही है । यह अर्थ सामूहिक अवचेतन में स्थित है

---

1. अरी ओ करुणा प्रभामय (इशारे जिन्दगी के) पृ.33.

आद्यनारी सत्ता से सम्बद्ध है क्योंकि वही आद्यामूलक रागात्मक तत्व ही विवेचिता के मूल में सक्रिय रहता है । अन्तश्चेतना के सबसे शक्तिशाली तत्व के रूप में, इस आधार, मनोविज्ञान ने इसे जीवन - बिम्ब (archetype of life) भी कहा है ।

यथार्थ जीवन के धरातल पर आने पर, वेदना, दुःख और कष्ट से-जीवन के दारुण पक्ष से कवि का परिचय हो जाता है । मानव का दयनीय रूप उनका आत्म सत्य हो जाने में देर नहीं लगती है । परिणाम स्वरूप, कवि के अतीतस्थ की चिरंतन शक्ति - अनिमा - मुखरित हो जाती है । उस मुखरित अन्तःसत्ता का अभिक्षेप कवि के किसी अपरिचित सहजीव पर हो जाता है तो वे अनुभव करने लगते हैं -

" क्यों ?
क्या उन में अतिरिक्त दर्द था
जो अतीत में मेरा परिचित कभी रहा
या मुझ में कोई आद्यास्मृति जागी थी
जिसकी मैं ने उन आँखों में पढा
कि जैसे सदा दूसरों में हम
जाने - अनजाने केवल
अपने ही को पढ़ते हैं ।"[1]

ठीक है, उनमें आद्यास्मृति का जागरण हुआ थी । वह आद्यारूप चिरन्तन से उनमें वर्तमान है । वह कवि के चित्त के निम्नतम पटल पर अंकित रागात्मिका सत्ता - चिर-नारी - का है । उस अपरिचित की आँखों में दर्द के बीच में परिचय का जो प्रकाश कवि ने प्राप्त किया, वह कवि का अपना है । अपना इसलिए कि वह कवि के अन्तराग में

---

1. अज्ञेय कवि-प्रणाम (चेहरे अनेक) पृ.39 .

स्थित इस स्त्री के कुंठाग्रस्त दयार्द्र रूप का साक्षात्कार ही है । वे आँखें कवि की अपनी अनिमा (आद्यनारी बिम्ब) की दर्दभरी आँखें थीं । उन आँखों में अपनी करुणार्द्र स्नेह सत्ता का अजोधपूर्वक क्षेपण ही हो गया था । उन्हीं के द्वारा - उन आँखों में पारि - स्फुरित दर्द के अनुभव से - वे सब के - समष्टि के - दुःख को समझ लेते हैं -

" वही अपरिचित दो आँखें ही
चिर माध्यम है
सब आँखों से, सब दर्दों से
मेरे चिर परिचय का ।"[1]

अहं के विलयन के निमिष में क्षण भर के लिए उभर आनेवाली यह चिरकुमारी कवि प्रतिभा को उन्मिषित कर देती है । नए आलोक से उनका संवेदन पल्लवित हो उठता है । अमृत के रस - कण झरने लगते हैं । कवि की वह चिरंतन दृष्टि होती है जो उन्हें मनीषी द्रष्टा बना देती है -

" धनी धुंध से काया निकली
क्षण भर में फिर
धनी धुंध में गई चली
उस क्षण में मुझ को आलोक मिला,
रस मिला, चिरन्तन दृष्टि मिली ।"[2]

धनी धुंध से निकलनेवाली काया अचेतन के अन्धकार से उभर कर क्षण में जानेवाली चिरंतनरूपी है । ब्रह्म साक्षात्कार के निमिष में साधक की है वैसी अवस्था कलाकार की भी होती है । ब्रह्म साक्षात्कार में, साधक

---

1. अरी ओ करुणा प्रभामय (चेहरे असंख्य) पृ.40.
2. वही (धनी धुन्ध से काया) पृ.66.

चित इस स्त्री के कुंठाग्रस्त दयार्द्र रूप का साक्षात्कार ही है । ये आँखें कवि की अपनी अनिमा (आद्यनारी बिम्ब) की दर्दभरी आँखें थी । उन आँखों में अपनी करुणार्द्र स्त्रैण सत्ता का अजोबपूर्वक क्षेपण ही हो गया था । उन्हीं के द्वारा - उन आँखों में पीड़ा - स्फुरित दर्द के अनुभव से - वे सब के - समष्टि के - दुःख को समझ लेते हैं -

" वही अपरिचित दो आँखें ही
चिर माध्यम है
सब आँखों से, सब दर्दों से
मेरे चिर परिचय का । "[1]

अहं के विलयन के निमिष में क्षण भर कौंधकर उभर आनेवाली यह चिरकुमारी कवि की प्रतिभा को उन्मिषित कर देती है । नए आलोक से उनका संवेदन पल्लू परिशीलित हो उठता है । अमृत के रस - कण झरने लगते हैं । कवि को वह चिरंतन दृष्टि संप्राप्त होती है जो उन्हें मनीषी द्रष्टा बना देती है -

" घनी धुंध से काया निकली
क्षण भर में फिर
घनी धुंध में गई चली
उस क्षण में मुझ को आलोक मिला,
रस मिला, चिरन्तन दृष्टि मिली । "[2]

घनी धुंध से निकलनेवाली काया अचेतन के अन्धकार से उभर कर क्षण में ही चेतन में खो जानेवाली चिरंतरूपी है । ब्रह्म साक्षात्कार के निमिष में साधक की जैसी स्थिति होती है, वैसी अवस्था कलाकार की भी होती है । ब्रह्म साक्षात्कार में, साधक अपनी आत्मा के

---

1. अरी ओ करुणा प्रभामय (चेहरे असंख्य) पृ.40.
2. वही (घनी धुन्ध से काया) पृ.66.

वह - बन्धन मुक्त शुद्ध, सात्विक और केवल रूप की आलोकित असीमता का अनुभव करता है और उस कैवल्य में अपनी अनश्वरता का - परमानंद का - सुवास - चख लेता है और एकात्मता की समन्वयात्मक दृष्टि उसमें स्थिर हो जाती है । मानव मात्र की एकात्मता को प्रमाणित करनेवाले सामूहिक अचेतन के इस स्थिर तत्व, नारी बिम्ब का साक्षात्कार भी कलाकार को मानव की आत्मसत्ता की विश्वरूपता व अनश्वरता का अनुभूति-मूलक ज्ञान प्रदान करता है । इस आत्मालोक से दीप्त कवि का अन्तस्तल प्रेम और करुणा के रस से आप्लावित हो जाता है । इसके द्वारा कवि जगत और जीवन के सम्बन्ध में प्रेम पर आधारित शाश्वत दृष्टि बना लेते हैं । इसप्रकार आद्यनारी बिम्ब का परि-स्फुरण कवि के परम प्रेम के क्षण की साक्षात्कार के जीवन की चरितार्थता (सार्थकता) समझने के पीछे, इसप्रकार कवि की सहज और अबोधपूर्वक प्राग्बिम्बोन्मुखता ही लक्षित होती है । कवि केलिए यह स्वाभाविक है क्योंकि यही रागतत्व - आद्यनारी बिम्ब ही - कवि की प्रतिभा को जगा देता है । वही अपूर्व आलोक किरण से कवि हृदय को आलोकित करता है । जिसे कवि आत्मलोक कहते हैं, वह यही है । कल्पना नहीं, राग चेतना का वही स्रोत भी है । कवि की चिरन्तन सौन्दर्य दृष्टि भी उससे गठित है । सबप्रकार के कला - व्यापारों के पीछे की प्रेरक शक्ति के रूप में यह कृतिकार के उदय - विकास और परिणाम का विधान करता है ।

निशा की नीरवतापूर्ण एकांतता में कवि के सिरहाने खड़ी यही छाया जो वक्तव्य प्रस्तुत करती है, उसके द्वारा कवि की अन्तस्थ पुरुष - प्रेरणा - स्वरूप श्रद्धालु नारी ही बोल उठती है जो तन्द्रिल स्वप्नावस्था में कवि को साक्षात् हुई है -

" तुम मेरे हो,
मैं कहीं रहूँ, यह मेरा स्नेह कवच सा तुम्हें ढके रहता है,

- -

मैं कुछ कहूँ, मेरी कामों में तुम दोनों की प्रतिकृतियों का स्पन्दन है,
मैं कुछ कहूँ, मेरी अन्तस् में अगुरु - धूम सी
मंगल आशीसाएँ उठती रहती है अविराम,
तुम सोओ, जागो, कर्म करो, हो विरत,
सर्वदा सब में मैं हूँ
तुम मेरी अग्नि शिखा हो -
यह देखो मेरी अर्द्धांजलि : यह एक साथ
है उसे बचाती और सौंपती
और स्निग्ध उसकी गरमाई से पुरती भी जाती है ।"[1]

" तुम सोओ, जागो, कर्म करो, हो विरत, सर्वदा सब में मैं हूँ" कहकर निद्रा और जाग्रत में कवि के सभी व्यापारों के पीछे - नहीं, उनमें संचलित होकर - कवि के जीवन की शक्ति और प्रेरणा बनकर उन्मेषदायिनी अदृश्य संगिनी के समान रहनेवाली यह छाया वह चिरनारी है जो अचेतन में अदृश्य रूप में वर्तमान प्रेमतत्व है । कवि की प्रेमिका में उसका साक्षात्कार हो चुका था । मृत्यु हो जाने पर वह आज कवि की स्मृतियों में जीवित रहती है । अपार्थिव अस्तित्ववाली प्रेमिका अब कवि की स्नेह सत्ता से तादात्म्य पा गई है । वह चिरना के गुणों से मण्डित है कवि में । उस चिरनारी में कवि अपनी पूर्णता पाते हैं । कवि उसकेलिए अग्नि शिखा है जिससे लिपटकर वह अपने प्रेम की पूर्णता पाती है । साक्षात्कार के लिए आकुल अन्तर्यामी नारी तत्व का स्वभाव इन शब्दों में पूर्णतः व्यंजित है । वह प्यार के भाव है । वह हमेशा अपने पूरक पहलु को प्यार के बन्धन में जकड़े रखना, उसे पूर्णतः अपनाना चाहती है ।

---

1. अरी ओ करुणा प्रभामय (रात और दिन) पृ.142 - 43.

' तुम मेरे ही
मैं कहीं रहूँ, यह स्नेह कवच सा तुम्हें ढके रहता है ।"

की उद्गार में यह अनन्यता और घनिष्टता प्रकट होती है । कवि के मन में लिखित उत्कट प्रेमवांछा - चिरकुमारी तत्व - का यह अबोधपूर्वक अभिव्यंजन उनकी स्नेह - सत्ता की जागृति का परिचायक है ।

नारी सत्ता जिजीविषा है । जीवन की प्रेरणा है । वह सागर की आन्तरिकता की - अन्तस् की - प्रमाणित करनेवाली मछली है । मानव जीवन की तड़पती आन्तरिकता नारी - सत्ता की देन है ।

' बना दे, चितेरे '[1] कविता में

" बिजुलता की कौंध की तरह
अपनी व्यस्ता की सारी आकुल तड़प के साथ उछली हुई
एक अकेली मछली "[2] की माँग तो इस स्नेह सत्ता से उद्भोरित है क्योंकि मछली स्वयं चिरनारी सत्ता का प्रतीक है जिस में वह साक्षात्कृत होती है ।

नारी ममता मोही है, प्रेमाग्रही है । वह हमेशा अपने प्यार के साक्षात्कार केलिए उत्कंठित रहती है ।

" बनी हुई धूप की सुनहली बनी की बीन,
तिनके की लघु बनी मनके - सी बींध, गूँथ, फेरती, सुमिरनी,
पूछ बैठी :
कहाँ, पर कहाँ वे ममतामयी बाहें ? "[3] में इस चिरनारी की यही

---

1. आँगन के पार द्वार : पृ.12.
2. आँगन के पार द्वार : (बना दे, चितेरे) पृ.13.
3. आँगन के पार द्वार : (परायी राहें) पृ.23.

आकांक्षा प्रतिफलित है । ममतामयी बाहों का अन्वेषण और कौन करेगा ?

हमने पहले देखा कि कवि के अन्तस्थ चिरनारी बिम्ब उनकी प्रेमिका में प्रतीकित हुआ था । उस प्रेमिका की मृत्यु ने अज्ञेय के अन्दर आद्यनारी बिम्ब के नष्ट की शून्यता का बोध उत्पन्न कर दिया । आर्किटाइप का नष्ट कोई सह नहीं सकता क्यों कि उसका अर्थ अस्तित्व का आधारहीन होना है । इस नष्ट - बोध का आभास कालान्तर में उनकी रहस्यात्मक आध्यात्मिक उद्गारों में मिल जाता है -

" अरी ओ आत्मा री
कन्या भोली क्वारी
महाशून्य के साथ भाँवरें तेरी रची गईं ।
. . . . . .
जा आत्मा जा
कन्या - वधु का
उसकी अनुगा
वह महाशून्य ही अब तेरा पथ
लक्ष्य, अन्न - जल, पालक, पति,
आलोक , धर्म :
तुझ को वह एकमात्र सरसाएगा । "[1]

अज्ञेय के निसंग - मनेतर की परिकल्पना के मूल में किसी आन्तरिक अदृश्य सत्ता का सान्निध्य कवि अनुभव करते है -

---

1. आँगन के पार द्वार (चक्रान्त शिला 12) पृ.52.

" मैं ने तुम्हें देखा है
असंख्य बार
मेरी इन आँखों में बसी हुई
काया उस अनवद्य रूप की ।"[1] लेकिन जिसकी यह काया है वह पूर्णतः ज्ञात नहीं है । वह प्रति निमिष रूप बदलती है । एक क्षण में कवि को लगता है कि उन्होंने उसे जान लिया है । लेकिन अगले निमिष में वे समझ लेते हैं कि उनकी जानकारी गलत है । कवि का यह प्रस्ताव भी कि " मैं ने तुम्हें देखा है, सच नहीं है क्योंकि आगे वे स्पष्ट करते है -

" देख मैं सका नहीं
दीठ रही ओढ़ी, क्यों कि तुम समग्र एक बिंब हो
छू सका नहीं ।"[2]

इस प्रकार उस सत्ता को दृश्य और दृग्गोच्य ठहराकर उसे पकड़ पाने में अपनी असमर्थता वे प्रकट करते हैं । यह कोई रहस्यात्मक तत्व है । उसका सम्बन्ध किसी बाहरी स्थूल वस्तु से नहीं हो सकता, प्रत्युत कवि के अपने अन्दर की किसी रहस्यात्मक सत्ता से ही सिद्ध होता है । कवि के ही वचन उस सत्ता की प्रत्यभिज्ञेय अमूर्त रूप को प्रकाशित करते है । यह मानव में सहज आद्यनारी बिम्ब है जो उसके ज्ञान के परे अचेतन के अन्धकूप में छिपे रहता है क्योंकि स्वयं कवि ही उसकी सौम्य विशेषताएँ स्पष्ट करते है -

" अधूरा रहा स्पर्श क्यों कि तुम तरल हो, वायवी हो,
पहचान सका नहीं, तुम

---

1. कितनी नावों में कितनी बार (जो निसर्ग समेतर) पृ.18.
2. वही वही पृ.20.

मायाविनी, कामरूपा हो ।"[1] ये पंक्तियाँ, जैसे पहले कई बार स्पष्ट किया गया, आद्यनारी बिम्ब की सभी प्राग्बिम्बीय विशेषताएँ प्रकाशित करती हैं । तरल, वायर्व मायाविनी, कामरूपा ये सब स्त्रैण - सत्ता की प्रकृति के अनुरूप है ।

स्त्रैण सत्ता के चिरंतनी रूप का समावेश अज्ञेय के निसर्ग ममेतर में हो पाया है । निसर्ग ममेतर कवि के अनुभूति - प्रत्यक्ष लघु मानव का महत्तामूलक प्रतिष्ठित रूप है तो वह उसी समय उनकी काव्य चेतना की प्रेरक शक्ति भी है । अतः ममेतर में लक्ष्य और प्रेरणा दोनों सम्मिलित हैं । यह, दूसरे शब्दों में, प्राग्बिम्बीय स्थिति है । प्राग्बिम्ब प्रतीकों का प्रेरक तत्व है और प्राग्बिम्ब का लक्ष्य भी प्रतीक है । प्रेरक तत्व के रूप में चिरनारी की उपस्थिति ममेतर में कवि को सदैव है, अनुभूत है । उस से ही कवि का कृतित्व प्रस्फुटित होता है -

" और ओ आख्यात मेरी ।
ले गई प्रत्यभिज्ञा मुझे उस उत्स तक
जिसकी पीयूषवर्षी, अनवद्य, अद्वितीय धार
मुझे आप्यायित करती है ।"[2] ममेतर की इस प्रत्यभिज्ञेयता में उसकी प्राग् - बिम्बीयता और स्पष्ट होती है ।

वह कवि में जन्म जात है, व्यक्तित्व का अंश है, वह सौन्दर्य - तत्व है, यौवन का स्थिर तत्व है, और मानव की सर्गात्मक शक्ति की प्रेरणा है -

" ओ सहजन्मा, सहसुभगा,
निर्व्याजा,
सहभोक्ता,

---

1. कितनी नावों में कितनी बार (ओ निसर्ग ममेतर) पृ.20
2. वही वही पृ.22.

सहजीवा, कल्याणी ।"[1]

'सागर मुद्रा 2'[2] शीर्षक कविता में, सागर की अपारता से अभिभूत - सी उसके तट पर खड़े कवि की ओर दौड़ती हुई आनेवाली नामहीन नारी उनसे पूछती है - ,"तुम - तुम सागर क्यों नहीं हो ।[3] सागर की विशेषताओं का बखान करते हुए वह कहती है -

" देखो न, सागर बड़ा है, चौड़ा है,
जहाँ तक दीठ जाती है, फैला है,
मुझे घेरता है, धरता है, सहता है, धारता है, भरता है,
लहरों से सहलाता है, दुलराता है, झुमाता है, झुलाता है,
और फिर भी निर्मम मुक्त रखता है, मुक्त करता है -
मुक्त, मुक्त, मुक्त करता है ।"[4] फिर वह सागर की लहरों के बीच पहुँच जाती है, हँसती हुई, मुड़ती हुई, दौड़ती हुई, उछलती हुई ।

सागर की विशाल गंभीर वास्तविकता के सामने उपस्थित कवि का मन उसकी तरंगित विराटता की क्षयमान सौन्दर्य में तल्लीन हो गया, तो अजीबपूर्वक उनके अचेतन के मुक्त द्वार से बहिष्कृत स्त्रैण सत्ता - चिरकुमारी - का तादात्म्य उस सौन्दर्य से हो जाता है । (- सागर - भंगिमा पर कवि के नारी बिम्ब का अभिक्षेप हुआ ।) सागर के सर्वथा मुक्त और खुले सौन्दर्य की अनुभूति में कवि तल्लीन हो गया तो सागर के, लहरों पर डोलायमान रहनेवाले सागर के चैतन्य पर कवि की अन्तश्चेतना में छिपी चिरनारी सत्ता का अभिक्षेप सहज ही होने में देर नहीं लगी । यही कारण है कि वह सौन्दर्य स्त्री - रूप को धारण करता है । हमने पहले ही देखा कि अज्ञेय में लययुक्त गति की ओर

---

1. कितनी नावों में कितनी बार (जो निस्संग ममेतर) पृ.22.
2. सागर मुद्रा : पृ.66.
3. सागर मुद्रा (सागर मुद्रा 2) पृ.66.
4. वही वही पृ.66.

दुर्दान्त आकर्षण बचपन से ही रहता था । अतः अज्ञेय के पक्ष में इस लययुक्त सागर - सौन्दर्य में चिरन्तन नारी का साक्षात्कार स्वाभाविक ही दिखता होता है ।

लहरों के बीच से बाहें बढ़ाते हुए दौड़ती हुई आनेवाली यह कवि के सामूहिक अचेतन से उभर आनेवाली चिर कुमारी ही है क्योंकि सागरती अचेतन का प्रतीक है । सागर कन्या के द्वारा कवि से यह प्रश्न कि " तुम सागर क्यों नहीं हो ।" वास्तव में अपने चित्त के गहन, अन्धकारपूर्ण अन्तस्तल के दुस्तर पक्ष के चिर लाभ - व्यक्ति के चिरन्तन अंश के साक्षात्कार - केलिए कवि की सहज प्रागबिम्बीय प्रेरणा का निदर्शन ही है वह चिर नारी - सत्ता की पुकार ही है । कवि का अन्तर्मन ही कवि से पूछ रहा है । ठीक है, कवि के इसप्रकार सागर बनने पर ही; कवि की आत्मवत्ता के सागरीय - दिक्कालातीत व्यक्ति - निरपेक्ष सामूहिक अचेतन - के उद्घाटन से ही; (कवि की अस्मिता के विलयन के द्वारा संप्राप्त सामूहिक अचेतन के जागरण से ही) आद्य नारी सत्ता जैसे प्रागबिम्बों का साक्षात्कार संभव हो सकता है । अतः यह प्रश्न - ' तुम सागर क्यों नहीं हो '- सागर कन्या के रूप में कवि के अन्दर जागृत चिर तरुणी का ही है । कवि की काव्य - प्रेरणा की पुकार ही है । कला - सृजन के पीछे अपने चेतन मन के सीमित दायरे से मुक्त होकर सागर - तुल्य, अपार, सृजन शक्ति के रहस्यों से पूर्ण व्यक्तयातीत अचेतन पक्ष से कृतिकार को तादात्म्य प्राप्त करना है, यह मनोविज्ञान - सम्मत है ।

यही नहीं, सागर की विशेषताएँ जो इस कविता में वर्णित हैं वे सब सामूहिक अचेतन के स्वभाव को स्पष्ट करनेवाली है, या सामूहिक अचेतन की विशेषताएँ ही हैं, यह विशेष द्रष्टव्य है । सागर की अपारता (" देखो न सागर कहाँ है चौड़ा है, जहाँ तक दीठ जाती है फैला है ") का वर्णन सामूहिक अचेतन की देशकालातिवर्ती सीमा-हीनता को द्योतित करती है तो सागर कन्या और सागर के बीच के सम्बन्ध का विवरण अपने जन्य - जनक स्वभाव के द्वारा अचेतन में प्रागबिम्ब की स्थिति को स्पष्ट करता है ।

मातृ - शिशु सम्बन्ध का जो आभास इसमें प्राप्त है, वह सामूहिक अचेतन की सृजनशीलता का परिचायक है । अचेतन की इस गहराई में ही मानव की मनीषा जन्म लेती है । मनीषा को प्रेरित करनेवाली, मानव के समस्त ज्ञान में परोक्ष रूप में सन्निहित होनेवाली सत्ताएँ हैं प्राग्बिम्ब । वे अचेतन में निहित हैं, वे ही अचेतन के निम्नतम पहलू को सामूहिक महत्व प्रदान करते हैं । अण्डे के साथ ही मातृत्व सार्थक होता है, प्राग्बिम्ब का सान्निध्य ही सामूहिक अचेतन को सर्जक बना देता है । दोनों अभिन्न हैं एक दूसरे से, फिर भी प्राग्बिम्ब को अचेतन दबाए रखता नहीं । उसके साथ ये स्त्रीतत्व निर्बन्ध मुक्त हैं और उस मुक्तावस्था में उनका अलग व्यक्तित्व लक्षित होता है । प्राग्बिम्ब के इसी मुक्त व्यक्तित्व युक्त अभेद्य सम्बन्ध को ही सागर कन्या सागर के साथ अपने सम्बन्ध के द्वारा स्पष्ट करती है ।-

> " मुझे घेरता है, धरता है, धराता है, भरता है,
> लहरों से सहलाता है, दुलराता है, झुमाता है, झुलाता है,
> और फिर भी निर्बन्ध मुक्त रखता है, मुक्त करता है -
> मुक्त , मुक्त, मुक्त करता है ।"[1]

सागर कन्या के इन शब्दों में माता के समीप, माता के आश्रय में अण्डे की निश्चिन्त व उन्मुक्त अवस्था और उसके पास प्राप्त होनेवाले व्यक्तित्व विकास के अवसर आदि की सूचना के जरिए सामूहिक अचेतन में प्राग्बिम्ब की सामान्य स्थिति का व्यक्त चित्र प्राप्त हो जाता है । उसके अतिरिक्त, सागर कन्या से प्रदर्शित जाग्रत प्रेमभावना की हिलारों पर आन्दोलित होने की चाह और दुलार पाने की स्त्री - सहज आकांक्षा से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वह कवि के चित्त में निहित नारी तत्व का प्रतीकात्मक रूप ही है । वह कवि - हृदय की सौंदर्य - चेतना का, प्रेमभावना का, सृजन शक्ति का और कोमल भावनाओं का उद्गम है।

---

1. सागर मुद्रा (सागर मुद्रा 2) पृ.66.

इस प्रकार, प्रस्तुत कविता में सागर सामूहिक अचेतन और सागर कन्या स्त्रेण - बिम्ब के प्रतीक बनकर आये है । दीठे में, इसमें कवि के अन्तश्चेतनागत नारी तत्व के प्रातिभज्ञानाधिष्ठित साक्षात्कार का भावित चित्रण मिलता है ।

आद्यबिम्ब अरूपी है, अतः अव्यक्त है । इनमें बहुत ही शक्तिशाली बिम्ब आद्यनारी है । अतः जैसे सामान्यतः प्रागबिम्बों का पूर्ण साक्षात्कार असंभव है, स्त्रेण सत्ता का भी पूर्णरूप से अभिव्याप्त किसी पर किसी भी हालत में हो नहीं सकता । स्वयं कृष्ण ने भी गोपिका को प्यार नहीं किया, बल्कि गोपिकाओं को । वह भी एकबार नहीं, अनेक बार । यह इस बात की ओर संकेत करता है कि कृष्ण अपनी नारी - सत्ता का स साक्षात्कार एक ही स्त्री में पूर्णतः नहीं पा सके । सब में उन्होंने उसको ढूंढा । बारी बारी से ढूंढते रहे । यह अन्वेषण अविराम और अनन्त है । इस अन्वेषण में ही, उत्तरोत्तर विभिन्न रूपों में उसके साक्षात्कार में ही, कृष्णत्व की पूर्णता निहित है । कृष्ण वास्तव में पुरुष तत्व है, पुरुषत्व है । वह व्यक्ति का एक पहलू मात्र है । कृष्णत्व की पूर्ति राधा-तत्व के संयोग में है । राधातत्व कृष्ण के - पुरुष के - अन्दर स्थित तरुणी-तत्व है । उसके साक्षात्कार की कहानी, उसकी प्रेरणा का स्थूल रूप ही जीवन का इतिहास है । अतः वह जीवन की शाश्वत प्रेरणा है, सौन्दर्य चेतना के नवीकरण का हेतु है इसप्रकार वह पुरुष के अन्तर्मन में वर्तमान रहकर, पूर्ण - प्राप्ति के वेग हुए बिना, बाह्य वस्तुओं, और व्यक्तियों पर (स्थूल जगत पर) अभिक्षिप्त होती रहती है । साहित्यादि कलाओं और वैज्ञानिक या बौद्धिक उपलब्धियों का (क्यों कि ये सब प्रातिभज्ञान से संबन्धित है) मूल उत्स भी इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है । इसे उसकी सभी विशेषताओं के साथ कवि निम्न पंक्तियों में चित्रित करते है -

---

" कन्हैयाने प्यार किया कितनी गोपियों को कितनी बार ।
पर उड़ेलते रहे अपना सारा दुलार
उस एक रूप पर जिसे कभी पाया नहीं
जो कभी हाथ आया नहीं ।
कभी किसी प्रेयसी में उसी को लिया होता -
तो दुबारा किसी को प्यार क्यों किया होता ?
कवि ने गीत लिखे नए नए बार बार
पर उसी एक विषय को देता रहा विस्तार
जिसे कभी पूरा पकड़ पाया नहीं
जो कभी किसी गीत में समाया नहीं ।"[1]

मानव जीवन में इस तत्व की दुर्निवारता एवं प्रबलता रागात्मक सम्बन्धों से प्रमाणित है तो उसकी प्रकृति की अव्याख्येयता और विशालता व्यक्ति के प्रेम - सम्बन्धों की एकनिष्ठता के भेग में, तथा साहित्यादि कलाओं में चिरन्तन विषय के रूप में उसकी सार्वकालिकता में लक्षित है । हर्बर्ट रीड जब कहते हैं कि कविता के उदय से ही रोमांटिक प्रवृत्ति उसमें विद्यमान है और वह कविता का शाश्वत तत्व है,[2] तो वे कविता के मूल में इस चिरंतन स्नेह - तत्व की अनिवार्यता को मंजूर करते हैं । कारण कि कविता में रागात्मक तत्व की अनुपेक्षणीयता तर्क के परे है । यही नहीं संसार के कृतिकारों की प्रतिभा के उन्मेष का आरंभ प्रेम और सौंदर्य की अनुभूतियों से सम्बद्ध होकर ही दिखाई देता है । हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल में पंत, निराला, प्रसाद, महादेवी आदि कवियों की

---

1. सागर मुद्रा (कन्हैया ने प्यार किया) : पृ.38.
2. Romanticism was and is a universal phenomenon .....
   Romanticism is as old as art itself.
   Herbert Read: True Voice of Feeling. P. 15

कविताएँ तो प्रेम को ही मुख्य विषय बनाकर आगे बढ़ी है । अज्ञेय भी प्रकृति की साध्यवती मूरत से अभिभूत होकर रचना - क्षेत्र में उतरे हैं । अज्ञेय में यह अन्य कवियों के समान काल - सापेक्ष नहीं है । वह गुप्त तार उनकी रचनाओं में आद्यंत अक्षुण्ण मिलती है ।

नष्ट प्रणय की समाधि पर खड़े बिलखनेवाले कवि की उद्गारों में विधुर-विलाप का अनुरणन मात्र वहीं सुनाई देता, अपितु प्रिया के होने के साथ कवि की चेतना की आन्तरिक चालक शक्ति - स्नेह - सत्ता के लुप्त होने की वेदना भी व्यंजित है -

" तुम्हारी चाल के संग संग
मेरी चेतना विहरती रही । "[1]

कवि की प्रेमिका, जैसे हमने पहले देखा, उनके अन्दर की स्नेह - सत्ता का प्रतीक बन गई थी । उनके नारीतत्व का साकार रूप थी वह । उसका वियोग स्वाभाविक कवि के अन्दर प्राणबिम्ब - स्नेह - सत्ता - के नष्ट की शून्यस्थिति उत्पन्न कर देता है । इस स्नेह - सत्ता - के उच्छलन के अनुसार ही कृतिकार की संचेतना जाग्रत हो जाती है, परिचालित हो जाती है । उसका विलयन कृतिकार की मृत्यु है । प्राणबिम्ब का नष्ट कोई सह नहीं सकता है ।

इस आन्तरिक स्नेह - तत्व का नष्ट होना जीवन बाह्य और आभ्यंतर दोनों पक्षों में मरुस्थल बनना है । 'नन्दादेवी' की छठी कविता में आधुनिक यंत्र सभ्यता की भवितव्यता की भीषणता की ओर संकेत करते हुए कवि यही स्थापित करते हैं । नन्दा मनुष्य के भीतर की रागात्मक चेतना का प्रतीक है । उसकी अवहेलना करके मानव - संबंधों

---

1. पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ(वन - झरने की बाट) पृ.21.

की यांत्रिक दृष्टि से अकिने, कोमल भावनाओं और स्वस्थ सम्बन्धों से बनी सद्भावनाओं की भीनी महक से परिव्याप्त मानव जीवन की हरी भरी तराई को अप्राकृतिक, कृत्रिम सभ्यता की विनाशकारी बाढ उजडा देगी ।

" नन्दा
जल्दी ही
बीस - तीस - पचास बरसों में
हम तुम्हारे नीचे एक महफिल चुके होंगे
और तुम्हारी उस नदी धौत सीटीवाले मंदिर में
जला करेगा
एक मद्ध - दीप ।"[1]

प्राणबिम्ब - खासकर चिर रागतत्व - स्नेह सत्ता के प्रति कवि की इस भविष्य वाणी में आद्यबिम्बों के नष्ट की भीषण अवस्था ही चित्रित की गई है । वह अवस्था आधार - हीनता और शून्यता की होती है ।

वर्ग - स्मृतियों से कट जाने की खतरनाक अवस्था से संत्रस्त मानव के अन्दर उसे भयमुक्त करने केलिए और अभयस्थ बनाने केलिए वही करुणामयी प्रेमिल प्रेरणा-स्वरूप नारी - कवि में जाग्रत होती है और उन्हें समझाती है -

" मैं तो
तुम्हारे भीतर कभी सोई नहीं हूं
तुम न बोलो, पर मैं कभी सोई नहीं हूं ।"

---

1. पहले मैं सन्नाटा बुनता हूं (नन्दा देवी)6) पृ.65.

कभी न नष्ट होनेवाली, चिर जाग्रत नारी सत्ता ही नंदा के मुँह से इसप्रकार बोल रही है । संस्कृति के हास पर, रागात्मक वृत्ति के क्षय पड़ने पर व्यक्ति और जाति को सन्तुलित, गतिशील और स्वस्थ रखने केलिए इसका सत्व विकीर्ण होता ही रहता है । वह खोजने पर (बौद्धिक अन्वेषण से) प्राप्त नहीं हो सकता । प्रतिभाशालियों के अन्तर्गत में तारे के समान अनजाने ही उदित होता है । चिरकुमारी की विद्यमानता, जैसे अन्यत्र सूचित किया गया, जीवन के चैतन्य का रहस्य है । उसकी अवहेलना जीवन की उपेक्षा है । उसकी पहचान और उसके निर्देशों की समग्र मानवराशि को गौरवान्वित करती है, उसकेलिए हितकार है । कवि का अन्तः चक्षु चित्त के इस अन्धकारपूर्ण पक्ष्म के अन्तर्हित तत्वों का मानवास्तित्व में स्थान अनुभव कर सका है । अतः कवि - शब्दों में चिरनारी कहती है मानव को आश्वासन देती है -

" मैं हूँ तो
तुम्हारा माथा
कभी भी नीचा क्यों होगा । "[1]

इसप्रकार नन्दा अज्ञेय केलिए एक जड़ चोटी नहीं, बल्कि कवि - चित्त की अतल गहराई में चिर - जाग्रत चिरन्तन नारी - तत्व का प्रतीक है जो जीवन की तराई को सरस ही नहीं, हरीतिमा पूर्ण शीतल वनस्थली बना देती है ।

अज्ञेय के रचना - व्यक्तित्व की आर्यत सजीवता और सरसता से आकर्षक बनाए रखनेवाली स्त्रैण - सत्ता के साक्षात्कार की अनुभूति उनकी काव्य - यात्रा में लगातार व्याप्त होती है । सपने में आकर कवि के गालों का चुम्बन कर उन्हें सिहरा कर चली जानेवाली अयानी भी स्वप्निलावस्था में अचेतन से उभरकर कवि के चेतन का स्पर्श कर विलीन

---

1. पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ (नन्दादेवी - 15) पृ.76.

ही जानेवाली आद्यनारी सत्ता ही है । उसका सामीप्य और स्पर्श कवि की प्रतिभा को उत्तेजित करते हैं । कवि का अन्तरतम पुलकित, स्वं हर्षित हो उठता है । असम-दर्शन की अनुभूति का अनुभव उन्हें प्राप्त होता है -

" सपने में गीली अलकें
अनजानी की मेरे चेहरे का
पलकें लौट लौट सहला
मुझ पर झुकी मुझको सिहराकर
गाल मेरे निकल गईं ।
पुलकाती सरक गईं निकल गईं
. . . .
ठगा , ठगा ।[1]

इसप्रकार की अव्यक्त किन्तु दुर्निवार प्रभाव से सम्पन्न स्त्रैण सत्ता का चित्रण और प्रकटन अज्ञेय के काव्य में कई स्थानों पर देखने को मिलता है । ऐसे चित्रण यद्यपि वैयक्तिक जीवन के साधारण अनुभवों पर आधारित हैं, फिर भी वे समूचे काव्य - कलेवर के अभिन्न अंग के रूप में स्थूल अर्थ से परे सूक्ष्म और गहरे मानसिक पटल का संस्पर्श करते हैं । वहीं कविता का अर्थ - माधुर्य पूर्णतः अनुभूत भी हो सकता है ।

यह स्त्रैण - तत्व पुरुष के व्यक्तित्व (personality) का अनुपूरक अंश है । व्यक्तित्व को वह साकल्य प्रदान करता है । अतः वह पुरुष के आत्मतत्व (soul image) का अंग है । वस्तुतः इस चिरन्तन मनस्तत्व के साक्षात्कार का परिश्रम ही मानव जीवन की कहानी है । जीवन की गति, उमंग और

---

1. महावृक्ष के नीचे (सपने में) पृ.30.

सरसता प्रदान करनेवाली है नारी। श्रद्धा से भेंट ने ही आदिमानव मनु के जीवन में बड़ा भारी परिवर्तन कर डाला था। वह पुरुष की प्रेरणा है, चालक शक्ति है। यह सब इसलिए कि वह प्रेम स्वरूपा है, आकर्षकतत्व है। इस चिरंतन तत्व के अभाव में जीवन वीरान पड़ जायगा। अतः प्रेम वह शक्ति है, जो जीवन की झुलसते मरुस्थल के बदले लह लहाती हरीतिमा से लबालब वन वल्ली बना दे सकी है। अनबुझी रागात्मक चेतना की यह अनादि सत्ता मानव की अन्तराग सहेली है। उसका चित्रण अज्ञेय में प्रचुरता के साथ उपलब्ध होता है। और इन सभी विशेषताओं को वह प्रकट भी करता है।

छाया बिम्ब (Archetype of shadow)

अपने सृजनात्मक जीवन के विकास - पथ में जिस प्रकार आद्यनारी बिम्ब का साक्षात्कार अज्ञेय की कविताओं में होता रहा है, उसीप्रकार विपरीत जीवन - परिस्थितियों के सम्पर्क में गठित निषेधात्मक मनोभूमि में उन्हें अपने अन्तर्भूत नकारात्मक, छायामय अपररूप[1] से भी कई बार मुलाकात करनी पड़ी है। अपने कृतित्व की प्रारंभिक दशा में ही उसका जागरण अज्ञेय काव्य ने व्यक्त किया है। यौवन सहज प्रत्याख्यान कृति से प्रेरित होकर परम्परागत, वाद की स्वतंत्रता से वंचित निरूपाधिक समर्पण पर अधिष्ठित भक्ति में ईश्वर के मानव - भाग्य - विधायकत्व को धिक्कारते हुए अज्ञेय का ऊपर रूप पहले पहले काव्य में लक्षित होता है। वे देवता से कहते हैं -

---

1. By shadow I mean the negative side of the personality, the sum of all those unpleasant qualities, we like to hide together with the insufficiently developed functions and the contents of the personal unconscious - Jung: Collected Works, Vol.7. P. 65

" कानन का सौन्दर्य लूटकर
सुमन चुन्ट के करके
की सुरभित नीहार कणों से
अंचल में मैं भरके "[1] तुम्हारे सम्मुख आऊँगा । लेकिन उन फूलों को देव शीर्ष पर सजा रखकर भक्तोचित निर्वृति पाने केलिए वे वहाँ नहीं आते हैं । उन्हें देव - पद पर चढा कर भक्ति का निवेदन करना भी उनका लक्ष्य नहीं । फूल लेकर वे इसलिए देव के सामने आ जाते हैं कि सुमनों को देखकर देव ललचा उठे । देव को ललचाकर उनके देखते देखते उन फूलों को तोड मरोड़कर जमीन पर बिखेर कर पैरों तले कुचला देंगे ।

" तोड़ - मरोड़ अपने में
पथ में बिखराऊँगा ,
पैरों से फिर कुचल उन्हें, मैं
पलट चला जाऊँगा । "[2]

इसप्रकार देव को हताश और अपमानित करना ही कवि का उद्देश्य है । कवि के मन में देव के प्रति जगी हुई इस प्रतिशोध - भावना और ईर्ष्या में प्रथित भक्ति भावना ही कुचला दी जाती है । उपास्य और उपासक के बीच का मोहमुक्त और स्वार्थ रहित रागात्मक सम्बन्ध यहाँ टूट गया है । कवि उपास्य की निन्दा इसलिए करते हैं कि

" क्यों, मैं ने भी तेरी हार्दी
सदा यही पाया है -

---

1. पूर्वा : (नहीं तेरी चरणों में) पृ.26.
2. वही वही पृ.26.

सदा मुझे जो प्रिय था उसको
तू ने ठुकराया है । "[1]

अदृष्ट के निर्णय को स्वीकार करके नियंता पर दृढ विश्वास और आस्था रखनेवाले निश्चित साधक का परम्परागत रूप यहाँ खण्डित पड़ जाता है । बदले, भक्त में लेन - देन की व्यापारी वृत्ति की वृद्धि और तज्जनित लाभ - लाभ - विचार पर आधारित वणिक् - चेतना का जागरण का स्पष्ट अभिव्यंजन हो चुका है । यह कवि के छायापूर्ण अन्वे वस्तु के - छाया - बिम्ब के - नकारात्मक कार्य (व्यापार या कर्म) का दृष्टान्त है ।

बाह्य वस्तुओं और परिस्थितियों से रचित प्रतीकों के द्वारा इस नकारात्मक पक्ष के साक्षात्कार का अन्तश्चेतना की क्षतिपूर्ति की समर्थता में बड़ा हाथ है । व्यक्तित्व की स्वस्थता नितांत आवश्यक है । नकारात्मक शक्तियों के प्रताडन से व्यक्तित्व के प्राचीरों का टूट जाना संभव है । उस दुरन्त से उसे मुक्त रखने केलिए यह अनिवार्य है कि आत्म,- भर्त्सना की छाया में अरमान सुला - सुला बिखर जाये । इसलिए कवि चाहते हैं कि मैं अन्धकार में मेरा अन्धा पक्ष त्रस्त रहे विजित व्यथा से । तज्जनित धैर्य्य, पराजय बोध और उदग्र शत्रुता से मेरी मुक्ति हो -

" भग्न गेह की टूटी प्राचीरों का कर फिर से निर्माण
आत्म - भर्त्सना की छाया में सुला - सुला बिखरे अरमान । "

अन्धकार में तड़प तड़पकर मुझ को अब सो जाने दो
विजिगीषा की स्मृति में विजित व्यथा को आज भुलाने दो । "[2]

इस शक्ति को कवि की अन्तरात्मा ललकार रही है -

---

1. पूर्वा (नहीं तेरे चरणों में) पृ.27.
2. पूर्वा (पराजय गान) पृ.36.

" तुम सत्ताधारी, मानव के शव पर आसीन
जीवन के चिर रिपु, विकास के प्रतिद्वन्द्वी प्राचीन,
तुम श्मशान के देव, सुनो यह रणभेरी की तान,
आज तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो कृषा का गान ।"[1]

ठीक है यह जीवन - पथ की बाधा है । वह रचनात्मक नहीं । वह मानवता को अछिन्न करता है । मानव का अंधा पक्ष है । कवि विदेशी शासन-सत्ता में अपने ही नकारात्मक पक्ष का साक्षात्कार पाता है । कौन कवि ऐसा है जो मानवता की स्वातन्त्र्यता को भंग करनेवाली शक्ति को भर्त्सना दिए बिना रह सकता है । कारण कि कवि स्वयं मानव के एकत्व का चारण है । अतः सहज ही कवि, जो उन्मुक्तचेता है, बंधन युक्त बाह्य परिस्थितियों में अपने को भी असहाय और अनुयोगी पाता है । यह विवशता " बंदी और बिल "[2] में साफ तौर पर व्यंजित मिलती है । " सन्ध्या की तम - घिरी द्युति - कोर " प्रतीक में कायाच्छादित अन्तरंग की ओर संकेत किया गया है ।

निर्विकल्प समरसता की आनन्द स्थली में निवसित आदिम दम्पतियों की निषिद्ध वासना का फल खिलाकर उन्हें वहाँ से निर्वासित करनेवाला साँप मानवराशि के अन्तर्मन की बुरी प्रेरणा का प्रतीक है । वह चिरन्तन है । वह मनुष्य के अन्दर की विपरीत प्रेरणाओं का प्रतीक है । वह काया ही है क्योंकि वह नकारात्मक है -

" मोह में आदिम पुरुष ने
ज्ञान का फल तोड़ खाया -
इसलिए उसने प्रिया - सह
चिरन्तन निर्वास पाया ।

---

1. पूर्वा (कृषा का गान) पृ.49.
2. पूर्वा : पृ.52.

कौन पूछे, उन अभागों को
किया पथ भ्रष्ट जिसने
शत्रु जग के उस चिरन्तन
साँप को किसने बनाया ?"[1]

आदिम दम्पतियों को चिर - निर्वासित करानेवाले साँप की उत्पत्ति की जिज्ञासा, जो कवि प्रकट करते हैं, वह कवि के अपने अचेतन में प्रतिफलित अपनी ही काया के घृणित और भयदायक दर्शन का परिणाम है ।

वर्तमान समाज की कुंठाग्रस्त और वर्जनापूर्ण परिस्थितियों और परम्परागत नैतिक मान्यताओं के प्रति अज्ञेय का प्रतिस्पन्दन नकारात्मक एवं विद्रोहपूर्ण है । कारण कि वर्जनाओं और कुंठाओं के शिकार व्यक्ति की मानसिक दशा को कवि ने आत्मसात् कर लिया । वर्जना का पुंज बने व्यक्ति के मानसिक व्यापार यौन - भावनाओं से रंजित ही रहेंगे । यह व्यक्ति अज्ञेय का अनुभूति - प्रत्यक्ष हो गया तो उसपर कवि के अन्तस्तल के काया - बिम्ब का अभिक्षेप हुआ ही । अर्थात् वह कवि के अपर रूप से प्रेरित होकर गठित है । यही कारण है कि उस व्यक्ति की उद्गारों के रूप में निकली कविवाणी में और विद्रोह-भावना से पूर्ण कविताओं में अतिशय यौन - वृत्युन्मुखता देखने को मिलती है । 'सावन मेघ' के घुमड़न में यौन वासना का बहिष्कृत रूप देख कर नारी कैलिए आकुल हो उठनेवाला व्यक्ति इस काया के स्वभाव को प्रकट करता है -

" घिर गया नभ, उमड़ आए मेघ काले
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका - सा

---

1. पूर्वा (विधाता वाम होता है) पृ.100.

विषाद, श्वासाहत, चिरातुर
बा गया इन्दु का नील वक्ष -
वज्र - सा, यदि तडित् से झुलसा - हुआ सा ।

" आह मेरा श्वास है उत्तप्त -
धमनियों में उमड़ आई है लहू की धार -
प्यार है अभिशप्त -
तुम कहाँ हो नारि ? "[1]

यह खुली यौन - वृत्ति, जिसमें समाज की नैतिकता बजर पड़ जाती है, छाया का धर्म है। शातवाहन को दिए जानेवाले आह्वान में भी यही छायामय तत्व का परिचय प्राप्त होता है-

" 'मैं' के झूठे अहंकार ने छलाया मुझे
तेरी आगे विवश झुकाया मुझे
किन्तु आज मेरे इन बाहुओं में शक्ति है,
मेरे इस पागल हृदय में भरी भक्ति है -
आज क्यों कि मेरे पीछे जागृत अतीत है,
और मेरी आगे है अनन्त
आदि - हीन, शेष - हीन पथ वह
जिस पर
एक दृढ पैर का ही स्थान है -
और वह दृढ पैर मेरा है,
गुरु, स्थिर, स्थाणु - सा गडा हुआ
तेरी प्राण पीठिका पै लिंग - सा खडा हुआ । "[2]

---

1. पूर्वा (सावन मेघ) पृ.132.
2. पूर्वा (आह्वान) पृ.134 - 35.

यहाँ, कवि की आन्तरिक विवशता कैलिए हेतुभूत अनुभूति - प्रत्यक्ष के रूप में व्यक्ति - कुंठित व्यक्ति - कवि के आन्तरिक माया तत्व - अपने ही अपर पक्षु को उत्तेजित कर देता है और वही माया सत्ता ही यौन - बिम्बों के निर्लज्ज प्रयोग के द्वारा कवि की विद्रोह भावना को प्रकट करती है । थोड़े में, यौन - बिम्ब और प्रतीकों के माध्यम से साक्षात्कृत होकर व्यक्ति (कवि) का यह नकारात्मक आन्तरिक तत्व - माया - परितृप्ति पाता है तो व्यक्तित्व उसके हानिकारक प्रभाव से सुरक्षित भी रह सकता है । वैयक्तिक जीवन में, उनके रागात्मक सम्बन्ध (प्रेम - सम्बन्ध) को तोड़कर स्थाई वियोग की जो अपरिहार्य स्थिति विधि ने पहुंचाई, उससे कवि का हृदय झकझोर कर दिया गया । विधि की सार्व भौमता को स्वीकार करते हुए भी, उससे पराजय मानने को वे तैयार नहीं है । उनके मन में उसके प्रति हमेशा प्रतिशोध और विद्रोह की भावना भरी रहती है । अतः जब कभी विधि की वामता से अप्रभावित जीवन सन्दर्भ सामने आता है, कवि में माया उद्रिक्त होकर विधि के प्रति व्यंग्य - विद्रूप का रूप धारण कर लेती है -

" एक बने , पर फूल भरी - सी
अर्जुन तरु के नीचे
एक तार पर बिजली के वे सटे हुए बैठे थे -
दो पक्षी छोटे छोटे ।
. . . . . .
सलग प्रणय की आँधी में मानो भूले दिन मान,
विधि का करते - से आह्वान
मैं जो रहा देखता, तब विधि ने भी सकुच देखा होगा -
वह विधि, जिसने अभिशप्त उनके मिलन - विरह का लेखा होगा -
. . . . . .
आया एक हवा का झोंका -

कपि तार - झरा दी कण नीहार -
उस समय भी तो उनके उर के भीतर
कोई खालिश नहीं थी - कोई रिक्त नहीं था -
नहीं वेदना की टीसों को स्थान कहीं था ।
तब भी तो वे सहज परस्पर
पंख से पंख मिलाए
वातावृत तम की जंजीर में भी अपने चारों ओर
एक प्रणय का निश्चल वातावरण जमाए
उड़े जा रहे थे, अतिशय निर्द्वन्द्व -
और प्रिथि देख रही - निस्पन्द । "[1]

पूंजीवादी समाज की अयथार्थ एवं काल्पनिक सौन्दर्य चेतना का खण्डन और परम्परागत धार्मिक प्रतीकों व लावण्य संकल्पनाओं का भंग करते हुए अज्ञेय अपनी अतल मनोवासी नकारात्मक आया का परिचय देते हैं -

" वंचना है चांदनी सित
झूठ वह आकाश का निर्धृष गहन विस्तार
शिशिर की राका निशा की शान्ति है निस्सार ।
दूर वह शान्ति, वह सित भव्यता, वह शून्य का अवलेप का प्रस्तार-
इधर केवल झलमलाते
चेतहर, दुर्धर, कुहासे की हलाहल - स्निग्ध मुट्ठी में
सिहरते - से पंगु, टूंठे
नग्न जुम्बे, दर्दमारे पेड़ ।"[2]

---

1. पूर्वा : (अचरज) पृ.136 - 37)
2. पूर्वा : (शिशिर की राका निशा) पृ.140.

उसके पास,

" निकट तर - धँसती हुई छत, आड में निर्वेद
मूत्र - सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा, नतग्रीव
धैर्य - धन गदहा ।
निकट तम
रीढ़ बंकिम किए, निश्चल किन्तु लोलुप
अड़ा वन्य विकार ।
पीछे गोयठों के गंधमय अंबार ।"[1]

यह सब देख कर पुराने राजकवि के संस्कृत लोचन निस्तब्ध, भावसंकुल, किन्तु व्यंजना भीरु और अश्लील सा विस्फारित और फटे से रह जाते हैं । इस कविता में भी, 'रीढ़ बंकिम किए लोलुप विकार' और अश्लील - सा विस्फार - प्राप्त आँखों के बिम्बों में ध्वनि यौन - वृत्ति के द्वारा कवि के अन्तस्थित ईर्ष्यालु भाई(गया राम) का साक्षात्कार ही दी गया है ।

'वर्ग भावना सटीक ' में, समाज के उच्चस्तरीय लोगों का उपहास करते हुए कवि ने जिस व्यंग्य - विद्रूप उसपर ओढ़ दिया है उसमें भी यौन - वृत्ति का स्पष्ट उल्लेख है । उसके द्वारा समाज के नैतिक बोध को संत्रस्त करते हैं कवि -

" हम लोगों का एकमात्र श्रम है - सुरतिश्रम,
उस अस्पृश्य का एकमात्र सुख है - मैथुन - सुख ।"[2]

---

1. पूर्वा (शिशिर की रात्रि निशा) पृ.141.
2. वही (वर्ग भावना - सटीक) पृ.142.

सुरतिक्रम और मैथुन - सुख दोनों यौन वासना के परिचायक हैं । उच्चवर्ग की भोग - विलासिता पूर्ण जीवन के प्रति इस विद्रोह भावना को कवि के अचेतनगत निषेधात्मक ईर्ष्या-पूर्ण काया बिम्ब से प्रेरित ही मानना चाहिए ।

सहज ग्रामीण जीवन के प्रति अटूट आस्था से प्रेरित अज्ञेय का नगर - बोध सहज ही निषेधात्मक है । उस निषेध के पीछे केवल कवि के चेतन मन से नियंत्रित इच्छा - शक्ति ही काम नहीं करती । नगर के प्रति कवि की विमुखता (या घृणा), शहरी जीवन की कृत्रिमता के तीव्रानुभव से उत्पन्न कवि की अन्तरात्मा के सहज और अबोधपूर्वक वितृष्णा से जागृत रूपरूप (प्रतिक्रियात्मक तत्व) से उत्पन्न है । गाँवों की सहज सुन्दरता को शहरी जीवन का सम्पर्क कलुषित कर गया है क्योंकि शहरी जीवन का वातावरण विषयलोलुपता से विवर्ण है । ग्रामीण संस्कृति के ह्रास पर सभ्यता का भूत नर्तन करने लगता है । यहाँ साँप और भूत दोनों विरोधी तत्वों के प्रतीक हैं । अज्ञेय के अन्तस्थ कायामय अपर पहलू के प्रतीकात्मक अभिव्यंजन है ।

- "इन्हीं के मर्म को अनजान
शहरों की ढकी लोलुप
विषैली वासना का साँप डसता है ।

इन्हीं में लहरती अल्हड़
अयानी संस्कृति की दुर्दशा पर
सभ्यता का भूम हँसता है ।"[1]

अंत में नदी पर पड़ी चाँदनी के मनोरम दृश्य को एक यौनबिम्ब में बाँध कर कवि ने एक बार और सामाजिक नैतिक चेतना को धक्का दिया है । उसके साथ कवि के अपर रूप

---

1. पूर्वा : (हमारा देश) पृ.227.

का साक्षात्कार ही हुआ है -

"सो रहा है झींप अधियाला
नदी की जांघ पर
डाह से सिहरी हुई यह चाँदनी
चोर पैरों से उलझ कर
झांक जाती है ।"[1]

वात्स्यायन की कविताओं में (काव्यों) जिस लघु - मानव की प्रतिष्ठा आगे चलकर हो गयी है, वह तार्किक चिंतन की वस्तुनिष्ठ वास्तविकता नहीं, अपितु, उससे भी बढ़ व्यक्ति निष्ठ सत्य है । यंत्र - सभ्यता का शिकार बनकर तड़पनेवाले वर्तमान युग के व्यक्ति के दर्शन ने जब कवि के अहं के परे की आन्तरिकता का स्पर्श किया तो कवि का हृदय उन्मथित हुए बिना रह नहीं सका । मानव की हीनावस्था की तीव्रानुभूति से जनित आत्म-विस्मृति में, व्यक्ति का जो महिमामय और गौरवशाली रूप कवि के अन्दर अनजाने ही उभर आता है अथवा कवि की प्रज्ञा के प्रकाश में प्रस्तुत होता है, वह निश्चित ही कवि के अचेतन के सामान्य पहलू से जन्म लेनेवाला है । इसका कारण यह है कि व्यक्तित्वहीन अकिंचन नरजीव के प्रति कवि में जागृत सहानुभूति दमन और कुंठा कैसिस कारणभूत परिस्थितियों के विरुद्ध विद्रोह में परिणत हो जाती है । तब कवि का अन्तर्भूत विरोधी और ईर्ष्यालु पक्ष उन्मीलित हो उठता है । इसप्रकार साक्षात्कृत विरोधतत्व कुंठा मुक्त, वर्जना रहित, व्यक्तित्व - सिद्ध और प्रतिष्ठा प्राप्त लघुमानव का रूप धारण कर सामने आता है । इसप्रकार विद्रोह की आँधी में उभरनेवाले गहनतर अचेतन में प्रतिफलित कवि का अपररूप ही उनके राग - सत्य लघुमानव का प्राणभूत तत्व बनता है । थोड़े में,

---

1. पूर्वा (सो रहा है झींप) पृ.234.

लघुमानव के अहं महिमायुक्त स्वरूप में कवि का आन्तरिक द्वयात्मय, नकारात्मक व ईर्ष्यालु चेहरा ही प्रतीकित मिलता है । कवि ने अपनी इस आन्तरिक द्वयात्मक सत्ता और व्यक्ति (अनुभूति प्रत्यक्ष प्रतिष्ठित मानव) के बीच के अभेद्य सम्बन्ध को अबोधपूर्वक समझ लिया है । अतः कवि की वाणी में उस लघुमानव के व्यक्तित्व - निर्धारण में व्यक्ति निष्ठता झलकती है -

"पर तुम
नभ के तुम कि गुहा गह्वर के तुम
मोम के तुम, पत्थर के तुम
तुम किसी देवता से नहीं निकले
तुम मेरे ही साथ मेरे ही आंसू में गले
मेरे ही रक्त पर पले
अनुभव के दाह पर क्षण - क्षण उबलते
मेरी अशमित चिता पर
तुम मेरे ही साथ जले ।"[1]

व्यक्ति निष्ठता के साथ साथ कुछ ऐसी विशेषताओं की ओर भी कवि यहां संकेत करते हैं जो लघुमानव को बाह्य सत्ता से बढ़कर कवि की आन्तरिक सत्ता के स्तर पर ले जाती हैं । वह कुछ ऐसी रहस्यमयी सत्ता है जो कवि में - मनुष्य में - अनादि काल से वर्तमान है । उसके अस्तित्व की चरितार्थता, उसके अस्तित्व की सत्यता, कवि के जीवन में ही, कवि की आन्तरिक विवशता में ही, अस्मिता के विलयन की चिता में स्वयं साक्षात्कृत होकर विलीन हो जाने में ही निहित है । इसप्रकार अज्ञेय की मानव - परिकल्पना में प्रागबिम्बीय आधार की

---

1. इन्द्र धनु रौंदे हुए ये (सब्य तो बहुत मिले) पृ.18.

ढूँढ निकालना कठिन नहीं है । यह प्रागुबिम्बीय, जैसे अभी अभी हमने स्पष्ट किया, इस सन्दर्भ में मायातत्व ठहरता है ।

यह अपर रूप कवि के शब्दों के माध्यम से अपने को स्पष्ट करता है -

" जो भी जहाँ भी पिसता है,
पर हारता नहीं, न मरता है -
पीड़ित श्रम रत मानव
अविजित दुर्जय मानव
कर्मकर श्रमकर, शिल्पी, स्रष्टा -
उसकी मैं कथा हूँ ।"[1]

माया के विरोधी, विद्रोही, ध्वंसात्मक और नकारात्मक पहलुओं पर यह कविता प्रकाश डालती है । पीड़ित श्रम रत मानव को अविजित दुर्जय, कर्मकर, श्रमकर शिल्पी स्रष्टा के रूप में गौरवान्वित करके पुनर्जागरित करनेवाली आन्तरिक शक्ति ; उसको रूप - गन्ध - गुण प्रदान करके समग्र व्यक्तित्व की चमक से कान्तिमान बनानेवाली अन्तः प्रेरणा यही विरोधी तत्व है । विद्रोही वृत्ति के पीछे यही चालक शक्ति है । नरमानव की प्रतिष्ठा के द्वारा वर्तमान समाज और सभ्यता का विरोध ही प्रकट किया जाता है ।

यह विरोधी तत्व साँप में प्रतीकित होता है जब उनका अंतरंग नगर - जीवन की कृत्रिमता और कपटता के प्रति वितृष्णा से भर जाता है -

साँप
तुम सभ्य तो हुए नहीं
नगर में बसना भी तुम्हें नहीं आया ।

---

1. इन्दु धनु रौंदे हुए ये (मैं वहाँ हूँ) पृ.20.

एक बात पूछूं - (उत्तर दोगे ?)
तब कैसे सीखा डसना -
विष कहाँ पाया ? "[1]

शहरी जीवन की कपटता की विषमयता कुत्सित कृतघ्नता कवि ने स्वयं - अनुभव किया है । अतः नगर सभ्यता उन्हें हमेशा गर्हणीय ही लगी है । इस कारण, वितृष्णा - पूर्ण नगर बोध की तीव्रता के सन्दर्भ में कवि का अन्तश्चेतनागत माया - बिम्ब साँप में प्रतीकित होकर कविता में प्रविष्ट हुआ है ।

आधुनिक सभ्य समाज में घटित नैतिक पतन और मूल्य - विघटन ने मानवीय सत्ता के महत्व के आधार को भंग कर डाला है । जीवन को अपनी आन्तरिकता से वंचित कर दिया गया है । मानव के व्यक्तित्व को खोखला बना कर छोड़ा है । संस्कृति के आधार भूत जीवन - सत्यों के प्रति अवहेलना और उनके निराकरण के उत्साह ने जीवन में उच्छृंखलता और कुटिलता को प्रतिष्ठा प्राप्त करा दी है । पूर्वजों के शिक्षा - प्रीत हमने व्यतीत विधों से दूषित कर दिए हैं ।[2] व्यवहार के सीधेपन की सरलता के स्थान में सभ्यता में पुती चकता जीवन की शैली बनी । श्रद्धा, भक्ति, प्रेम और विश्वास की दृढ़नीव पर आधारित गुरु - शिष्य - सम्बन्ध - जैसे पवित्र मानवीय सम्बन्ध पाखण्ड और प्रवंचना से पूर्ण हुए ।

इन अवांछनीय अंतरनाद परिस्थितियों के बीच खड़े कवि के अन्तरंग में चिर कायामय सत्ता - अथवा अविवेकी पहलू - जाग पड़ती है । कवि का यह स्थिर बिम्ब अतीत से आनेवाली सांस्कृतिक इतिहास की हवा के झोंकों में पलटते जातीय जीवन के पन्नों में उभर आनेवाले चिरन्तन ऐतिहासिक व्यक्तियों का शीलभंग करके वर्तमान युग के मूल्य -

---

1. इन्द्र धनु रौंदे हुए ये (साँप) पृ.29.
2. वही (इतिहास की हवा) पृ.34.

विघटन और नैतिक पतन को चित्रित करता है । अर्थात् आधुनिक युग - बोध से परि - चालित कवि की नकारात्मक अन्तः सत्ता उन व्यक्तियों पर अभिक्षिप्त होती है, उनके शील-भंग के द्वारा । युग - संदर्भ में उपस्थित प्राक्तन मिथकीय पात्रों का व्यक्तित्व - संकोच अतल मनोवासी इस अविवेकी के स्वभाव को प्रकट करता है । यही कारण है कि गुरुद्रोण का चित्र अज्ञेय में बौने बाज का हो गया है -

'बस, वीर
धरो चाप, साधो तीर,
धरती को विद्ध करो -
अमृत - सा कूप जल यहीं फूट निकले ' कहकर एकलव्य से कूप खुदवा कर द्रोणाचार्य

," और फिर चुपके से एकलव्य के नए कुएं में
भांग डाल देता है ।"[1]

इसीप्रकार नीर - विवेक की क्षमता केलिए प्रसिद्ध हंसावलियों का भी एप इसी कारण अज्ञेय काव्य में बदल गया है -

" ये हंसावलियां नहीं
नीर क्षीर नहीं,
अन्तहीन सागर में विष - वमन कर रही है ।"[2]

" जिनके नैतिकमान हमने आधुनिकता के विस्फोट में उड़ा दिए, और जिनके शिक्षाद्योत हमने वर्णातीत विधों से दूषित कर दिए है," उनकी परम्परा के प्रति आस्था और कृत्रिमता तथा

---

1. इन्द्र धनु रौंदे हुए ये (इतिहास की हवा) पृ.31 - 32
2. वही वही पृ.33.

कापट्य पर टिकी आधुनिक सभ्यता के प्रति घृणा ने द्रोह औ एक लक्ष्य और दृढ़ावली का शीर्षक कराकर अपने युगातीत अपरूपता का परिचय दिया है कवि ने । पौराणिक और धार्मिक चरित्रों का इसप्रकार का शीर्षक छाया बिम्ब का ही कार्य है । अपनी अविवेकी वृत्ति को वह स्पष्ट करता है । कारण कि वर्तमान युग में मानवता की ग्रसित मूल्य - विघटन और नैतिक पतन का विराट रूप, और उसके नीचे हाथ पैर पटकनेवाले मानव का विकल रूप दोनों कवि के चिरछाया बिम्ब को जगा देते हैं ।

कवि की भीतरी गहराई में जागकर कविता में साक्षात्कार पानेवाली अन्धी असफल आकांक्षाओं से सम्बद्ध है । अतः वह प्रेत है । कविता में साधारणीकृत होकर प्रेषिती में भी समान वृत्ति जगाने की शक्ति उसमें है । कवि के ये शब्द छाया की इस सार्वलौकिकता की ओर संकेत करते हैं -

" मेरे आह्वान से अगर प्रेत जागते हैं
मेरी सगी, मेरे भाईयो
तो तुम चौंकते क्यों हो ?
मुझे दोष क्यों देते हो ?
वे तुम्हारे ही तो प्रेत हैं ।
तुम्हें किसने कहा था, मेरे भाइयो
कि तुम अधूरे और अतृप्त मेरे जाओ ।"[1]

उसकी चिरन्तनता निम्नलिखित पंक्तियों में यों ध्वनित होती है -

" तुम मरकर प्रेत हो सकते हो क्योंकि तुम अपने हो
मैं नहीं मर सकता क्योंकि मैं तुम्हारा हूँ ।

---

1. इन्दु धनु रौंदे हुए ये (मैं तुम्हारा पतिभू हूँ) पृ.36.

मैं संघर्षता की ओर उठा हुआ तुम्हारा दुर्दमनीय हाथ हूं ।"[1]

अतः अपनी अपूर्ण आकांक्षा से प्रेरित होकर (निराश हुए बिना) आगे बढने में ही भलाई है -

"अपने प्रेत के साथ हाथ मिलाकर
तुम उस विकसित शक्ति को फिर संयुजित कर सकोगी ।"[2]

आदिपिता आदम पर अभिशाप पर मानवचित्त के अपरूप का धूमिल चेहरा " आदम को एक पुराने ईश्वर का शाप" में अनावृत होता है -

" जाओ
अब रोओ
जाओ मृ
सोडती और पाओ
जागो और खोओ
स्मृति में अनुरागो
वास्तव में
खून के आंसू रोओ ।

" बार बार
निषिद्ध फल खाओ
बार बार
खुद का प्रलोभन तुम जानो
आंसू में खून में
पसीने में
हार हार
मुझे पहचानो ।"[3]

वास्तव में आदि मानव के विद्रोही, अविवेकी और अन्धे अपर पक्ष को ईश्वर से प्राप्त

---

1. इन्दु धनु रोंदे हुए ये : (मैं तुम्हारा पतिम् हूं) पृ.36 - 37.
2. वही वही पृ.37.
3. वही (आदम पर एक पुराने ईश्वर का शाप) पृ.54.

अभिशाप है यह जिसमें उसकी चिरंतनता भी सूचित मिलती है । यह शत्रु है । हमेशा आकुल है ।

नगर जीवन और सभ्यता से सम्बन्धित संवेदनाओं के सन्दर्भ में कवि के ऊपर पक्ष का जागरण सर्वाधिक तीव्र बनता है । " महानगर : रात "[1] में भी काया की झाँकी प्राप्त है । " हरा भरा है देश "[2] में भी इस प्रगतिबिम्ब का उद्रेक अनुभूत होता है -

हरा भरा है देश
सेंधा मिट्टी में ताप
पोसता है विषवर का मूल
फलेंगी जिसमें शाप ।"[3]

" तुम्हें नहीं तो किसे और
मैं दूँ अपने को
(जो भी मैं हूँ)
. . . . . .

तुम को मेरे भाई को "[4] कहकर बृहत्तर ममेतर से अपना रागात्मक सम्बन्ध तोड़ लेकर व्यक्ति मानव से जोड़ देने में और उसकी महिमा का गायन करने में यह काया - बिम्ब प्रकट होता है । हमने पहले देखा कि लघुमानव की प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति कवि के अन्तवर्ती अपरूप से प्रेरित है । यहाँ भी, उस लघुमानव - निसर्ग ममेतर

---

1. बन्द घनु रौंदे हुए ये : पृ.58 - 60
2. अरी ओ करुणा प्रभामय : पृ.41.
3. अरी ओ करुणा प्रभामय (हरा भरा है देश) पृ.41.
4. कितनी नावों में कितनी बार (तुम्हें नहीं तो किसे और) पृ.62.

मानव को अपने कवित्व का केन्द्र बनाने के द्वारा, अध्यात्म समेतर से मानव समेतर की ओर मुड जाने के द्वारा वही अपरूप ही परितृप्ति पाता है ।

"ईश्वर रे, मेरे बेचारे,
तेरे कौन रहे अधिक हत्यारे ।"[2] में कुलन्द क्रन्दन में जो असहिष्णुतापूर्ण विवशता प्रकट है वह अनियंत्रित वैज्ञानिक प्रगति से प्राप्त शक्तियों से मानव (व्यक्ति) पर पहुंचाई गई हानि पर कवि के रोष का प्रतिफलन है जो कवि के विरोधी तत्व (काया) से उत्तेजित है ।

अपने मन का यह अंधा पहलू स्वयं कवि को कभी कभी प्रत्यक्ष होता है -

"" . . . . . मन
गिरता है और गिरता ही जाता है ।
न थाह पाता है, न फिरता है
बस सहमता ताकता है
कि मानो गर्त का अन्धेरा ही बटकर लीक लेता है ।
देखो । वहीं वही तो नहीं
अब स्वयं मेरे भीतर से झांकता है ?"[2]

कवि का मन गिरता है, अधोतल की ओर गिरता है । बोधवत्ता (चेतन पहलू) मन्द पड़ जाती है । तब कोई अन्दर से सहमता हुआ ताकता दिखाई पडता है । वह अन्धकार का - कवि के अवचेतन का अन्धा पहलू - व्यक्तित्व का अपरूप है । वह अन्धकार में जागनेवाला अकेला है । भीतर से उसका झांकना उसके बीधगम्य होने का सूचक है।

---

1. किसनी नावों में कितनी बार (कालेमेघदान) पृ.68.
2. सागर मुद्रा (मन दुम्मट - सा) पृ..53.

जीवन में विशादात्मक व्यक्तित्व रखनेवाले भाग्यार्थियों की मृत्यु के बाद जन्मशती मनाने की अनुचितता एवं कपटता पर तीक्ष्ण व्यंग्य 'जन्मशती' नामक कविता में अज्ञेय ने किया है -

" पर एक बात तो मानी हुई है -
ऐतिहासिक तथ्य है, सब को ज्ञात है -
कि उन्हें जन्मे ठीक सौ बरस होने आते हैं ।
और इसलिए हम उनकी जन्मशती मनाते हैं ।
इसमें हम सब साथ हैं ।"[1]

यह व्यंग्य - विद्रूप समाज को ग्रसित और व्यक्ति को कपटी बनानेवाली चौकसी और पाखंड-पूर्ण मनस्थिति में अतितार्य सतहीपन के प्रति प्रति स्पन्दन का परिणाम है । उसके फल - स्वरूप कवि के अचेतन मनके निम्नतम पटल पर जाग पडता है । उनका नकारात्मक अविवेकी तत्व । और वही तत्व उस व्यंग्य - विद्रूप में लक्षित होता है ।

कठिन परिश्रम के द्वारा निर्माण के पद का अधिकारी होने पर भी अवहेलना और निंदा मात्र प्राप्त करनेवाले मजदूर वर्ग के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए अज्ञेय श्रमिकों की दुःस्थिति बहुत पुरानी स्थापित करते हैं । साथ ही उस स्थिति के प्रति उनके मन में जागृत विद्रोह भावना बन्दरों को सच्चे निर्माता के स्थान पर प्रतिष्ठित करके परम्परागत श्रमिक - निन्दा का विरोध करने को कवि को प्रेरित करती है । लघु में महत्व का आरोप अथवा लघु का महत्वीकरण यहाँ परम्परा के प्रति कवि के मन में उद्दिष्त क्रोध का धर्म है । उसमें कवि अपने अचेतन में दिखे अपरूप का अवचेतनपूर्वक आरोप ही कर रहे हैं -

---

1. सागर मुद्रा (जन्मशती) पृ.85.

" जो पुल बनाएगी
वे अनिवार्यतः
पीछे रह जाएगी ।
सेनाएँ ही जाएगी पार
मारे जाएगी रावण

" जयी होंगे राम,
जो निर्माता रहे
इतिहास में
बन्दर कहलाएगी ।"[1]

'बन्दर' छाया का अचेतनगत प्रतीक है । जो क्रियाशील, परिश्रमी और निर्माता है, जो व्यक्ति - व्यक्ति और समाज - समाज के बीच परस्पर सम्बन्ध के पुल बनाने का श्रेष्ठ कार्य करते हैं, उनका स्थान समाज में पीछे है । व्यक्ति की आत्मवत्ता - अस्तित्व - का महत्व समाज दृष्टि में नहीं के बराबर है । व्यक्ति की कार्यित्री शक्ति से दीप्त व्यक्तित्व की अवहेलना (उपेक्षा) की इस विषम परिस्थिति के प्रति उनके संवेदनशील हृदय में अशान्ति उत्पन्न होती है । उसके अनुरूप उनकी (कवि की) अन्तः सत्ता प्रतिमुक्त होती है तो नकारात्मक तत्व जाग पड़ता है - वह उस प्रसिद्ध प्रतीक बन्दर में साक्षात्कृत होता है । तब कवि की व्यक्ति का अवहेलना ग्रस्त रूप बन्दर के चेहरे में लक्षित मिलता है । अर्थात् व्यक्ति की अवहेलना की आत्मानुभूति में जाग्रत छाया बन्दर में प्रतीकित या अभिव्यक्त होने में देर नहीं लगती । अतः बन्दर उनकी अन्तर्गुहावासी छाया ही है ।

" मेरा युद्ध
प्रकृति की सृष्टियों से नहीं
मानव की अप सृष्टियों से है ।"[2]

क्यों कि

---

1. पहले मैं सम्राट बुनता हूँ (जो बनाएगी) पृ.39.
2. वही (दुःसाहसी हेमन्ती फूल) पृ.55.

" शैतान
केवल शैतान से लड़ सकता है ।"[1]

स्पष्ट है कि यह भीषण मानवान्तर्भूत शैतान - अचेतन गत ऊपर रूप - की है । वह, इसके अनुसार, जहाँ कहीं कवि के 'भाई मेरे' की वर्जना व कुंठा में डुबा लेने की संभावना हो तो वहीं उसके विरुद्ध आवाज़ उठाते जाग पड़ता है । वह विभिन्न रूपों में विदित होने लगता है । परम्परा का खण्डन, व्यंग्य - प्रयोग, अतिरिक्त यौनवृत्युन्मुखता धार्मिक व्यक्तियों का शील भंग, शरारती - मनोवृत्ति की विवृति आदि उसके स्वरूप की नाना विशेषताएँ है ।

भारतीय मिट्टी को उर्वरा और रसीली बनानेवाली झरनाओं की जननिनी नन्दादेवी को सर्वनाशकारी रासायनिक पदार्थ का भण्डार घर बनानेवाले मनुष्य के प्रति कवि का हृदयंगम रोष नन्दादेवी नामक कविता में सशक्त रूप में अभिव्यंजित है । उस रोष के अभिव्यंजित में कवि की आन्तरिक काया - सत्ता - तमोमय सत्ता - उस बाह्य परिस्थिति से सम्बद्ध होकर यों देखने को मिलती है -

" नन्दा
जल्दी ही
बीस - तीस - पचास वर्षों में
हम तुम्हारे नीचे एक मरु बिछा चुके होंगे और तुम्हारे उस नदी - धौल सी दीवा ले
मंदिरों में जला करेगा
एक मरु-दीप ।"[2]

---

1. पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ (दुःसाहसी हेमन्ती फूल) पृ.55.
2. वही (नन्दा - देवी - 6) पृ.65.

मशाल जलानेवाला मनुष्य नहीं शैतान है । वह तमोमय अविवेकी अपररूप नन्दा के प्रति किए गए अन्याय पर उत्तेजित हो उठता है । और कवि की विद्रोही भावभूमि में प्रविष्ट होकर अनजाने ही अपने स्वभाव को प्रकट करता है ।

' चुपचाप नदी '[1] ' मथी '[2], ' वन - मिथक '[3], 'क्या करोगे ?'[4], 'जियो मेरे'[5] आदि कविताओं में भी छाया का आभास उपलब्ध है ।

प्रौढ विवेकी (Archetype of Wise Old Man)

स्त्रैण - सत्ता और छाया के समान मानव चित्त में प्रौढ विवेकी बिम्ब अथवा ज्ञानीवृद्ध का बिम्ब भी विद्यमान रहता है ।[6] अज्ञेय की कविताओं में इसका परिरूपण भी यत्र तत्र उपलब्ध होता है । 'मरु और खेत'[7] कविता में जब मरु ने कहा :-

" हाय, यह हास्यास्पद ममता
ओ खेत, किस हेतु यह यत्न, यह उथल - पुथल
यह - कह ही डालूं - आडंबर ?
. . . . . .
ममता ही सर्वदुःख मूल है
बीजमात्र वेदना का बीज है । " सब जीवन की दुःसमयता और ममता की

---

1. महावृक्ष के नीचे पृ.13.
2. वही पृ.19.
3. वही पृ.34.
4. वही पृ.41.
5. वही पृ.42.
6. The archetypal image of the wise old man, the saviour or redeemer lies burried and dormant in man's unconscious since the dawn of culture - Jung: Modern Man in Search of a Soul. P. 19

वास्तविकता से पूर्णतः अवगत एक अनुभवी, निर्मम, उदासीन, जीवन - मुक्त वृद्धज्ञानी का स्वर उसमें मुखरित मिलता है । उसी उत्तर में बेत के इन शब्दों में कि

" मत काका, ठीक है . . . . . .
किन्तु जब मेरी छाती फोड़कर अंकुर एक फूटेगा
और भीली गर्वभरी आस्था से निहारेगा,
तब उस एकमात्र क्षण में -
किन्तु काका, आप से क्या कहूँ और . . . .
नव सर्जना में जो
अपने को होम कर होते हैं आनन्दमय
उनकी तो दृष्टि और होती है । "

दुर्दमनीय आस्था व्यंजित है ।

वस्तुतः ये दोनों जीवन के प्रति भिन्न दृष्टियों के परिचायक है । एक ही सिक्के के दो पहलू है । ज्ञान - meaning - के दो भेद है । अर्थात् एक ही अन्तर्निहित तत्व के प्रतिभिन्न दर्शन इसमें प्राप्त है । यह तत्व अधीसिद्ध का है । थोड़े में इस कविता में प्रौढ विवेकी के दो अर्थगत पहलू आभासित मिलते है ।

प्रौढ विवेकी का आस्थापूर्ण चेहरा " हवाई यात्रा : ऊँची उड़ान "[1] कविता में और भी स्पष्ट रूप में चित्रित मिलता है । नारायण की दिव्य करुणा को आँखों में भरकर जीवन की संकुल मिट्टी पर खड़ा रहनेवाला 'तुम्हारा' प्रतिरूप स्वरूप नर अस्तित्व की आकुलता से खिन्न कवि के अन्तर्मन में उभर आनेवाले प्रौढ विवेकी का ही प्रतिबिम्ब है, अभिक्षेप है -

---

7. इन्दु धनु रोदे हुए ये : पृ.23.
1. वही पृ.61.

" लेकिन उतरो
इस झीनी चादर में है घुटन, भेद कर आओ ।
. . . . . .
उतरो धीरे और
. . . . . .
अपने उडन खटोले की खिडकी खोलो
और पैर रखो मिट्टी पर
खडा मिलेगा
वहाँ सामने तुम को
अनपेक्षित प्रतिरूप तुम्हारा
नर, जिसकी अनगिन आँखों में नारायण की व्यथा भरी है ।"[1]

बोधवत्ता की झीनी चादर को, जिसे ओढे रहने से व्यक्तित्व घुटन का अनुभव करता ही रहता है, भेदकर मनकी गहराई में अधिकाधिक (अचेतन की निगूढता में अधिकाधिक) उतर जाकर सामूहिक अचेतन की निम्नतम मिट्टी पर प्रविष्ठ होने पर, उस सीमायुक्त व्यक्तिनिरपेक्ष सामान्य बृहत्तर मानसिक तल में स्थित ज्ञानार्जन मूलक प्रागरूप से व्यक्ति या कलाकार का साक्षात्कार हो सकता है । अपने परिवेशों के प्रति व्यक्ति की बोधवत्ता के प्रतिस्पन्दन के अनुरूप ही भाव गठित होता है । अतः बोधवत्ता इन्द्रिय - संवेदनों की (अनुभवों की) प्रियता - अप्रियता को रंजित रहती है । तब अनुभवों के साथ कवि के मन में रूप लेनेवाला रागसम्बन्ध भी एक रस नहीं हो सकता । वर्त्तमान जीवन परिस्थितियों, इस दृष्टि से, संवेदन शील कवि के अन्दर - जीवन के प्रति भावानुमूलक अथवा आस्थावादी

---

1. इन्दु धनु रोंदे हुए ये(हवाई यात्रा : ऊँची उडान) पृ.62.

दृष्टि रखनेवाले कवि में - जीवन और मानव का व्याकुलतापूर्ण रूप ही जाग्रत करेगी। अर्थात्, व्याकुलता पूर्ण कवि मानस में उभर आनेवाला वृद्ध ज्ञानी का चेहरा भी करुणार्द्र है ही। वह कवि की जगत और जीवन सम्बन्धी दृष्टि का आन्तरिक तत्व है। उस तत्व का आस्था मूलक पहलू ही कवि के शब्दों में करुणा एवं सहानुभूति का रूप ले लेता है। यही कारण है कि " अनगिन आँखों में नारायण की व्यथा" भरकर सामने खड़ा रहनेवाला " अनपेक्षित तुम्हारा प्रतिरूप नर" कवि की ही आन्तरिक अर्थमूलक सत्ता का आस्थापूर्ण पहलू कह सकते हैं। अर्थात् कवि का यह अवचेतनगत प्रागबिम्ब वर्तमान युग के नर जीव पर अभिक्षिप्त हो गया है।

कवि के सृजनात्मक जीवन में रह रहकर इस बूढ़े का अस्पष्ट साक्षात्कार कवि अनदेखा नहीं कर सकते। पुकारों के पीछे की सत्ता (भाव) को जीवन के इशारों से ताड़ लेना प्रतिभा का कार्य है। प्रतिभावान व्यक्ति इशारों को समझ लेता है और निर्दिष्ट दिशा की ओर दृष्टि डाल देता है। तब

" अर्थ दो अर्थ दो
मत हमें पुकार इतने व्यर्थ दो।"[1] का चिल्लाना बंद हो जाता है। वह इसके प्रति सतर्क रहता है कि

मोड़ आगेऔर है -
कौन उसकी ओट, देखो, झाँकता है।"[2]

सतह से नीचे की गहराई की ओर मुड़ जाने पर कवि देख लेते हैं कि जीवन के इशारे अन्तस्थ चिरन्तन वृद्ध ज्ञानी ही चेतन की ओर झाँकनेवाला है अज्ञात पुरुष है और वही अर्थ - गठन का आन्तरिक तत्व है। अर्थ दाता है।

---

1. अरी ओ करुणा प्रभामय (इशारे जिन्दगी के) पृ.33.
2. वही वही पृ.34.

काँच के पीछे हाँपनेवाली सौन मछली में प्राणिमात्र केलिए सहज जिजीविषा और एषणा के तत्व को अनुभव करनेवाले अज्ञेय के कवि - चित्त को इसी दिशेकी से प्रेरित समझना संगत है -

" हम निहारते रूप
काँच के पीछे
हाँप रही है मछली
रूप तृषा भी
(और काँच के पीछे)
है जिजीविषा । "[1]

रूपाकारों के द्वारा जिन्दगी हर मोड़ पर झाँकती दिखाई पड़नेवाली जिस अज्ञात सत्ता की ओर इशारा करती है, उस अर्थान्वेषी मानसिक तत्व का एक और पक्ष इस कविता में उद्घाटित होता है । वह है निहितार्थ - बोधक बिम्ब (archetype of spirit) काँच के पीछे हाँपती मछली के आकार में प्राणिसहज वासना के परिष्करण के सामान्य अर्थतल के परे, उसकी चंचल गतियुक्त स्थूल सत्ता में जीवन के मूल में स्पन्दित जिजीविषा को अनुभव करते समय कवि के भीतर यह अचेतनगत अर्थान्वेषी अपना निहितार्थ चेहरा अनावृत कर रहा था ।

इसके अतिरिक्त,

" कहाँ चला ले जाल अभी ?
पहले मछलियाँ पकड़ तो ला "[2] की आज्ञा देनेवाले गुरु जीवन के गूढार्थ की प्राप्ति की ओर अपने शिष्य (मनुष्य) को प्रेरित करनेवाला अन्तस्थ आदिम गुरु ही है ।

---

1. अरी ओ करुणा प्रभामय (पहली मछली से) पृ.22.
2. वही (पहेली) पृ.87.

' पहेली ' का यह गुरु मानव की अन्तर्भूत चिरंतन जिज्ञासा - वृत्ति का प्रतीक है । जीवन और जगत तथा अस्तित्व और अध्यात्म जैसी दिशाओं में मानव की दार्शनिक विचार धाराएँ इसी जिज्ञासा का परिणाम है । अर्थात् जीवन के गूढार्थ को पकड़पाने के मानव के प्रत्येक प्रयास में उसकी अतल मनोभूमि के निवासी वृद्ध ज्ञानी के गुरुत्व का प्रतिफलन ही हो पाया है ।

इस अर्थान्वेषी ज्ञानवृद्ध का परिचय एक और कविता में इसप्रकार है -

" जो है, वह अन्तहीन
घेरे है, उसको जिस में
जो होता है, होता है,
जिस में ज्ञान हमारा
अर्थ टोहता पाता
बल खाता टकराता
बढ़ता है खोता है ।"[1] अन्वेषण के अन्त में वह देख लेता है -

" अर्थ हमारा
जितना है, सागर में नहीं,
हमारी मछली में है
सभी दिशा में सागर जिसको घेर रहा है ।"[2]

जीवन रूपी सागर के अन्तरंग का प्रतिरूप बनकर मछली जिजीविषा के सफल प्रतीक के रूप में अज्ञेय के काव्य में बराबर सामने आती है । अज्ञेय में सागर और मछली के अभिन्न सं

---

1. अरी ओ करुणा प्रभामय (टेर रहा सागर) पृ.137.
2. वही (वही) पृ.138.

की घनिष्टता इतनी है कि दोनों को प्रागुबिम्बीय महत्व स्वतः प्राप्त होता है । सागर (जल) सामूहिक अचेतन का प्रागुबिम्बीय प्रतीक है ।[1] वह जीवन को भी प्रतीकित करता है । मछली तो सागर के जीवन - पक्ष में जिजीविषा बनती है । अचेतन के सम्बन्ध में वह समूहावचेतन की अगाधता में चिर जागरित रहनेवाले प्रागुबिम्ब को प्रतीकित करती है । यही स्थिति - मछली के सागराश्रितत्व की स्थिति की अनिवार्य अभिन्नता - मछली को एक साधारण काव्योपयोगी प्रतीक से हटकर प्रागुबिम्बीय प्रतीक की चिरता प्राप्त करा देती है ।

गुरु अन्धकार के दूर कारक हैं । वे अन्धकार में दीप हैं । जब अर्थहीन आकारों की अर्थहीनतर भीड, निरर्थकता का संकुल, न - कारों का निर्जन पारावार उमड आता है, तब कवि विह्वल होकर अपने अन्तः स्थित अर्थान्वेषी विवेकी को आमन्त्रित करते हैं -

" कहाँगया वह
जिसने सब कुछ को
रस के दर्पण में था बैठाया । "[2]

यहाँ यह बात विशेष द्रष्टव्य है कि प्रौढ - विवेकी का गुरु - पक्ष सर्वोपरि सत्ता से स्वीकार हो जाता है । नामरूप गुणयुक्त भौतिक जगत का महत्व उसमें परिस्फुरित परम चैतन्य पर निर्भर रहता है । उसके अभाव में प्रापंचिक पदार्थ जड वस्तु ही रह जायगा । तब पदार्थों की सार्थकता परमार्थ से युक्त होने में है । अतः उसे पकड पानेवाली मानवीय प्रतिभा भी पारमार्थिक ही है । यह मानव में अनिवार्यतः अनादि है और चिरंतन भी । उससे यह सिद्ध होता है कि प्रातिभज्ञान मानव के द्वारा परम पुरुष का बहिस्फुरण है । तब तो " गुरु साक्षात् परब्रह्म" सार्थक सिद्ध होता है ।

---

1. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 18
2. जीवन के पार द्वार (अन्धकार में दीप) पृ.18.

कहने का तात्पर्य है कि आध्यात्मिक दृष्टि से जिस पितृबिम्ब से ईश्वर की परिकल्पना सम्भव हुई, वह गुरु का भी जनक है । अर्थात् प्रौढ विवेकी का गुरु - पक्ष पितृबिम्ब से सम्बन्धित हो सकता है । अज्ञेय की कविता में प्रौढ विवेकी का ऐसा ही रूप अधिक उभर आया है । मसीही सम्प्रदाय में जब अज्ञेय दीक्षित थे, उस अवधि के आध्यात्मिक चिंतन से सर्वाधिक प्रभावित " चक्रान्त शिला " शीर्षक में संग्रहीत कविताओं में अधिकांशः इस बात को प्रमाणित करती है ।

" उस बीहड़ काली एक शिला पर बैठा दत्तचित्त -
वह काक चोंच से लिखता ही जाता है अविश्रान्त ।"[1]

वह मृत्यु - अनस्तित्व - का दुर्दैवता है ।

लेकिन

" इस धवल शिला पर यह आलोक - स्नात
उजला ईश्वर योगी, अक्लान्त शान्त
अपनी, स्थिर, वीर, मन्द स्मिति से वह सारी लिखत
मिटाता जाता है ।"[2]

यह ईश्वर योगी ज्ञानालोक में तर है । उसके मुख पर जो स्मिति है, वह परमार्थ - प्राप्ति की है । वह मृत्यु के लिखित को मिटाकर मानव के अस्तित्व को अमरत्व प्रदान करता है । यह अमरत्व दाता ज्ञान का मूर्तरूप है । वह चिरन्तन ज्ञानवृद्ध या प्रौढ विवेकी का प्रतीकात्मक अभिव्यंजन है ।

इस तत्ववेत्ता धवलशिलासीन ईश्वर योगी का एक दूसरा रूप अन्यत्र उपलब्ध होता है । टूह की ओट बैठे बूढे से कवि मोती मांगता है । बूढा एक मूठ

---

1. आंगन के पार द्वार (चक्रान्तशिला 19) पृ.60
2. वही (वही) पृ.60

बालू उठा कवि को देता है तो कवि संदेह करता है कि उसमें मोती कैसे ? तब उन्हें बूढ़े से एक पैकेट मिला । इस पर कवि विस्मित हो बोले - "

"यही क्या मोती है
आपका ? "[1]

इसके उत्तर में उस बूढ़े ने कहा -

" मोती जो चाहते हो
उसकी पहचान अगर यह नहीं
तो और क्या है ?"[2]

जीवन के आन्तरिक सत्य की ओर संकेत करने वाला यह बूढ़ा प्रौढ़ - विवेकी के गुरु - पक्ष का परिचायक है, और ईश्वर योगी का अनुपूरक भी । वस्तुतः ये कविताएँ आध्यात्मिक चिंतन में रमे कवि मानस की तल्लीनता के निमित्त में जागरित अन्तश्चेतनागत प्रौढ़ विवेकी बिम्ब के गुरु और अर्धविवेकी चेहरों को व्यक्त करती है ।

इस बिम्ब के अर्धसिद्धि के पक्ष का परामर्श भी अज्ञेय में यत्र - तत्र उपलब्ध है ।

" पर यह
कि तुम उस मेरी घर की
एक मात्र खिड़की हो
जिस में से मैं दुनिया को, जीवन को
प्रकाश को देखता हूँ, पहचानता हूँ ।"[3]

इस काव्यांश में यद्यपि किसी बृहत्तर सत्ता की ओर संकेत अवश्य है, फिर भी उसमें

---

1. आँगन के पार द्वार (चक्रान्तशिला 20) पृ.61.
2. वही (वही) पृ.62.
3. कितनी नावों में कितनी बार (गृहस्थ) पृ.45.

साथ, किसी आन्तरिक काबिलियत की सूचना भी प्राप्त होती है जिससे कवि जगत और जीवन को समझ लेता है । उसके सहारे उनके सम्बन्ध में भाव गठन करता है । अथवा कवि के अनजाने ही भाव गठित हो जाते हैं । यह योग्यता अन्तश्चेतनागत है क्योंकि वह अबोधपूर्वक सम्पन्न व्यापार है ।[1] इसलिए यह निश्चित है कि वह प्रौढ विवेकी की विशेषता है । यही भाव " नाता - रिश्ता" नामक कविता में भी स्पष्ट किया गया है -

"तुम सतत
चिरन्तन किये जाते हुए
क्षण का सुख ही
(इसी में उस सुख की अलौकिकता है)
भाषा की पकड में से फिसलती जाती हुई
भावना का अर्थ -
(नहीं तो अर्थ सनातन है ।)"[2] यह भाषा की सीमा में न समा जाने वाला अबोधगत (अचेतन मूलक) सनातन अर्थ अवचेतन में विद्यमान प्रौढ विवेकी की योग्यता है । वही बाह्य संज्ञाओं को अर्थ से संपुक्त कर देता है । नहीं तो नए नए अर्थों पर मानव कैसे पहुँच पाता ? प्रागबिम्बीय तत्व होने से इसका पूर्ण ज्ञान संभव नहीं। रह रहकर उसका आभास मात्र कवि को मिलता है । वह भी बाह्य परिस्थितियों से परिवेष्टित होकर -

---

1. यहाँ युंग का कथन ध्यातव्य है कि 'When people go estray they feel the need of a guide or teacher or even of the physician. These primordial images are numerous but do not appear in the dreams of individual or in works of art until they are called into being by the waywardness of the general outlook - Modern Man in Search of a Soul. P. 19

2. कितनी नावों में कितनी बार(नाता - रिश्ता) पृ.50.

"वही, वैसे ही अपने को पा ले, नहीं तो
और मैं ने कब, कहाँ तुम्हें पाया है ?
हाँ, बातों के बीच की चुप्पियों में
हँसी में उलझ कर अनसुनी ही गई आहों में
भीड़ों में भटकी हुई अनाथ आँखों में
तीर्थों की पगडंडियों में
बासी पहले गुजरे हुए यात्रियों की
दाल बाटी की बची - खुची राखों में ।"[1]

अपने युग की विपरीत परिस्थितियों के घुटन से प्रभावित अज्ञेय की व्यक्ति - सत्ता (individual entity) के व्याकुलतापूर्ण रूप के बीच से झाँकनेवाली आध्यापूर्ण प्रौढ विवेकी सत्ता का साक्षात्कार मानव की अनसुनी आहों में, अनाथ आँखों की असहायता में, तीर्थों की पगडंडियों में कवि प्राप्त करते हैं तो स्वाभाविक है । वृद्धज्ञानी का यही रूप कवि पहले ज्वार उठे में संकुलता के बीच व्यथा भरी आँखों के साथ जुड़े होनेवाले नर में भी देखते हैं । यही कारण है कि वह उनका प्रतिरूप ठहरा । अतः कवि उसे समग्रता में संबोधित करते हैं -

" ओ नर, ओ नारायण
उभर बन्ध ओ निराधार ।"[2]

मातृबिम्ब (Archetype of Mother)

अन्तश्चेतनागत आदि पिता और आदि माता का साक्षात्कार भी अज्ञेय - काव्य में कम नहीं है । अज्ञेय के जीवन चरित के विवरण के संदर्भ में हमने दिखा

---

1. कितनी नावों में कितनी बार (नाता - रिश्ता) पृ.52.
2. वही (महानगर : दुहरा) पृ.61.

कि उनके व्यक्तित्व के विकास में उनकी अपनी माता का योगदान कम है । पितृमन का प्रभाव ही प्रबल रहा था । अज्ञेय - काव्य का अनुशीलन मातृ - पितृ - वात्सल्य के इस असन्तुलन के स्पष्ट करता है । माता चिरनारी बिम्ब का महनीय और गौरवान्वित रूप है। चिरनारी की विलासपूर्ण सुरत - किशोरी रूप - का जितना वर्णन अज्ञेय में उपलब्ध है उतना मातृरूप का नहीं । फिर भी इसका मतलब यह नहीं कि उनके काव्य जगत में जननी - तत्व का बिलकुल अभाव है । वह असम्भव है । माता और पिता के बिना अस्तित्व का कुछ आधार ही नहीं रहता । अतः अज्ञेय में भी मातृसत्तात्मक सूचनाएँ मातृ - भूमि के प्रति आस्था राष्ट्रीय चेतना, सांस्कृतिक परम्परा से स्थिर सम्बन्ध में रहने का मोह आदि से संवलित अनुभूतियों में देखने को मिलती है । माता ममतामयी है । माता की ममतामयी बाँहों में उलझ जाने की वांछा अज्ञेय में भी कम नहीं है । -" कहाँ, पर कहाँ वे ममता-मयी बाँहें ?"[1]

लेकिन इन ममतामयी बाँहों की याद सालों के बाद ही कवि में जाग्रत होती है । अपने जीवन की विशेष परिस्थितियों के कारण, जिस मातृसत्ता का साक्षात्कार साधारण तौर पर स्वजननी में सहज ही हो जाना चाहिए था, वह नहीं हो पाया । यही नहीं माता अज्ञेय केलिए वात्सल्यमयी न होकर, उसकी आन्तरिक सच्चाई की अवहेलना करके सतानेवाली आतंककारी (terrible) ही ठहरी । माता का रूप तेजोमय न रहा, वह अनादर्श ही दीखा -

" बेचारी हर - झोंक - मारी, विरस अकिंचन
सेमर की बुढ़िया मैया ।"[2]

---

1. अगिन के पार द्वार (परायी राहें) पृ.23.
2. पूर्वा (माघ - फागुन - चैत) पृ.181.

बचपन में मातृपक्ष से प्राप्त अवहेलना और निन्दा ने अज्ञेय के बालक - मन में मातासम्बन्धी धारणा को विकल करा दिया था । फलतः मातृस्थानीयता जननी के प्रति उनके अन्तर्मन में महामातृ सत्ता का अनाकर्षक, शोभाहीन विसात्मक रूप ही उद्भूत हो सका जिसे युंग terrible mother कहते हैं ।[1] उद्धृत पंक्तियों में माता के उस रूप का चित्रण अपनी माता पर अभिक्षिप्त हुए आतंककारी मातृरूप को स्पष्ट करने में समर्थ है ।

पिता के सतत सामीप्य के दिनों में मातृपक्ष की मन्दता ने अज्ञेय के जीवन और व्यक्तित्व विकास में कोई विशेष कसर नहीं उठा रखी । बासकर, निरंतर स्थान परिवर्तन से विकसित निस्संगता और यायावरी वृत्ति एवं स्वावलंबन की चेतना ने अज्ञेय को वैयक्तिक नाते - रिश्ते से हमेशा एक निश्चित दूरी बरतने में सहायता पहुँचाई । पिता के व्यक्तित्व के सर्वातिशायी तथा दुर्निवार प्रभाव का प्रभुत्व और सख्त नियंत्रण अज्ञेय को व्यक्तिगत सम्बन्धों में भावुकता (sentimentality) पूर्ण तरलता एवं विवशता से मुक्त रखा था । किन्तु फिर भी वे सर्वथा निर्बन्ध मुक्त नहीं हो सकते थे । ममता - बुद्धि से मुक्ति असंभव है, खतरनाक भी । ममत्व को व्यक्ति के दायरे से बाहर ले जाकर विश्वबन्धुत्व में विकसित कर लेने पर भी दोनों के मूल में एक ही तत्व निहित रहता है । वह तत्व अचेतन - स्थित मातृसत्ता है । उसको किसी भी तरह जाग्रत रहना ही चाहिए । उसका नाश अनाथता का हेतु है । अतः वह ममत्वमूलक सत्ता व्यक्ति को साधारण तौर पर व्यक्तिगत सम्बन्धों की स्वार्थपूर्ण छोटी सीमा के अन्तर्गत पार्थिवता से सम्बद्ध रखती है । आसंगहीन निस्वार्थी का मातृबिम्ब उनकी समष्टिगत दृष्टि, राष्ट्रीय-चेतना मातृभूमि के प्रति प्रेम और श्रद्धा आदि में प्रतिफलित होकर देश और दुनिया पर अभिक्षिप्त मिलता है । तब धरती उनकी माता बनती है । उनके अस्तित्व का पार्थिव आधार उसमें स्पष्ट भी होता है । अनासंग अज्ञेय की मातृ सत्ता इसप्रकार मिट्टी की ओर

---

1. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 81
Cf. 'Symbols of Transformation' by Jung.

उभुख हो गई । अतः यद्यपि प्रारंभ में चिरकुमारी सत्ता का किशोरी रूप ही अज्ञेय में बराबर विकास पाता रहा, फिर भी उसका मातृ - रूप भी बीच बीच में स्फुरित होता रहा है ।

धरती किसकी माता नहीं है ? वही सब कुछ का प्रभव स्थान है । वह सब की जननी है, उससे ही सब की उत्पत्ति है । मातृ सत्ता है - सूक्ष्म और स्थूल से - पृथ्वीविच्छित्ति असंभव है । कवि ने यह जान लिया है । उनकी अन्तः सत्ता बोल उठती है -

" कितना तुच्छ है तुम्हारा अभिमान
क्योंकि मिट्टी ही ईहा है । "[1]

क्यों कि

"मिट्टी के नीचे क्रियमाण थी
पौधे की जड़
सृष्टिशक्ति
आद्यमातृका । "[2]

स्वतंत्रता संग्राम के आवेगपूर्ण दिनों में

देश प्रेम से भरे अज्ञेय के सामने आख्यान
पड़ी अपनी गुलाम जन्म भूमि अपमानित
और आहत मातृत्व का रूप धारण करती है -

फट जा, आज धरित्री । मेरी दुःसह लज्जा
आज मिटा दे ।
रक्त स्नात वह मेरा सखी, मेरी दुःखिया भारत मां है । "[3]

---

1. पूर्वा (मिट्टी ही ईहा है) पृ.169.
2. इन्द्र धनु रौंदे हुए ये (हमने पौधे से कहा) पृ.86.
3. पूर्वा (रक्तस्नात वह मेरा साकी) पृ.66.

परतंत्रता की दुःसहता से व्यथित कवि के अन्दर

जन्म भूमि का जो दयनीय रूप अनुभूत हुआ,
उसके फलस्वरूप कवि की अचेतनगत
मातृसत्ता के अनावर्त पहलू जाग कर कवि की मातृभूमि पर अभिक्षिप्त होते देर नहीं लगती ।

यह माँ जो सृष्टिशक्ति है, आद्यमातृका है(प्रतिबिम्ब है)आजीवन ममता है ।[1] इस ममत्व - शक्ति के गहनतर होने के साथ साथ जीवन अधिकाधिक फूलने फलने लगता है -

" ऊपर वह हँसता सिहरता था
और हम देख देख खिलते
विहरते थे ।
किन्तु वह अनुपल अनुक्षण
और, और गहरी
टीसता था बुदबुदाते उस अन्धकार में ।"[2]

इसप्रकार धरणी जो सुखदा, वरदा, शुभदा और भरणी है, मानव के निगूढ अचेतन धरातल में निहित चिरनारी का पूर्ण प्रतीक है क्योंकि नारी रजनी है, धरती है, वधू या है, माता है ।[3]

---

1. इसके साथ युंग की इस राय को मिलाकर पढना उचित है : 'Were I a philosopher, I should continue in this Platonic Strain and say: Somewhere in a place beyond the skies there is a prototype or primordial image of the mother that is preexistent and supra-ordinate to all phenomena in which the maternal, in the broadest sense of the term, is manifest' - Archetypes and the Collective Unconscious. P. 75

2. इन्द्र धनु रौंदे हुए ये (हमने पौधे से कहा) पृ.86.

3. वही (पुरुष और नारी) पृ.80.

इस ममतामयी महामातृसत्ता का बहिस्फुरण ही परम्परा में कवि की दृढ आस्था में परिलक्षित होता है -

" मै जिस देहरी पर हूं
तीर्थ नही
वह सम्प्राय है~। "[1]

सम्प्राय की देहरी पर स्थित हुए बिना वृद्धिव नहीं, यह अज्ञेय की दृढ धारणा ही है । परम्परा से विच्छोह सहज नहीं क्योंकि कवि का कवित्व और व्यक्ति का व्यक्तित्व परम्परा पर ही अपनी नींव दृढ कर लेते हैं । परम्परा से अलग होना निर्मूल होना है । कारण कि परम्परा से अलग होना निर्मूल होना है । कारण कि परम्परा वह मिट्टी है जो संस्कृति से उर्वर है । संस्कृति तो मानव के आत्मानुभूत सत्यों का साध्य है । जब अज्ञेय कहते है -

" पर तीर्थ यही तो होते है -
अनजाने - यद्यपि वांछित, सम्प्राय
हम होते ही रहते है वहां पर । "[2] तब उनके शब्दों में अपनी सांस्कृतिक परम्परा के साथ उनकी दृढ आस्था, व परम्परा के आधार की अनिवार्यता स्पष्ट होती है परम्परा के संदर्भ में तीर्थ शब्द विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि तीर्थ स्थान या क्षेत्र मातृबिम्ब का जीवनगत प्रतीक ठहरता है ।

" अरे यायावर रहेगा याद "[3] प्रश्न में चिरकुमारी के साक्षात अन्वेषण का स्वर सुनाई देता है तो

---

1. कितनी नावों में कितनी बार (सम्प्राय) पृ.91.
2. वही वही पृ.92.
3. इन्द्र धनु रौंदे हुए ये (दुर्वाचल) पृ.82.

" पर हाँ मानता हूँ कि
जब - तब पछताता हूँ कि
बहुत दिन हो गए
घर छोड़े " [1] में यायावर की निस्संगता की निर्लिप्तता के बीच में भी फूट निकलनेवाली गृहातुरता कवि की अन्तश्चेतनागत मातृसत्ता का साक्षात्कार प्रमाणित करती है ।

कोई भी प्रवासी ऐसा नहीं होगा जिसने कम से कम एक बार अपने जन्म - देश या जन्म - घर की शान्तिपूर्ण, ममता - बन्धुर वातावरण की सुखद कल्पना न की हो । यह गृहातुरता उसे अधिकाधिक 'भीड़ में अकेला' भी बना देती है । वह माता से अलग किया गया बालक बन जाता है । मातृसाक्षात्कार की अबोधपूर्व आकुलता उसमें जाग पड़ती है । गृहातुरता इस मातृ - सामीप्य, शान्ति और सुरक्षा की कामना का प्रतीकात्मक अभिव्यंजन है । वैयक्तिक जीवन में भी अज्ञेय के सम्बन्ध में यह सत्य है । प्रत्येक प्रवास अज्ञेय में मातृ - भूमि के प्रति घनिष्टता बढ़ाती ही रहा । कवि नहीं चाहते -

" . . . . . इस सहलाती अजनबी
वसन्त बयार के बदले
वही अपना झुलसाता अन्धड़ फिर
अंग अंग को मरोड़े ,
यह दुलराती फुहार नहीं
वह मौसमी घपेड़ दुनिवार
देह को संजोड़े . . . . . .

---

1. सागर मुद्रा (घर छोड़े) पृ.25.

" पर भोर हो, सूरज निकले, तो ऐसे
जैसे कैक्टस बियाबान की
पहाड़ी मिट्टी को
नया अंकुर फोड़े ।"[1]

फिर भी देश की याद उन्हें विषादमग्न कर डालती है अनजाने ही । यह विषाद उन ममतामयी बाँहों में बँध जाने की अभिलाषा से उत्पन्न है । यह ममता अचेतनगत आदि माता का परिचायक है ।

" अहं राष्ट्री संगमनी जनानाम् "[2] कविता में राष्ट्रीय अस्मिता पर हुंकार उठनेवाले अज्ञेय की वाणी के द्वारा भारत माता ही मुखर हो उठती है -

" तू किस किस को रोएगा ?
कब बनेगा तो गोष्ठ
कब बनेगा तो राष्ट्र
कब तू अपनी नियति को पकड़ पाकर
तकिया लगाकर सोएगा ? "

ये उद्गार सचमुच एक देशप्रेमी के हैं । वे निश्चित ही कवि के अंतरंग में स्थित महामातृ-सत्ता से प्रेरित है क्योंकि अज्ञेय केलिए तो जन्मदेश माता ही है । उस माता के सामने ही कवि अपना अलग स्वतंत्र व्यक्तित्व अनुभव करता है -

" और यहाँ देश में, मैं
रेल की पटरी के किनारे बैठा हूँ
और लौट लौट कर देखता हूँ

---

1. सागर मुद्रा (धर छोड़े) पृ.25.
2. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ : पृ.19

कि हर चीज़ पर मेरी छाप बनी तो है न
जिससे कि मैं उसे अपना पहचानूं ?
तो मैं हूं, न ?
यहां देश में, मैं हूं, न ? "[1]

अज्ञेय में आदिमाता एवं इसप्रकार देश के प्रति घनिष्टता और घर के प्रतीक में प्रतिबिम्बित मिलता है । अज्ञेय ने घर को देश (भूमि) के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया है । 'घर की याद' कविता इसको प्रमाणित करती है ।-

"क्या हुआ अगर किसी को घर की याद आती है
और वह उसे देश कहकर देशप्रेमी हो जाता है ।
. . . . . .
याद मुझे भी आती है : इससे क्या कि जिसकी आती है
वह दूसरों की भाषा में घर नहीं है ?
. . . . . .
अगर मेरा घर
वैसा नहीं है जिसे सिर्फ सोचा जा सकता है, वरन
वैसा है जिसे देखा, छुआ, सूंघा, हाँ चखा जा सके ?
. . . . . क्या हुआ ?
मुझे भी याद आती है
घर की, देश की, एकान्त अपने की
अपनी हर यात्रा में "[2]

---

1. पहले मैं सन्नाटा बुनता हूं (विदेश में कमरे) पृ.46.
2. वही (घर की याद) पृ.50 - 51.

पितृबिम्ब (Archetype of Father)

आदिमाता के समान आदि पिता की सूचना देनेवाली पंक्तियाँ अज्ञेय के काव्य में प्रभूत मात्रा में उपलब्ध है । आदिम पिता (father imago) जैसे पहले सूचित किया गया आध्यात्मिक भावना का सबसे तत्व है । अज्ञेय की पहली कविता ही इस आध्यात्मिक भावना से ओतप्रोत है । यद्यपि उसपर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का स्पष्ट प्रभाव है, फिर भी उस कविता के प्रणयन के पीछे स्वपिता के उज्वल व्यक्तित्व की प्रखरता के साहचर्य में पहले ही जाग्रत अन्तर्वर्ती पितृबिम्ब के साक्षात्कार को देख लेना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तर्कसंगत है ।

इस अन्तर्भूत मौलिक सत्ता से कवि कभी मुक्त नहीं हो पाते । यही नहीं, उसकी प्रबलता उनके कृतित्व में आमूलाग्र बनी भी रहती है । यह ठीक है कि कवि के बौद्धिक विकास और परिस्थितियों के परिवर्तन के अनुरूप उनके संवेदन तो बदलते रहे । अध्यात्म से अपना अलगाव भी वे एक बार घोषित करते हैं कि " इस विकास गति के आगे है कोई दुर्दम शक्ति कहीं, जो जग की स्रष्टा है, मुझ को तो ऐसा विश्वास नहीं"[1], फिर भी " फिर भी यदि कोई है"[2] कहकर उस परम सत्ता निषेध को वे शंका में परिवर्तित कर देते हैं । वास्तव में वे ऐसी सत्ता का खण्डन करने में असमर्थ हैं। बदले वे स्पष्ट ही एक सुसीम शक्ति का अंगीकार करते हैं । जग - स्रष्टा हो, शून्य हो, ईश्वर हो या मानव, उस प्रकार के किसी आधार - तत्व के बिना उसके वह अपने को आधारहीन और अनाथ महसूस करेगा । यही कारण है कि ईश्वर से अलग होने पर अज्ञेय की आस्था यथार्थ भौतिक अस्तित्व रखनेवाले मानव में केन्द्रित होती दिखाई पड़ती है ।

---

1. पूर्वा (प्रार्थना) पृ.75.
2. वही वही पृ.75.

असीम शक्ति की ऐश्वरीयता लुप्त हो जाती है ; वह मानव की कही आन्तरिक उत्कृष्टता का आधार बना दी गई -

" मैं भी एक प्रवाह में हूं
लेकिन मेरा रहस्यवाद ईश्वर की ओर उन्मुख नहीं है,
मैं उस असीम शक्ति से
सम्बन्ध जोडना चाहता हूं
अभिभूत होना चाहता हूं
जो मेरे भीतर है ।"[1]

इसप्रकार अज्ञेय का परम तत्व मानव की ही आन्तरिक सत्ता बन गई । यहां हम देखते है कि ईश्वर या उसके स्थान पर कुछ और तत्व अपने आधार के रूप में अज्ञेय स्वीकार करते हैं । व्यक्ति स्वयं उस असीम का अंश है उनकेलिए । थोडे में, एक असीम सत्ता पर अज्ञेय की आस्था किसी न किसी प्रकार उनके काव्य में आधीभूत संस्कार के रूप में प्रवहमान है । यह आस्था, संदेह नहीं, उस अपरिहार्य आन्तरिक अवैतनगत आदिपितृ-सत्ता के सूक्ष्मअस्तित्व को सिद्ध करती है, जिसका रूप अज्ञेय के शब्दों में इसप्रकार उभर आया है -

" मेरी आंखें
उलझी थीं, उस तेजोमय प्रभापुंज से
जिससे झरता कण कण उस कमटूटी को
कर देता था कभी स्वर्ण तो कभी शस्य,
कभी जीव तो कभी जीव्य
अनुक्षण नव नव अंकुर - स्फोटित, नवरूपायित ।"[2]

---

1. पूर्वा (रहस्यवाद) पृ.79.
2. अरी ओ करुणा प्रभामय (नए कवि से) पृ.25.

यह प्रभापुंज अज्ञेय में अध्यात्मिक रहा था शुरू में । बाद में यह मानववादी दृष्टि से मिलकर मानव की अद्वितीयता और जीवन की सार्थकता की ओर मुड़ गया । तब कवि ने अनुभव किया :

"परे मनुज से नहीं कहीं कुछ
इसी तर्क से जीवन स्वतः प्रमाण है ।"[1]

लेकिन आगे चलकर पियर - वि - दीर (पेरिस) के मठ की दीक्षा और आध्यात्मिक चिंतन के फलस्वरूप उनकी अनुभूतियों का केन्द्र फिर से अध्यात्मिक सत्ता बन गया । उस स्थिति में कवि के अचेतनगत आदि - पिता - बिम्ब का सम्बन्ध ईश्वर से हो जाता है। 'आँगन के पार द्वार' की अधिकांश कविताएँ इस आदि पिता के साक्षात्कार को चित्रित करती है -

"एषाँ में एक अरूप सदा खिलता है,
गोचर में एक अगोचर, अप्रमेय,
अनुभव में एक अतीन्द्रिय,
पुरुषों के हर वैभव में ओझल
अपौरुषेय मिलता है ।"[2]

यह कविताँश निश्चित ही अपने अन्दर अनुभूत होनेवाले अचेतनगत अव्यक्त अपौरुषेय शक्ति - तत्व के साक्षात्कार की अनुभूति से अनुप्राणित है । एषाँ में हमेशा खिलनेवाला यह अरूप और पुरुषों के हर वैभव में छिपे रहनेवाला (ओझल) अपौरुषेय तत्व मानवान्तर्भूत आदम-बिम्ब एषी चित्रित ही होती है क्योंकि वही अमूर्ततत्व मानव की सारी उपलब्धियों के पीछे की प्रेरक शक्ति रहती है । मानव की अन्तः प्रेरणा का तत्व होनेपर भी वह मानव व

---

1. इन्द्र धनु रौंदे हुए ये (यही एक अमरत्व है) पृ.49.
2. आँगन के पार द्वार (चक्रान्त शिला - 1) पृ.39.

समग्र के परे की चीज़ ठहरती है । यहाँ परम सत्ता के परिचायक के रूप में अभिव्यक्त अनुभूतियों में साक्षात्कृत प्रागुबिम्ब कवि के अन्तस्तल की पितृसत्ता ही है क्योंकि ईश्वर - संकल्प के पीछे उस आदि पितृबिम्ब का अभिक्षेप ही घटित होता है ।

सघन एकांतता की नीरवता में ध्यानलीन दिखनेवाली वनस्थली में उपस्थित होने पर कवि के मौन मग्न एकाग्र चित्त में आत्मालोक की ज्योति बिखर जाती है । आत्मज्ञान के उस प्रकाश में उस विराट से तादात्म्य प्राप्त कर लेते हैं -

"पर सब से अधिक मैं
वन के सन्नाटे के साथ मौन हूँ, मौन हूँ,
क्योंकि वही मुझे बतलाता है कि मैं कौन हूँ,
जोड़ता है मुझे विराट से
जो मौन अपरिवर्त है, अपौरुषेय है
जो सब को समोता है ।"[1] उस मौन में अपनी सनाथता के मौलिक तत्व के साक्षात्कार का परितोष, आत्मशान्ति है, सकलता की समस्थिति है ? अस्तित्व के सायुज्य का कैवल्य है । इसी स्थिति में

"सुनता हूँ गान के स्वर
. . . . . .
एक भव्य, मन्द्र, गम्भीर, बलवती तान के स्वर ।"[2]
यह आह्लाद का स्वर है, एक सरस आलोक - विद्ध उन्मेष, चिरन्तन प्राण का स्वर है"[3]

---

1. आँगन के पार द्वार (चक्रान्तशिला - 2) पृ.40.
2. वही (चक्रान्तशिला - 3) पृ.41.
3. वही (चक्रान्तशिला - 3) पृ.41.

इस आन्तरिक तत्व के प्रेरणादायक और उन्मेषकारी जागरण की एक अगली कविता में कवि इस प्रकार चित्रित करते हैं -

" रात में जागा
अन्धकार की खिड़की के पीछे से
मुझे लगा : मैं सहसा
सुन पाया सन्नाटे की कनबत्तियाँ
धीमी, रहस, सुरीली
परम गीतिमय ।
. . . . . .
" मैं ने उठकर खोल दिया वातायन
और दुबारा चौंका
वह सन्नाटा नहीं -
झरोखे के बाहर
ईश्वर गाता था ।"[1]

रात में अन्धकार की खिड़की के पीछे की परम गीतिमय कनबत्तियाँ अचेतन की गहनतम अन्धी कोठरी के सहजस्पन्दन की ओर संकेत करती है (dark stirrings of the unconscious) अध्यात्मिक चेतना की प्रबलता की वेला में जाग्रत पितृबिम्ब उसके बाहर की दुनिया में (चेतनमें) ईश्वरीय प्रतीक में संवलित होकर अनुभवगम्य होता है । इस प्रकार साक्षात्कृत होनेवाला प्राणबिम्ब प्राणबिम्ब चेतन में " चिरन्तन प्राण का गान" गाते हुए ही प्रकट होता है - मानव की चिरन्तनता को घोषित करता है ।

---

1. आँगन के पार द्वार (चक्रान्त शिला - 6) पृ.44.

" फोड़ फोड़ कर जितने को तेरी प्रतिमा
मेरे अनजाने, अनपहचाने
अपने ही मन माने
अंकुर उपजाती है -
बस उतना मैं वेत हूं ।"[1]

कवि की अस्मिता के कंचुक को फोड़ फोड़ कर उनके अनजाने, अन - पहचाने, अपने आप प्रतीकांकुर को - भावांकुर को - पैदा करनेवाली प्रतिमा के प्रभाव स्थान को सर्वोपरि सत्ता अथवा ईश्वर मानते हुए वास्तव में अज्ञेय अपने ही भीतर निहित रहनेवाली पितृसत्ता की ओर संकेत कर रहे हैं । कारण कि यहाँ जिस प्रतिभातत्व का वर्णन किया गया है, वह प्रागबिम्बीय विशेषताओं से युक्त है । यही नहीं, हम देख चुके कि ईश्वर आदि - पितृ - बिम्ब से प्रसूत है अथवा ईश्वर - परिकल्पनाएँ में पितृ सत्ता का साक्षात्कार ही हुआ है ।

कालान्तर में अज्ञेय के आदि - पिता के अभिक्षेप केंद्र में स्थानान्तरण हो गया । आध्यात्मिक संवेदनाओं से मुक्ति व्यक्तित्वपूर्ण निस्संग ममेतर मानव से युक्ति में परिणत हुई तो ईश्वर का स्थान इस मानव ने ले लिया । ' ओ निस्संग ममेतर '[2] कविता इसका दृष्टान्त है । परम ज्योति के अणु के रूप में कवि के सामने खड़ा होनेवाला व्यक्ति 'छोटी सी ज्योति ' ही है । अतः वह आध्यात्म - ममेतर (ईश्वर) के समकक्ष ही है, चिरन्तन पितृबिम्ब से प्रेरित है । उसके पास पहुँचने में कवि को काफी लम्बे समय की यात्रा भी करनी पड़ी है -

---

1. आँगन के पार द्वार (चक्रान्त शिला - 8) पृ.47.
2. कितनी नावों में कितनी बार पृ.16.

" कितनी दूरियों से कितनी बार
कितनी डग मग नावों में बैठकर
मैं तुम्हारी ओर आया हूं
जो मेरी छोटी सी ज्योति । "[1] यह ज्योति कवि का साध्य है । उसका साक्षात्कार कवि की आन्तरिक आकुलता और अस्तित्व की प्रेरणा है । वह कवि का आन्तरिक आलोक है, उनके सृजनात्मक जीवन का उत्तेजक या उद्दीपक है, व्यक्ति उसका प्रतीक है । अतः वह निस्तंग ममेतर है । उससे कवि का रागात्मक सम्बन्ध हो जाता है -

" मेरे भीतर एक सपना है
जिसे मैं देखता हूं कि जो मुझे देखता है, मैं नहीं जान पडता ।
यानि कि सपना मेरा है या मैं सपने का
इतना भी नहीं पहचान पाता । "[2]

कवि के भीतर, उनके अन्तस् में घुलमिल गए इस सपने में जिस सहतितीर्षु निस्तंग ममेतर का रूप निखर उठता है, वह शुद्ध मानवीय सत्ता मात्र न रहकर आध्यात्मिक ममेतर सत्ता से संपृक्त दीखता है ,-

" तुम जो मेरे हो, मुझ में हो
सघनतम निविड में
मैं ही जो हो अनन्य
तुम्हें मैं दूर बाहर से, प्रान्तर से,
देशावर से, कालेतर से
तल से, अतल से, पार से, सागर से, अन्तरिक्ष से

---

1. कितनी नावों में कितनी बार (कितनी नावों में कितनी बार) पृ.8
2. कितनी नावों में कितनी बार (यह इतनी बडी अनजानी दुनियां) पृ.9.

निष्पाप तेजस के निर्मलीर शून्य आकार से
मैं समाहित, अन्तपूत
मन्त्राहुत कर तुम्हें
ओ निस्संग ममेतर
ओ अभिन्न प्यार
ओ धनी,
आज फिर एक बार
तुम को बुलाता हूँ । (1)

इसप्रकार इस निस्संग ममेतर में - अद्वितीय व्यक्तित्ववाले प्रतिछायुक्त लघुमानव की महानता में - अलौकिक आध्यात्मिक तत्वों का भी समावेश करके कवि ने अनजाने ही उसे चिरन्तन पार्थिव सत्ता का भी रूप दे दिया है । इसका एक मात्र कारण यह है कि अज्ञेय का ममेतर - संकल्प आदि - पिता से प्रेरित है । कभी कभी उसकी - ममेतर की - सूक्ष्म पार्थिवेतर प्रकृति उसे प्रागैतिह्य से अभिन्न सिद्ध करती है -

" ओ मेरी पुण्य प्रभव
मेरे आलोक स्नात, पद्म - पत्रस्थ जलबिन्दु,
मेरी आँखों के तारे
ओ ध्रुव, ओ चंचल,
ओ तपोजात,
मेरी कोटि - कोटि लहरों से मंजे एक मात्र मोती
ओ विश्व प्रतिम
अब तू इस द्युति सीप को अपने में समेट ले

---

1. कितनी नावों में कितनी बार (ओ निस्संग ममेतर) पृ.16.

यह परिदृश्य सीख ले ।
स्वाति बूंद । चातक को आत्म लीन तू कर ले ।
ओ वरिष्ठ, ओ वरदे, वर ले । "[1]

इन पंक्तियों की आवहन ध्वनि विशेष ध्यान देने योग्य है । यहाँ, अपनी आन्तरिक शक्ति को मन्त्रोद्गारों से जाग्रत कर लेनेवाले साधक के समान, कवि अपने आत्मानुभूत सत्य को लघु मानव को ईश्वरानुरूप गुणों और धर्मों से मंडित करके, सचमुच अपने अन्तर्गुहावासी आदिम पिता की निरंतर अनुध्यान के द्वारा जागृत, त्रसित एवं तीव्र कर रहे थे, उन शब्दों से उसी चिरंतन सत्ता को संबोधित कर रहे थे । इसके फलस्वरूप कवि के 'लघुमानव' का एक प्रागबिम्बीय आन्तरिक गौरव से(गुरुता से - gravity) दृढता पा सका । हाइकार प्रागबिम्बीय स्रोत से एकान्वित होने के कारण ही अज्ञेय का ममेतर साधारण मानव प्राणी न बनकर कालदेशातिशायी चिरन्तन मानवीय सत्ता का रूप धारण कर पाया है । तब उसे छोडकर फिर किसे कवि अपना प्यार बाँट सकते है -

" तुम्हें नहीं तो किसे और
मैं दूं
अपने को
(जो भी मैं हूं) ?
. . . . .
तुम, ओ एक, निःसंग, अकेले
मानव
तुम को - मेरे भाई को । "[2]

---

1. कितनी नावों में कितनी बार (ओ निस्संग ममेतर) पृ.25 - 26.
2. कितनी नावों में कितनी बार(तुम्हें नहीं तो किसे और) पृ.62.

आदि - पिता के ईश्वरीय रूप की दुर्निवारता की झलक, ठीक है

मैंने ही तेरा नाम लेकर पुकारा था
पर मैं ने कब कहा था
कि यों आकर
मेरे दिल में ज्वल "[1] में मिलती है ।

ईश्वर की करुणा के आश्रय की चाह की व्यंजना में अपने सामूहिक अचेतन की जागृत अवस्था और तन्निहित परमपिता बिम्ब के उद्रेक की निरंतता की अबोध-पूर्वक अभिलाषा ही अभिव्यक्त है । कलाकार वैसिर इन प्रागबिम्बों का उद्रेक ही अस्तित्व की महानता एवं कृतित्व का मूलाधार है । साधारण व्यक्ति के जीवन में भी प्रागबिम्बों का सास-कर मातृ - पितृ - स्नेह सत्ताओं का - लोप खतरनाक है । अतः कृतिकार के पक्ष में, प्रागबिम्ब ही उनकी सृजनात्मकता की नींव है । वह कलाकार का अक्षय और व्यूह है । उससे अलगाव उसके लिए कल्पनातीत है । उसकी करुणा ही उसे सब से बड़ा वरदान है -

" राम जी
भले आए
ऐसे ही
आँधी की ओट में
चले आए
बिना बुलाए
. . . . .
ऐसे ही एक दिन
डोलता हुआ आ धमकूंगा मैं

---

1. सागर मुद्रा (मैं ने ही पुकारा था) पृ.17.

तुम्हारी दरबार में
औचक क्या ले सकोगी
अपनी करुणा के पसार में । "[1]

कुछ अन्य बिम्ब : (आत्म बिम्ब, व्यक्तित्वाभासी आदि - Soul image, Persona etc.)

अपर हमने जिन प्राणबिम्बों की चर्चा अज्ञेय के काव्य के संदर्भ में की, उनके अलावा आत्मबिम्ब, व्यक्तित्वाभासी जैसे कुछ अन्य बिम्बों की विवृति भी उनके काव्य में यत्र तत्र उपलब्ध है । प्रज्ञा की पूर्णता को द्योतित करनेवाले आत्मबिम्ब का प्रतिफलन एक स्थान पर इस प्रकार हुआ है -

" न कुछ में से वृत्त यों निकला कि जो फिर
शून्य में जा विलम होगा । "[2]

शून्य से शुरू होकर शून्य में ही समाप्त होनेवाला यह वृत्त पूर्ण है । यह भारतीय परम्परा के मण्डल प्रतीक का रूपान्तर है । सर्वांगसंश्लेषण का द्योतक है । उसमें पूर्णता के साथ सुरक्षा का तत्व भी गुम्फित है । अज्ञेय के लिए यह वृत्त रूपातीत ठंडी ज्योति से आलोकित भी है जो आत्यंतिक अनस्तित्व (शून्यता - न कुछ -) के आतंक से उन्हें मुक्त रखती है । इस कारण वह वृत्त - आत्म तत्व - ईश्वरत्व की विभुता से विभूषित भी हो जाता है -

" चेतना मेरी बिना जाने
प्रभा में निमजती है :
मैं स्वयं
उस ज्योति से अभिषिक्त
सजता हूँ । "[3]

---

1. सागर मुद्रा (भ ले आए) पृ.63.
2. आँगन के पार द्वार (चक्रान्तशिला - 17) पृ.58.

चित्र - 12

पीठासीन देवी

दृढ आस्तिक बुद्धि से परिचालित अज्ञेय की मनीषा में शून्यता को स्थान नहीं है । अनास्तिकता, सुप्रज्ञा की शान्ति से युक्त कवि की प्रज्ञा की पूर्णता को आदिमपिता से उद्भूत ईश्वरतत्व की कालातिवर्ती चैतन्य का स्थायित्व दृढ आधार प्रदान करता है । और उसे अनश्वरता के आलोक से ज्योतिर्मय बना देता है । अज्ञेय में आत्मतत्व और ईश्वरत्व के बिम्बों का अभिव्यंजन सागर, नदी, द्वीप, चिड़िया आदि प्रतीकों में प्रचुरमात्रा में हो पाया है ।

व्यक्तित्वाभासी बिम्ब की झाँकी प्रयोगवादी के रूप में अज्ञेय के वीरता-मूलक व्यक्तित्व में मिलती है । अहंता से सम्बद्ध इस बिम्ब ने अज्ञेय के कृतित्व में, नई कविता एवं नई व्यंजना से सम्बद्ध करके उनसे लिखित कविताओं के द्वारा साक्षात्कार पाया है -

" तुम जो कुछ कहना चाहोगे
विगत युगों में कहा जा चुका :
सुख का आविष्कार तुम्हारा ?
बार बार वह सहा जा चुका ।
रहने दो वह नहीं तुम्हारा
केवल अपना हो सकता जो
मानव के प्रत्येक अहं में
सामाजिक अभिव्यक्ति पा चुका । "[1]

स्पष्टतः कवि का अहं ही यहाँ बोल उठता है । अन्तश्चेतनागत व्यक्तित्वाभासी का बहि-

---

3. अगिन के पार द्वार (चक्रान्त शिला - 17) पृ.58.
1. पूर्वा (नयी व्यंजना) पृ.237.

चित्र - 13

मणिपूरक चक्र

स्फुरण ही उसमें लक्षित होता है । " नया कवि : आत्मस्वीकार" कविता में भी आत्म - स्वीकार के रूप में प्रकट किये गए भावों के बीच से उनके अन्दर की अहंता उभर आती है-

" यों मैं कवि हूँ, आधुनिक हूँ, नया हूँ
काव्यतत्व की खोज में कहाँ नहीं गया हूँ ?
चाहता हूँ आप मुझे
एक - एक शब्द पर सराहते हुए पढ़ें ।
पर प्रतिमा - अरे यह तो
जैसी आप की रुचि आप स्वयंगढ़ें ।"[1]

अज्ञेय की कविताओं में प्राप्त - साक्षात्कृत प्रागबिम्बों के इस विशेष अध्ययन के द्वारा उनकी कविता की अन्तर्धाराओं और जड़ों को पकड़ने की कोशिश की गई है । कवि आधुनिक हो या प्राचीन, प्रागबिम्ब के प्रातन तत्वों से उनकी मुक्ति कभी नहीं हो पाती और कविता उस आन्तरिक स्वयंभू आलोक का परिस्फुरण है, यह सिद्ध होता है । उसकी सामाजिक महत्ता भी उसकी प्रागबिम्बीयता पर निर्भर रहती है । अज्ञेय - कविता की इस दृष्टि से अनुशीलन ने स्पष्ट कर दिया है कि उनकी संवेदनाएँ प्रागबिम्बीय तत्वों से प्रेरित है। उनकी कविताओं में साक्षात्कृत प्रागबिम्बों के कारण अज्ञेय का कृतित्व पूर्ण रूप से परम्परा से सम्बद्ध रहता है और चिरन्तन महत्व का अधिकारी हो पाया है । जीवन के बदलते परिवेशों में उपस्थित होने पर संवेदन में घटित परिवर्तनों के अनुसार स्त्रेण सत्ता, आया, प्रौढ़ विवेकी, माँ, पिता जैसे बिंब अपना बाह्य कंचुक को बदलते रहते है, फिर भी अनुभूतियों के मूल में वे हमेशा नियामक एवं चालक शक्ति के रूप में समाविष्ट रहकर बाहर की तरफ झाँकते है । इस कारण सन्देह नहीं, उनकी कविता कालिकता के छोटे दायरे को तोड़कर कालातिशायी महिमा उपार्जित करेगी ।

---

1. अरी ओ करुणा प्रभामय (नयाकवि : आत्म - स्वीकार) पृ.21.

चित्र - 14

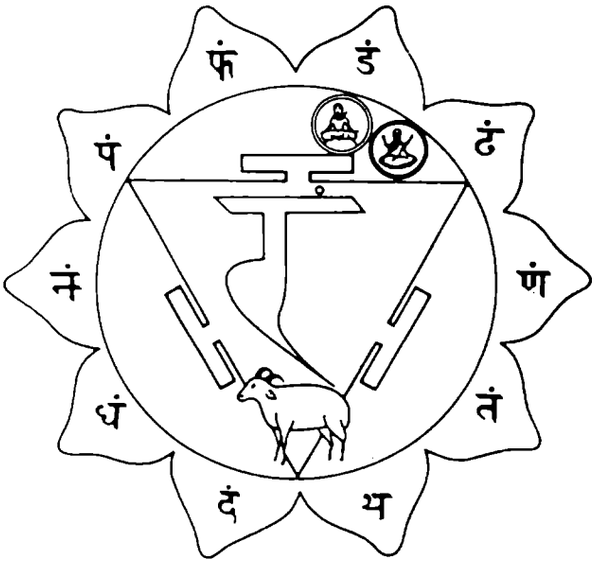

मणिपुर चक्र

तीसरा अध्याय

अज्ञेय की कविताओं में शिल्पगत तत्व

तीसरा अध्याय

अज्ञेय की कविताओं में मिथकीय तत्व

मिथक प्रागबिम्बों का प्राकृत प्रतीकात्मक अभिव्यंजन है । सामूहिक अचेतन में छिपे रहनेवाले चिर - भाव - रूपों के वे साक्षात्कृत रूप हैं । जैसे हमने पहले सूचित किया वे प्राकृत मनुष्य के जीवन दर्शन को संचलित करनेवाली भाषा है । अतः हृदय की बोली वे अधिक हैं । इसप्रकार के मिथकों का पुनर्जागरण कलाकारों और कवियों में सहज है क्योंकि कला और कविता का मूल उत्स वही है जो मिथकों और पौराणिक प्रतीकों को जन्म देता है ।

आधुनिक कवियों में मिथकों की ओर विशेष आभिमुख्य दृश्यमान है । बदलते परिवेश के अनुसार नव्यार्थ प्रतीति केलिए मिथक बड़े ही उपयुक्त सिद्ध होते हैं । सीमित अर्थ को द्योतित करनेवाले उपमान न रहकर मिथक स्वयं काव्य की आन्तरिक सत्ता या आत्मा बन जाते हैं आधुनिक कविताओं में तत्काल कविता स्वयं मिथकीय भाव भूमि में प्रतिष्ठित होती है, अथवा वह मिथक ही बन जाती है ।[1]

अज्ञेय में भी मिथकों का नाना प्रकार से प्रयोग उपलब्ध होता है । वर्तमान जीवन परिस्थितियों के प्रति प्रतिस्पन्दन के रूप में कवि में जाग पड़नेवाली अनुभूतियों

---

1. I use the term primitive or mythic sensibility to refer to the recreation of what many anthropologists have believed to be the most essential qualities of pre-civilized feeling and thought - Michael Bell_ Primitivism. P. 7

से अनुप्राणित होकर नए रूप - भाव में सामने आनेवाले ये प्राचीन प्रतीक कविता को पूर्वाधिक प्रेक्षणीय बना देते है । कभी कभी ये काव्य में साधारण प्रतीक के रूप में रहकर उसके सम्प्रेषण के सुयोग्य साधन के रूप में प्रस्तुत होते है, तो कभी कविता के समग्र भाव-तल में भरे रहकर कविता से अभिन्न भी हो जाते है ।

'अकेली न जेया राधे यमुना के तीर'[1] शीर्षक कविता में राधा - प्रतीक इस प्रकार की अभिन्नता की स्थिति में रहता है । प्रियतम का कहना न मानकर अकेली य यमुना के उस पार जाने को उद्यत होनेवाली राधा क्षयोन्मुख सांस्कृतिक वातावरण में पलनेवाले आधुनिक सभ्य समाज में मूल्य विघटन के परिणाम स्वरूप नारी के प्रिया भाव की हुए पतन, नारी में लक्षित उच्छृंखलता का प्रतीक है । उसमें अपने प्रेम की चरितार्थता प्राप्त नहीं कर सकनेवाले आधुनिक पुरुष - समाज की कुल व्यथा स्वयं अपने अंदर अज्ञेय ने अनुभव किया है। पतन की ऐसी अवस्था में सहज ही उनके भीतर का प्राक्तन प्रिया भाव - राधा जग कर कवि की कुलव्यथा का केन्द्र बिन्दु बन जाती है । संस्कृति के अपचय के समय में उससे मानव को मुक्त करके सांस्कृतिक चेतना के नव जागरण के द्वारा जीवन को जीनेयोग्य बनाने के लिए इन मिथकों का ऊर्ज्वसित होना आवश्यक है क्योंकि मिथक मानव - संस्कृति के प्रथमांकुर या मुकुल होते हैं । यहाँ भी बात यही है । आन्तरिकता से हीन सतही व्यापारों में फँसे सभ्य समाज के प्रेम - सम्बन्धों के खोखलेपन और नारी के प्रियाभाव की विकलता को, चिरन्तन प्रिया राधा के मिथक के पुनर्जागरण के द्वारा पाठक के अन्तराल में सशक्त रूप में अनुभव करा दिया गया है । राधा का यह भद्दा रूप हम में से प्रत्येक के अन्दर टीस उत्पन्न कर देता है । उसके द्वारा हम अपने आभ्यंतर पतन के प्रतिसचेत हो उठते हैं ।

इस प्रकार राधा तत्व इस कविता का मूल स्वर है । उसको अलग नहीं किया जा सकता है कविता से । उसकी आन्तरिकता में घटित परिवर्तन का(आधुनिक

---

1. पूर्वा : पृ.218.

परिस्थिति के अनुरूप) प्रभाव पुरुष में कुल व्यथा के जागरण में व्यंजित है । कविता और मिथक का यह एकीभाव मिथक को नये आयाम में प्रतिष्ठित करता है । कविता को मिथकीय गौरव प्राप्त भी हो जाता है ।

मिथकों के इस प्रकार के प्रयोग की दृष्टि से 'इतिहास की हवा'[1] विशेष उल्लेखनीय है । पुराण का द्रोण अपने आप से और एकलव्य से सच्चे थे । लेकिन वर्तमान युग में द्रोण की वह सच्चाई उनकी आन्तरिक महिमा का अंग नहीं ठहरी । वह कपटी बन गया है । वह एकलव्य का अंगूठा नहीं माँगता है । उसे चाप धरने और धरती को विद्ध करने केलिए प्रोत्साहित करता है । लेकिन एकलव्य के जाने बिना उसके निर्मिम कुएँ में भांग घोल देता है ।

" अभिनव द्रोण किन्तु कहता है :
वत्स, वीर,
धरो चाप, साधो तीर
धरती को विद्ध करो -
अमृत - सा कूप जल यहीं फूट निकले
और फिर चुपके से एकलव्य के नए कुएँ में
भांग डाल देता है ।"[2]

द्रोण का यह परिणाम मूल्य - विघटन के तीव्र अनुभव से कवि की अन्तरात्मा में उत्पन्न विद्रोह और उत्तेजित सांस्कृतिक चेतना को प्रमाणित करता है । जिस युग में कापट्य कला और अधर्म धर्म बन गये तथा जीवन की आन्तरिकता संकुचित हुई और सामाजिक नाते-

---

1. इन्द्र धनु रौंदे हुए ये : पृ.31.
2. इन्द्र धनु रौंदे हुए ये (इतिहास की हवा) : पृ.31 - 32.

रिश्ते सतही और दिखावटी ठहरे, व्यवहार की सच्चाई और भावों का आवेग मूर्खता के पर्याय सिद्ध हुए, उस युग में गुरु धोखेबाज ही निकलेगा, दोष उनमें उस्तादों का उस्ताद होगा। वह विश्वासघाती सिद्ध होगा। सांस्कृतिक अवमूल्यन का चित्रण इसप्रकार दोष के शीर्षक के द्वारा अज्ञेय ने कर डाला है। प्रकट पक्ष में निज - जनों के सामने भले-मानुस और उदार दिखनेवाले सभ्यनागरिक उनका भला करने का बहाना करके उनको और समूचे समाज को नुकसान ही पहुँचाते हैं। यह कापट्य आधुनिक सभ्य समाज की प्रमुख विशेषता बन गयी है। ऐसी स्थिति में मूल्य बेकार पड़ जाते हैं। संस्कृति की गति मंद पड़ जाती है। समाज की आधार शिलाएँ हिलने लगती है। तब कवि के अन्दर प्रति-स्पन्दन के रूप में अपनी जातीय संस्कृति की आदिम प्रतिरूप मिथक स्वयं उभर कर आते हैं। उखड़ा मानव जीवन फिर से संस्कृति के धरातल पर प्रतिष्ठित किया जाता है। दोष इस प्रकार सांस्कृतिक ह्रास के समय अज्ञेय के मन में जागृत मूल्य - बोध का प्रतीक है। जिस मूल्य का वह प्रतिनिधित्व करता हो, उसके विघटन - अवमूल्यन को भी उसी में प्रतीकित करके उस की भीषणता को पूर्णतः साक्षात्कृत किया गया है। यही कारण है कि दोष कुएँ में भाँठ डाल देता है और चुप रह जाता है।

इसी कविता में वर्णित हंसावली की बात भी यही है। हंस विवेक का इतिहास प्रसिद्ध प्रतीक है। उसका पुनराख्यान अज्ञेय ने इसप्रकार किया है -

> "ये हंसावलियाँ
> नीर क्षीर नहीं
> अन्तहीन सागर में विष - वमन कर रही है।"[1]

इसमें सांस्कृतिक परम्परा से अनुमोदित मूल्यों पर वर्तमान युग की सुविधावाद भरी दृष्टि और उपेक्षा - सर्वोपरि मूल्यों के अपकर्ष का चित्रण किया गया है।

---

1. इन्द्र धनु रौंदे हुए ये (इतिहास की हवा) पृ.33.

मानव केलिए अपना ज्ञान ही अभिशाप हो गया है । अपनी ही करतूतियों और हिंसात्मक चिन्ताओं से नाशोन्मुख आधुनिक मानव - जाति अपने सिर पर उस पुराने ईश्वर के अभिशाप को लिए फिरता है । निषिद्ध के भोग के दुष्परिणाम की - अविवेक के आचरण से घटित दुरन्त की - परम्परा जो आदि - पिता आदम से आरंभ हुई, आधुनिक मनुष्य तक जारी है । यही नहीं, वह अपनी चरम अवस्था की पहुँच भी गई है। अपने अन्तःकरण की अवहेलना - ईश्वर के वचनों को धिक्कारना - और आसुरी वृत्तियों का जागरण मानव को शाश्वत दुःख का शिकार बना देता है । दुःखानुभव में ही हृदय मंजा हुआ बनता है और ईश्वर उसमें विदित होता है -

" बार बार निषिद्ध फल खाओ
बार बार शत्रु का प्रलोभन तुम जानो
आँसू में, खून में, पसीने में
हार हार मुझे पहचानो ।"[1]

प्राणबिम्बों की अव्यक्त स्थिति अपने पूर्ण साक्षात्कार से उन्हें रोके रखती है । अतः किसी एक रूप में उनका पूर्णतः चरितार्थ होना असंभव है । इस कारण वे नाना रूपावलियों रहते हैं । प्राणबिम्बों में सर्वप्रमुख और तीव्र स्त्रैण सत्ता फिर कैसे किसी एक गोपिका में (नारी में) अपनी साक्ष्यावस्था देख सकती है ? पुरुषान्तर्गत इस नारी तत्व के चिरजागरण और वांछित किन्तु असंभव साक्षात्कार की साधना के आन्तरिक व्यापार का मिथकीय अवबोध ही गोपिकाओं और कृष्ण पुरुष - सत्ता है और गोपिका पार्थिव नारी सत्ता । गोपिका रूपी पार्थिव नारी सत्ता में कृष्ण से संलग्न नारी तत्व का पूर्ण साक्षात्कार नहीं हो पाता । अतः वह हमेशा ऐसे एक रूप के निरन्तर अन्वेषण में लगी है जिस में वह अपनी पूर्णता देख सके, उसे प्राप्त कर सके -

---

1. इन्द्र धनु रौंदे हुए ये (आदमी को एक पुराने ईश्वर का शाप) पृ.54.

" कन्हाई ने प्यार किया कितनी गोपिकाओं को कितनी बार
पर उँडेलते रहे अपना सारा दुलार
उस एक रूप पर जिसे कभी पाया नहीं
जो कभी हाथ आया नहीं ।
कभी कभी किसी प्रेयसी में उसी को पा लिया होता
तो दुबारा किसी को प्यार क्यों किया होता ।"[1]

यही कारण है कि नारी का यह चिरकुमारी स्वरूप कवियों की कृतियों में नानारूपों में चिरन्तन काल तक खिल कर परिशोभित होती है -

"कवि ने गीत लिखे नए नए बार बार
पर उसी एक विषय को देता रहा विस्तार
जिसे कभी पूरा पकड़ पाया नहीं -
जो कभी किसी गीत में समाया नहीं ।"[2]

प्रागबिम्ब मूलक मिथकों की सार्वलौकिकता एवं सार्वकालिकता इसप्रकार स्पष्ट होती है । संस्कृति के नवीकरण में, भाषा या माध्यम के परिष्कार में अन्तश्चेतना मूलक तत्वों की इन उपजों का महत्व अवितर्कित है । कन्हैया का प्यार अब भी हमारा प्यार है । उसकी ओर हमारा आकर्षण इसलिए है कि वह हमारे भी अन्दर का चैतन्य है । वह सारी मानव-राशि का चैतन्य है ।

कोहरे में नम सिहरा सा इकहरा भुज का उजला तना कवि के सामने पीड़ित पतिका यक्षिणी के रूप में प्रस्तुत होता है । वह पुनः कवि में यक्षिणी का मिथक

---

1. सागर मुद्रा (कन्हाई ने प्यार किया) पृ.38.
2. वही वही पृ.38.

जागृत कर देता है । अर्थात् वृक्ष में यक्षिणी प्रतीकित होती है । शिशिरर्तु - सहज ठंडक और कोहरे ने यक्षिणी के प्रियरहित जीवन में भी शिशिर और निराशा का कोहरा ला रखा है । उस शिशिर में प्रिय की पदचाप को कान देकर उसकी प्रतीक्षा में खडी रहनेवाली यक्षिणी विरह व्यथा का शाश्वत प्रतीक है । यह मिथकीय प्रतीक कविता में आमूलाग्र भरा रहता है । वह कविता का आत्म - तत्व बन जाता है -

" कोहरे में नम सिहरा
खडा, ठिठुरा
उजला तना
भुज का
बहुत साली रहती है क्या
परदेसी की
याद, यक्षिणी ? "[1]

यहाँ अकेला वन - जामुन और यक्षिणी कविता में इतने अभिन्न रहते हैं कि दोनों को कविता से एक - एक कारके अलग करना कविता की हत्या होगी । वन - जामुन में यक्षिणी और यक्षिणी में वन जामुन घुल - मिल गए हैं । दोनों समदुःखी, सहभोगी, वंचित प्राणसखा है । प्रेम के विप्रलंभ पक्ष से संबन्धित इस अतीत मनस्तत्व की पुकार ही - वह गौण - दाह ही - इस मिथकीय प्रतीक - यक्षिणी - के द्वारा कविता में गूंज उठती है ।

मानव की प्रगति के यथार्थ शिल्पियों का स्थान, इतिहास में बिलकुल नीचे ही है । किसी भी समाज में श्रमिक वर्ग निम्न कोटि का ठहराया जाता है । शारीरिक परिश्रम के प्रति इस निन्दाभाव की ऐतिहासिकता पौराणिक मिथकीय पात्रों के द्वारा हमारे

---

1. सागर मुद्रा (कोहरे में भुज) पृ.29.

संवेदन तल को सशक्त धक्का देती है -

" जो पुल बनाएंगे
वे अनिवार्यतः
पीछे रह जाएंगे ।
सेनाएं हो जाएंगी पार
मारे जाएंगे रावण ;
जयी होंगे राम ,
जो निर्माता रहे
इतिहास में
बन्दर कहलाएंगे ।"[1]

मिथक का यह पुनर्निर्माण - पुनर्निरूपण - एक बड़े ऐतिहासिक सत्य की तीव्रता के साथ पाठक को अनुभूत कराने में समर्थ हुआ है । पूंजीवादी - साम्राज्यवादी राजनैतिक और सामाजिक स्थिति में श्रमिक की पूछनेवाला कोई नहीं है । वस्तुतः सामाजिक विकास में श्रमिकों का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है । लेकिन उनके व्यक्तित्व का अंगीकार ऐतिहासिक स्तर पर नहीं किया गया है । वर्ग की स्वतंत्रता से वंचित, व्यक्तित्वहीन बंदरों का समूह ही उनका बन गया है । महत्व अधिकार से मिलकर रहता है । इस बौद्धिक सत्य को संवेदन के सूक्ष्मतल का संस्पर्श कराकर पाठक का भी अनुभूतिगत सत्य बनाने में राम, रावण, वानर इन तीनों ने कवि की बड़ी सहायता की है । तीनों पात्रों ने तीन विभिन्न मानवीय आभ्यंतर स्थितियों के अनुभूति - प्रपंच को उद्घाटित करके वानरत्व (बन्दर कहलानेवाली हीनावस्था) की चेतना से, उसमें निहित सामाजिक अन्याय की भावना से पाठक को उत्तप्त किया है ।

---

१. पहले मैं सम्राट बुनता हूं(जो पुल बनाएंगे) पृ.३९.

आत्मबोध के सूर्य से वंचित और करुणा की शीतल चन्द्रिका से रहित विवेकहीन अर्थ के खुले और घने अन्धकार से आवृत संघर्षपूर्ण वर्तमान युग - सन्धि में सत्ता-मोह के स्वार्थ निनाद की मानवता की समाधिस्थ अन्तः शान्ति को लक्ष्य करके बाण साधते देखकर कवि के अन्तरंग में यदुकुल नाश और कृष्ण - स्वर्गारोहण का पुराना मिथक सत्वर उदित होता है -

"खेत में
मद और मूसलों की
दोहरी मार से त्रस्त - ध्वस्त
बिछे थे यादव वीर
सूर्य अस्त चन्द्र अस्त
वनों के महावृक्षों के बीच घटा
- गुफा में फैलते तीरे सा -
पसारा था अन्धकार ।
और मैं था कि सजग, सावधान,
सधे पाँव, तान धनुष, बाण चढ़ा
खोजता था मृग कृष्ण सार । "[1]

लेकिन ' वह नहीं जानता है कि वह आत्महनन पर उद्यत हो रहा है । अपने अन्तः पर तीर चलाकर उसे जो प्राप्त होता है, वह सत्ता नहीं, प्रत्युत अपनी ही लाश है । उसे मालूम नहीं कि उस सत्ता की पोशाक किसको लाग् है, किसके योग्य है । केवल यह दुःख शेष रह जाता है -

---

1. महावृक्ष के नीचे (न जाने कौन भेस) पृ.60.

"आह मुझे इस भेस मिले
नारायण
मेरे ही बाण से विद्ध ।"[1]

यहाँ अपनी खण्डित आन्तरिकता के सामने खड़े होकर विवशता पूर्ण क्रन्दन करनेवाले वर्तमान युग के नर जीव का दयनीय रूप दर्शाया गया है ।

आन्तरिकता के संकोच और सतहीपन के विस्तार से यंत्रवत् हुए वर्तमान जीवन में व्यक्ति - व्यक्ति के बीच, मानव मानव के बीच के सहज प्यार और करुणा पर अधिष्ठित सम्बन्धों के विलयन से संत्रस्त कवि चित्त में

"अपनी पीड़ा की लहरन में
औरों पर पीड़ा से त्रास - भरी
हँसी की सब सहनेवाली
चिर जागरूक रहनेवाली
यातना . . . . . "[2] के मिथकीय रूप का जागरण भी अज्ञेय की कविता की अचेतन गत और अन्तर्निहित मिथकीय और प्राग्बिम्बीय आधार को प्रमाणित करता है ।

पौराणिक मिथकों के इस प्रकार के चित्रण और साक्षात्कार के अतिरिक्त मिथकीय चेतना का परिस्फुरण कुछ दूसरे प्रकार से भी अज्ञेय - काव्य में उपलब्ध है । विशेष प्रकार के शब्द - स्वीकार और प्रयोग, अनुष्ठान - पद्धति के चैतन्यावाहन की याद दिलानेवाली लय का वरण समूची कविता को प्राग्बिम्ब - जागरण से सम्बद्ध करने के साथ साथ, मिथकीय अन्तरिक्ष से परिवेष्टित कर देते हैं ।

---

1. महावृक्ष के नीचे (न जाने कौन भेस) पृ.60.
2. पूर्वा (ओ मेरे दिल) पृ.121 - 122.

" ओ नियति के प्रतिरूप
जलते तेज जीवन के
प्रखर स्वर विद्रोह के
प्रतिमूरूप सात्विक मुक्ति के
मेरी प्रभाति ले
स्वयंभू आलोक मन के ।
प्रागति ले । "[1] ये पंक्तियाँ निश्चित ही मंत्रोच्चारण से सृष्ट आध्यात्मिक अन्तरीक्ष में हमारी चित्त को ले जाती है । इसी प्रकार के मिथकीय वातावरण

" ओ आहुत
ओ प्रत्यक्ष
अप्रतिम
स्वयं प्रतिष्ठ "[2] के आवाहन मूलक पंक्तियों में से भी निर्मित होता है ।

मंत्रों में प्रयुक्त संस्कृत पदावली का जैसा - का तैसा उपयोग भी कविता को मिथकीय स्वभाव प्रदान करता है -

" प्यार है वह - वह सत्
ओं तत्
तदसि त्वं एतत् । "[3]

इसप्रकार,

'मरण के द्वार पर' नामक कविता में

" धूल स्मर
मृतात स्मर

---

1. पूर्वा (प्रणति) पृ.202.
2. कितनी नावों में कितनी बार (ओ निस्संग समेतर) पृ.23.
3. सागर मुद्रा (मरण के द्वार पर) पृ.39.

कृतो स्मर ।

हाँ वह मरण के द्वार पर "।' की पंक्तियों में मरणासन्न व्यक्ति के प्रति अनुष्ठित धार्मिक क्रियाओं का स्मरण दिलाया जाता है । इसके द्वारा कविता में अनजाने ही कवि की मिथकीय मानसिक अवस्थिति स्फुरित होती है । इसप्रकार निर्मित मिथकीय वातावरण कवि के विशेष प्रकार के शब्द चयन (जैसे कृतं स्मर, मृतान स्मर' आदि औपनिषदिक मंत्रांशों और ' वह सातु, और तत् तदसित्वं - एतत' आदि दार्शनिक उक्तियों के समावेश) के द्वारा अनजाने ही कविता में स्वयं भर जाता है । उसकी सहजता ही कवि की मिथकीय चित्तावस्था का प्रमाण है ।

मिथकों का साक्षात्कार या मिथकीय तत्वों की सूचनाएँ अज्ञेय की कविताओं में दो प्रकार से लक्षित होती हैं । प्रतीकों और काव्यवस्तु के रूप में मिथकीय विषय वस्तुओं (myth-motifs) और पात्रों का समावेश उनमें संपृक्त है । दूसरी ओर, अभिव्यक्ति की विशेषता के कारण, और अनुभूतियों की अपूर्वता के कारण, चुने हुए शब्दों, स्वीकृत लय के अनुरूप कविता को एक प्रकार का मिथकीय वातावरण आनुषाङ्ग घेर लेता है । मिथकीय तत्वों और पात्रों का साक्षात्कार अज्ञेय - कविता में कवि के जातीय स्मृति - मण्डल से नव्यानुभूति के संवाहक के रूप में हुआ है तो मिथकीय वातावरण की सृष्टि पूर्णतः अबोधपूर्वक सम्पन्न होती रही है । थोड़े में, मिथकीय तत्वों का यह सान्निध्य अज्ञेय - काव्य के पीछे जाग्रत रहनेवाली कवि की अन्तश्चेतना - सामूहिक अचेतन की जातीय मनोभूमि - का परिचायक है , समर्थक है ।

---

1. सागर मुद्रा (मरण के द्वार पर) पृ.39.

चौथा अध्याय

अतीत - काव्य के कुछ प्रागैतिहासिक प्रतीक

चौथा अध्याय

अज्ञेय - काव्य के कुछ प्राग्बिम्बीय प्रतीक :

अज्ञेय - काव्य में प्रतीकों की बहुलता रहती है । काव्य में प्रतीकों की अनिवार्यता से वे भली - भांति अवगत हैं । प्रेषणीयता की दृष्टि से प्रतीकों की वरेण्यता आधुनिक कवियों में अज्ञेय ने ही सर्वाधिक समझ ली है । एक ही प्रतीक में विभिन्न साहचर्य-सम्बन्ध के द्वारा भिन्नार्थ - प्रतीति कराने में वे कुशल हैं । इसप्रकार स्वीकृत प्रतीकों में कुछ ऐसे भी हैं, जो प्राग्बिम्बों से प्रेरित दीख पड़ते हैं अथवा जिनका स्रोत चेतन मन का बौद्धिक व्यापार न होकर सामूहिक अचेतन के चिरंतन बिम्ब हैं । चिड़िया, मछली, सागर, आकाश, बादल, सूर्य, नक्षत्र, प्याला, अन्तःसलिला, पुल चक्रान्तशिला, वीणा आदि इन में से हैं । आगे इन प्रतीकों की प्राग्बिम्बीयता पर प्रकाश डाला जाता है ।

चिड़िया

चिड़िया आत्मतत्व का प्रतीक है[1]। ऊर्ध्वगामी चेतना को भी यह सूचित करता है । और इसी रूप में अज्ञेय की कविता में आता है । 'प्रक्रम्न गगन का वक्ष चीर-

---

1. The image of the bird is a reflection of the thoughts, fantasies and symbols which dwell in the upper regions. It is a representation of those symbolic flights of fancy which carry man into the realms of the unconscious. It can also signify the mind, trapped in a primitive, subhuman condition - Tom Chetwynd, Dictionary of Symbols. P. 49

   The Sufi poet Attar describes a flight of birds consumed by the sun which can be interpreted as an image of the souls of men, stripped of all temporary appearances and limitations and at one with the essence. Ibid. P. 50

कर अकेला उठा जा रहा कीर" कवि की उदग्र आकांक्षा को प्रतीकित करता है । यही की एक अन्य कविता में कवि की अन्तर्निहित स्नेह - सत्ता का प्रतीक बन कर सामने आता है कीर की पुकार में प्रिया - वियोग में तड़पते कवि के प्राणों की आकुलता ही व्यंजित है । कीर की वह पुकार वास्तव में कवि के अन्तरतम में निहित स्नेह - सत्ता की पुकार ही प्रतीत होती है क्यों कि

" निज पुकार के क्रम में अखिल विश्व तड़पाकर
खुद जी हो जाता निस्पन्द मूक । " इसप्रकार अखिल भुवन का गान जिस पुकार में ध्वनित किया जा सकता है वह वैयक्तिक होती हुई भी सर्वस्पर्शी अन्तर्लोक का समावेश करनेवाली है । उस सर्वस्पर्शी से उपार्जित प्रतीक होने से कीर चेतन - गठित बौद्धिक प्रतीक या केवल चिह्न न होकर अन्तश्चेतनागत प्राग्बिम्ब से उद्भूत है । वह चिरनारी से स्वीकृत है । उस प्रतीक की चरितार्थता अथवा अर्थप्रतीति केलिए सामूहिक

अज्ञेय की कविता में भी चिड़िया प्राण तत्व के प्रतीक के रूप में सामने आती है, यथा -

" आज प्राण मेरे प्यासे हैं
आज थका हिय - हारिल मेरा "

- पूर्वा (आज थका हिय हारिल मेरा) पृ.120

ऊर्ध्वमुखी चेतना के रूप में पक्षी (हारिल) 'उड़ चल हारिल' में चित्रित मिलता है -

पूर्वा पृ. 125.

1. कीर की पुकार कविता (पूर्वा, पृ.50) में कीर कवि की स्नेहमा को प्रतीकित

अचेतन की दाद लगानी चाहिए । चिड़िया स्वयं अन्तश्चेतना बन जाती है, 'चिड़िया ने ही कहा'[1] नामक कविता में । उसमें वह स्वयं आत्म लक्ष्य है । 'कितनी नावों में कितनी बार'[2] में भी पंछी यही सूचित करता है ।

'वन पारावत' नामक कविता में इस प्रतीक (चिड़िया) का एक दूसरा मनोवैज्ञानिक पक्ष उद्घाटित होता है । मंदिर के झरनातीर्थ पर बैठे प्रणय केलि करनेवाले 'डग - युगल' वास्तव में मूर्त्त के विघटन और भावनात्मक मानवीय सम्बन्धों के भंग को देखकर तड़प उठनेवाले कवि के अन्तस्तल में जागृत होनेवाले नाते - रिश्ते के सर्वांक प्राणस्निग्ध का प्रतीक है -

" अयुगल करी सम्पन्न प्रणय
जग के जीवन में हो सत्यय
हो अखिल अवनि ही निभृत निलय
हाय तुम्हारी । नेत्रांकिता । [3] " इन पंक्तियों में सहज सम्बन्धों की नेत्रांकिता से वंचित और अपने ही से अपना प्रणय छिपानेवाले मनुष्य की कपटता से उद्विग्न कवि - मानस में जाग पड़नेवाला प्राणस्निग्ध ही बोल रहा है ।

पारावत विभिन्न संस्कृतियों में भिन्न व्यक्तियों के मिलन का प्रतीक ठहरता है[4] यह भी यहाँ व्यातव्य है । पपीहा या चातक अटूट और एकाग्र हृदय - संयोग

करता है । 'चिड़िया' के नाना प्रतीकार्थों में स्त्रैण सत्ता भी सम्मिलित है । दे. Dictionary of Symbols. P. 50

1. आँगन के पार द्वार पृ.32.
2. कितनी नावों में कितनी बार पृ.11, 15, 18.
3. पूर्वा (वन पारावत) पृ.82.
4. Dove: the attribute of the love-goddess as well as the holy spirit. This is the archetype of relationships and values which arise from feeling. The union of distinct, individual entities (UNION) - Dictionary of Symbols. P. 51

और लगातार प्रतीक्षा का पुराना मिथकीय प्रतीक है । अतः वह आद्यनारी बिम्ब से सम्बद्ध प्रतीक है । अतीत अज्ञेय काव्य में प्रेमतत्व और मनस्तत्व दोनों खातिर प्रयुक्त होता है ।

इसप्रकार पक्षी का प्रतीक अज्ञेय में मुख्य रूप से आत्मा को चीन्हित करने खातिर ही प्रयुक्त है । फिर भी, उसके अतिरिक्त, आत्मा की विशेषताओं और मानवीय सम्बन्धों का संवाहक बनकर भी वह यहाँ अवतरित हुआ है । अन्तश्चेतनानुमोदित इन भावनाओं में मुख्य प्रेम के विभिन्न रूपों को भिन्न विहगों में प्रतिबिम्बित कर दिया गया है अज्ञेय की कविताओं में । अन्तश्चेतना से सम्बद्ध होकर ही इस प्रतीक का अर्थ अज्ञेय में पूर्णतः स्पष्ट हो सकता है । यह बात स्वयं उसकी प्रागबिम्बीयता सिद्ध करती है । चिड़िया नाना प्रकार के प्रतीकार्थों के साथ बिम्ब की विभिन्न संस्कृतियों और साहित्यों में स्वीकृत है । यह उसकी सार्व लौकिकता को प्रमाणित करता है ।[1]

सागर

सागर अज्ञेय - काव्य में एक मामूली काव्य - प्रतीक नहीं है । अपारता और गहनता के साधारण अर्थों के परे गहनतर और सूक्ष्म आन्तरिक तत्व के परिचायक के रूप में सागर अज्ञेय के पास मनोवैज्ञानिक अर्थवत्ता को स्वीकार करता है । सागर कवि के अचेतन का प्रतीक बनकर सामने आता है । अथवा सागर में कवि के मन के अन्तरतम पक्षों का प्रतिफलन भी पाता है । मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में अचेतन के प्रतीक के रूप में अन्य साहित्यों में भी सागर स्वीकृत है । कवि खातिर सागर अपरिमेय सत्ता है, पौरुषेयता है,

---

1. Dictionary of Symbols. P. 49-51

जीवन है, और है अपनी अचेतनगत अन्तर्सत्ता । तरंगायित सागर में कवि अनजाने ही अपनी लहरिल अन्तश्चेतना (सामूहिक अचेतन) की प्रतिबिम्बित अनुभव करते हैं -

" तनिक ठहरूँ । कसमसाते रुद्ध सागर के किनारे
तभी जाऊँ वहाँ नीचे -
चाँद उग आए । "[1]

यह कसमसाता रुद्ध सागर, जिस में से चाँद उभर आए, कवि के गहनतर अचेतन मन की ओर संकेत करता है । कारण कि अचेतन के सागर में ही कवि की अन्तर्भूत स्त्रैण - सत्ता वर्तमान है । अस्मिता से मुक्ति के अर्थों में सामासूत अचेतन के किनारे पर स्थित होने पर ही - अर्थ - स्थितप्रज्ञ के साक्षात्कार के द्वारा ही - कवि अपनी अन्तर्वासिनी नारी के दर्शन कर सकते हैं । ध्यान देने योग्य बात है कि चन्द्रमा स्त्रैण तत्व (anima) का प्रतीक है ।[2] सागर में चाँद के उग आने के द्वारा कवि अपने अचेतन में उभरनेवाले प्राग्बिम्ब की अलौकिकपूर्वक सूचना देते हैं । अर्थात् इस कविता में सागर और चाँद अपने अभिधेयार्थ को छोड़कर कुछ मनोवैज्ञानिक - प्राग्बिम्बीय - अर्थ को स्वीकार करते हैं । सागर और चाँद की प्राग्बिम्बीय प्रतीकात्मकता को निम्न लिखित पंक्तियाँ और भी स्पष्ट करती हैं -

" और यह सागर : जिसे नहीं है
देश काल का ओर छोर
नहीं है उपकार । "[3]

' होने का सागर ' इस प्रतीक की प्राग्बिम्बीयता की ही नहीं, अपितु स्वयं सामूहिक

---

1. पूर्वा : पृ.214.
2. A Dictionary of Symbols. P. 267
3. अरी ओ करुणा प्रभामय : पृ.133.

अचेतन का उद्घाटन करके कविता की प्राणशिम्बीय उपस्थिति को भी प्रमाणित करता है -

" सागर जी जाता है
वह अर्थ से परे है -
वह तो अर्थ की टेर रहा है । "[1]

इसमें सामूहिक अचेतन की दुर्जेयता और अन्य जगत की वस्तुओं में संक्रमित होकर परिवेश के अनुरूप अर्थ को स्वीकार करने में प्राणशिम्बी की क्षमता की ओर संकेत किया गया है, 'होने का सागर' वास्तव में स्वसाक्षात्कार हेतिए आकुल और सक्रिय प्राणशिम्बीय तत्वों से प्रमाणित सामूहिक अचेतन का प्रतीक ही सिद्ध होता है । 'सागर मुद्रा' की अधिकांश कविताएँ अचेतन के सागर के आद्यशिम्बी की प्राप्ति मुद्राएँ ही है । इसीलिए 'सागर' के सम्पर्क में रहने और उसकी तरंगों से परिचालित रहने के इच्छुक कवि के पक्ष में यह सत्य ही है । अपने अचेतन के सागर के सीमाहीन खुलेपन में उन्मुक्त विचरण उन्हें काम्य है । उन्हें वह स्थिति डरावनी नहीं, उसका आन्दोलन उन्हें झकझोर करनेवाला नहीं -

" मुझे रहने दो
अगर मैं छोड़ पतवार
निस्सीम पारावार
तरता हूँ
खोल दो नाव
जिधर बहती है
बहने दो । "[2]

---

1. जितनी नावों में जितनी बार : पृ.55.
2. सागर मुद्रा : पृ.20.

प्रतीकों में आकाश पुरुषतत्व का सूचक है ।[1] घुमायित भवें कसता हुआ धनुष आनेवाले आकाश के सामने सिहर कर सिमट कर भीतर की ओर जानेवाला सागर पुरुषेतर तत्व को प्रतीकित करता है ।[2] इस रूप में सागर वस्तुतः कवि के ही अन्तश्चेतना निहित स्त्रैण तत्व को प्रतिबिम्बित करता है । अर्थात् कवि का अन्तर्भूत स्त्रैण तत्व ही सागर में अभिक्षिप्त हो जाता है । ऊँची - नीची स्थिति में रहनेवाले 'द्यावा - पृथिवी' में अपने अन्तर्वर्ती भिन्न तत्वों के मिलन (Union of opposites) का आरोप, आदि काल निरपेक्ष में मानव की प्रवृत्ति रही है । यहाँ भी आकाश - तले तरंगायित हो स्त्रियाँ रहा सागर कवि के अन्तरंग में जागृत रागात्मिका सत्ता को - चिर तरुणी को - प्रतीकित करता है । भावनाओं से उन्मथित पृथ्वी का अन्तर्मन अथवा उसकी भावनाओं से भरा पड़ा ही सागर है ।[3] कवि का अपना अन्तरंग ही पृथ्वी के अन्तस्तल के रूप में सागर में प्रतिबिम्बित है । थोड़े में, यहाँ भी वैयक्तिक अचेतन से परे कवि के सामूहिक अचेतन से ही सागर का सम्बन्ध होता है । नहीं तो,

" सागर की लहरों के बीच से वह
बाहें बढ़ाते हुए
मेरी ओर दौड़ती हुई, आती हुई
पुकारती हुई "[4] बोलनेवाली - सागर कन्या का क्या मतलब है ? वह पूछती है -" तुम - तुम सागर क्यों नहीं हो " कवि का सागर होने का क्या मतलब ? अपने अहं के खिलने को तोड़कर चित के सामान्य और सार्वजनीन पक्ष का साक्षात्कार करना है । अर्थात् अपनी ही बृहत्तर अन्तर सत्ता से अपने को जोड़ देना है - आत्म - विस्तार

---

1. The Sky is related to the Earth as husband to wife - A Dictionary of Symbols. P. 2
2. 'सावन - मेघ' कविता देखिए । (पूर्वा : पृ.132.)
3. .... The realm of emotions (sea): A Dictionary of Symbols. P.151
4. सागर मुद्रा : पृ.66.

करना है । उसी द्वारा निस्सीमता की बिन्दु पर नश्वरता से मुक्ति पाना है । सागरत्व मानवास्तित्व की चिरन्तनता केलिए कारणभूत यही सामान्य अचेतन मानसिक पक्ष की निस्सीमता की पहचान है । पुरुष को सागर बनने की प्रेरणा देनेवाली कथा, इसकारण स्पष्ट है, कवि के सामूहिक अचेतन से जागरित चिरतन्त्री - तत्व ही है । कवि की मुक्ति पाने की - सागर बनने की - प्रेरणा देकर वह फिर से उसी सागर में विलीन हो जाती है यहाँ, सागर की उन्मुक्तता और अपारता के सामने आत्म विस्मृत रहनेवाले कवि की अधीनतावासी चिरनारी के जागरण और उसीमें विलयन के मनोवैज्ञानिक सत्य का आख्यान हुआ है । सागर, इसप्रकार कवि का सामूहिक अचेतन और वह नारी उसमें वर्तमान आद्यनारी - बिम्ब के प्रतीक ठहरते हैं । 'सागर मुद्रा' की प्रायः सभी कविताओं में इसप्रकार सागर प्रतीक प्राणबिम्बीय प्रोत के निम्नस्तर प्रकट होता है । वह किसी एक - भाव को स्फुरित करने केलिए कवि से बोधपूर्वक स्वीकृत न होकर, उसकी प्रतीकवत्ता समूची कविता का प्राक्कल्पित तत्व बन जाती है । अर्थात् प्रतीक स्वयं कविता हो जाता है ।

" सागर पर
उदास एक छाया घिरती रही
मेरे मन में वही एक प्यास तिरती रही "[1] में सागर और चित्त का प्रतीकात्मक सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है ।

" सब कुछ हम में बीत गया
हम भी
हम में बीत गये "[2] के द्वारा आत्मतत्व(आत्मा - बिम्ब) के जागरण का

---

1. सागर मुद्रा : पृ.70.
2. वही : पृ.71.

चिन्तन करते हुए('यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति') कवि सागर में परम सत्ता को भी प्रतीकित करते हैं -

" कुहरा उमड़ा
हम उसमें डूब गए
सागर अनदेखा
गरजता रहा ।"[1] कुहरे के पीछे अनदेखा गरजनेवाला सागर अज्ञेय और अपरिमेय सत्ता का प्रतीक है । साथ ही परमपिता को जन्म देनेवाले पितृविम्ब को समाए रखनेवाला समुद्रचेतन भी है जो चेतन के कुहरे के पीछे गरज रहा है ।

एक दूसरी कविता में सागर काल का प्रतीक है -

" सागर के किनारे
हम सीपियाँ - पत्थर बटोरते रहे
सागर उन्हें बार बार
लहर से डुलाता रहा, बीता रहा[2] " इसमें सागर वह सत्ता है जिसको कवि ने

" जो भी पाया, दिया
देखा, दिया "[3]

'सागर मुद्रा' 12, 13, 14[4] कविताओं में सामूहिक अचेतन के प्रतीक के रूप में दार्शनिक गंभीरता को लेकर सागर सामने आता है । वह प्रजापति की वीणा की ध्वनि

---

1. सागर मुद्रा : पृ.71.
2. वही : पृ.72.
3. वही : पृ.73.
4. पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ : पृ.25, 29, 30.

करनेवाले संगीत का प्रभव स्थान है, वह अमरत्व दायिनी सुधा (अमृत) का क्षीरसागर है, वह पुराण की रूप - कथाओं (मिथकों) का सर्जक है, अग्नि (ऊर्जा) की, रत्नों (भावों) की, सुधा (आत्मानन्द) की, प्रकाश (ज्ञान - विज्ञान) के रहस्यों की खान है। थोड़े में वह दैवत्व की - चिरन्तनता की - प्रभव स्थली है।

वैदिक मंत्र के समान नाना प्रकार के गुणवाचक नामादिकों के द्वारा सागर को संबोधित करते हुए अज्ञेय मानवान्तर्भूत (या कहें, स्वान्तर्भूत) वृहत्तर सामान्य मानसिक वस्तु (सामूहिक अचेतन) की विशेषताओं और धर्मों को ही प्रकाशित करते हैं -

" ओ सागर
ओ मेरी धमनियों की आग
मेरे लहू के स्पन्दित राजरोग
सागर
ओ महाकाल
ओ जीवन
दिग्विहीन आकाश
प्रत्याकाश निराकाश
व्यापहीन निर्मिम
सागर ओ जीवन लय, ओ स्पन्द।
ओ सदा सुने जाते मौन
ओ कभी न सुने गए विराट विस्फोट
निःशब्द :
ओ मेघ, ओ उबार, ओ बीज,
ओ निदाघ, ओ रावण, ओ पीट दरा,

ओ रवि चुंबी गरुड़, ओ शारिख,
ओ अगिन के नृत्य रत मयूर,
ओ अक्षया के राम,
ओ सागर ।"[1]

कवि के सामने सागर आदि जीवन रस है जिसमें सारी सृष्टियां रूपायित होती है । वह आदिम प्राण सागर है, वह साधक की साधना की सिद्धि - स्वरूप सहस्रदल कमल के सदृश है जिसमें अपरिमेय की छटा बिखेरी होती है । सामूहिक अचेतन ही सभी उपलब्धियों का स्रोत है ., और उसकी अभिव्यक्ति ही अस्तित्व की पहचान है उसका उन्मेष ही जीवन की गति है क्योंकि वही मानव के कार्यों की सूक्ष्म रूप - रेखा है विशाल अचेतन मानसिक पक्ष्लु का प्रतिफलन ही इसप्रकार क्षीर सागर की रूप लेता है । अमृत उससे उभरनेवाले प्रागबिम्ब के चिरन्तन तत्व हैं । उन तत्वों का साक्षात्कार (जो प्रतिभा-ज्ञान में संगुफित है) हमारे नश्वर अस्तित्व को चिरता प्रदान करता है । अर्ह के क्लियन रूपी मरण से वरिष्ठ और अस्तित्वघाती तत्वों के विरोधी, भावों के सूक्ष्म रूप होते है प्रागबिम्ब । वे निहित रहते हैं, सामूहिक अचेतन के सागर में । विश्व की विभिन्न प्राचीन संस्कृतियों में प्राप्त जलप्लावन (प्रलय) और उसमें तिरता आत्म तत्व सामूहिक अचेतन और तन्निहित प्रागबिम्बों की प्रतीकात्मक सूचना ही करते हैं । नारायण स्वयं यह तत्व है । पितृबिम्ब (father imago) से साक्षात्कार करने परमपिता परमेश्वर को समझने के प्रयास में यह व्यक्त हो सकता है कि नारायण, क्षीर सागर वासी अनन्तशायी विष्णु, प्रलयपयोधि में वटपत्रपर तिरता जीवतत्व रूपी शिशु - ये सब इसी प्रागबिम्ब से रूप लेते हैं । कहने का तात्पर्य है कि जलराशि (सागर) का मिथकीय आ

---

1. पहले मैं सम्राट सुनता हूं : पृ.29.

प्रागैतिहासीय चिंतन में बड़ा प्रतीक परक महत्व है । सागर मुद्रा 14 इस महत्व को पूर्णतः स्पष्ट करती है -

" सागर, ओ आदिम रस जिसमें समस्त एकाकार
अपने को रचते हैं,
जिस में जीवन आकार लेता है, बढ़ता है, बदलता है,
ओ सागर, काल धाराओं के संगम,
काल बाष्प के उत्स, कालमेघ के लीलाकाश,
काल विस्फोट की प्रयोग भूमि,
सागर, ओ जीवद्रव, वज्रवक्ष,
ओ शिलित प्रोद, ओ मार्दव,
आदिम जीवन कदंब,
ओ आलोक कमल ।"[1]

मछली :

प्रागैतिहासिक मनुष्य के प्रसुप्त चित्त की उपजों में मछली - प्रतीक का अपना स्थान है । क्योंकि इस प्रतीक ने मानव के जीवन, जगत और अस्तित्व -सम्बन्धी आत्मानुभूत सत्यों को अभिव्यक्त करने में सहायता पहुँचाई है ।[2] इसप्रकार प्रसुप्त नर के मिथकीय चिंतन के अटूट अंग के रूप में मछली का महत्व अवितर्कित है । अतः उस

---

1. पहले मैं सम्राट बुनता हूँ : पृ.30.

2. Fish are the treasures from the waters, which in general symbolize the psyche ..... The unconscious rather than the ordinary conscious. The most precious content of life which can only be appreciated through the realm of the emotions (sea) or intuition (fresh water) - A Dictionary of Symbols. P. 1

प्राणबिम्बीयता भी स्वयं प्रमाणित है । पुराणों में इस प्रतीक का उपयोग ज्ञान - संचिता स्वरूप वेदों को पुनः प्राप्त करनेवाली परमात्म सत्ता के लिए हुआ है । वस्तुतः यह मत्स्य आदिम जीव तत्व ही है (प्रजा के प्रथम उन्मेष का सूचक ही है) जिसने बिजली के समान कौंधकर अर्द्ध की माया के असुर को मारकर अचेतन के सागर की गहराई से प्राणबिम्बों (परम ज्ञान) का साक्षात्कार किया था ।[1] इसप्रकार मछली उस प्रथम जीव तत्व का प्रतीक है, जो पहले पहल जल में ही प्रस्फुटित हुआ था ।

अज्ञेय में जीव से हटकर जिजीविषा और जीवन के आन्तरिक तत्वों के अर्थों को व्यंजित करने के लिए इस प्रतीक को अपनाया गया है ।

" हम निहारते रूप
काँच के पीछे
हाँप रही है मछली "[2] में मछली जिजीविषा का प्रतीक है तो

" अरी कब से बेचारी मछली
घिर अगाध से
सागर जीव रही है "[3] में इस सूक्ष्म जीवन - तत्व और अस्तित्व के चिरन्तन प्रारूपों (आदि बिम्बों) का आभास मछली में मिल जाता है । दृष्टव्य है कि यह मछली सागरत्व (निर्बन्ध मुक्तता व विस्तार) के लिए आकुल होकर तड़पती रहती है ।

---

1. अभी अभी जो
उजली मछली
भेद गई है
सेतु पर छटेमेरी छाया -
(चली गई है कहाँ ।)
वही थी -
वही, वही तो
लख रही अवचेतन अन्यवचाना
मेरी इस यात्रा को । -
अज्ञेय कितनी प्रभामय - पृ.94.

पुल पर खड़े होते समय पानी में प्रतिबिम्बित अपनी परछाईं को मछली से मिल जाते देखकर कवि के मन में जागृत होनेवाली अनुभूति - आत्मज्ञान की अनुभूति - मछली में प्रतीकित होकर उसे प्राणबिन्दीय पीठ पर ले जाती है -

जीवन के पुल पर खड़े अन्तर्मुखी कवि अपने अचेतन में प्रतिबिम्बित अपनी ही काया से मिल जाते हैं पहले ।[1] लेकिन तुरन्त ही उस काया के परे अन्तर्वर्तित रागतत्व - व्यक्ति सत्ता की जीवन के पार्थिव और पार्थिवेतर पहलुओं से घनिष्ट सम्बन्ध में स्थिर रखनेवाले आद्यबिन्दुओं का उच्छलन कवि अनुभव करने लगते हैं । अबोधपूर्वकसम्पन्न होनेवाले अचेतन - साक्षात्कार और तन्निहित प्राणबिन्दुओं के क्षणिक किन्तु द्रुततर स्पन्दन की अनुभूति कवि के अनजाने ही मछली में सन्निविष्ट होकर सामने आती है ।[2] अतः यह स्पष्ट है कि अचेतन के सामूहिक पक्ष का यह आकस्मिक दर्शन कवि की मिश्रीय मानसिक अवस्था का परिचायक है और मछली उस चित्तावस्था में स्वयं उभर आनेवाला प्राणबिन्दीय प्रतीक भी । कवि के ही शब्द इसे प्रमाणित करते हैं -

" पुल पर झुका खड़ा देख रहा हूँ
अपनी परछाईं
सीधे निर्मल जल पर -
तल पर भीतर,

---

2. अरी ओ करुणा प्रभामय : पृ.82.
3. अरी ओ करुणा प्रभामय : पृ.87.

1. Archetypes and the Collective Unconscious. P. 22
2. The intuition leaps swiftly and takes in a wider field of vision than the one-tracked intellect - A Dictionary of Symbols. P.152

नीचे पथरीले - रेतीले थल पट
और उसे ये पल थल
भेद - भेद जाती है
कितनी उज्वल रंगारंग मछलियाँ ।"[1]

ठीक है, प्रत्येक कवि का उद्देश्य और प्रत्येक कृति का लक्ष्य भी इस मछली का साक्षात्कार ही है -

" अभी अभी जो
उछली मछली
भेद गई है
सेतु पर खड़े मेरी काया -
(चली गई है कहाँ ?)
वहीं तो
वहीं, वहीं तो
लक्ष्य रही - अवचेतन, अनपहचाना
मेरी इस यात्रा का ।"[2]

इस मछली की उपस्थिति ही - प्रागैतिहासी की वर्तमानता ही - कवि केलिए मानवचित्त की महिमा, सार्थकता या सारतत्व है । कवि उसे बोधपूर्वक जगा नहीं सकता, उसे बुला ले नहीं सकता, वह कवि को आह्वान दे सकती है । वह स्वयं जाग्रत होती है, संभूत

---

1. अरी ओ करुणा प्रभामय : पृ.91.
2. वही : पृ.94.

होती है, तड़प उठती है ।[1] उस अन्तश्चेतना के जागरण की अनुभूति मछली में सहज ही यों प्रतीकित होती है -

" अर्थ हमारा जितना है सागर में नहीं,
हमारी मछली में है,
सभी दिशा में है सागर जिसको घेर रहा है ।
हम उसे नहीं,
वह हम को टेर रहा है ।"[2]

पुल :

पुल या सेतु सम्बन्ध तत्व है । भिन्न पक्षों को मिलानेवाले साधन या तत्व के रूप में मनोविज्ञान में इसका महत्व अक्षय है । पुल चेतन और अचेतन मानसिक क्षेत्रों के बीच की अवस्था को सूचित करता है ।[3] स्वप्नों में इन दोनों पक्षधुओं का सम्बन्ध या योग पुल में प्रतीकित होता है । अज्ञेय की कविताओं में भी इस मनोवैज्ञानिक प्रतीक का प्रयोग हुआ है -

" मैं सेतु हूँ
. . . .
वह सेतु

---

1. The secret of artistic creation and of the effectiveness of art is to be found in a return to the state of 'participation mystique' - to that level of experience at which it is man who lives and not the individual and at which the wheel and woe of the single human being does not count, but only human existence - Modern Man in Search of a Soul. P. 198-19

2. अरी ओ करुणा प्रभामय : पृ.160.

3. Bridge links this side with the other side, conscious with unconscious - A Dictionary of Symbols. P. 60

जो मानव से मानव का हाथ मिलाने से बनता है,
जो हृदय से हृदय को
क्रम की शिखा से क्रम की शिखा को
कल्पना के पंख से कल्पना के पंख को
विवेक की किरण से विवेक की किरण को
अनुभव के स्तंभ से अनुभव के स्तंभ को मिलाता है,
जो मानव को एक करता है . . . . . ."[1]

प्रतिकृतता की अपेक्षा यह केवल रूपक गठन ही रह जाता है । उस प्रतीक का उदय अवचेतन के जागरण से सम्बद्ध होकर नहीं हुआ है, अपितु उसे बौद्धिक चिंतन की उप मानना अधिक समीचीन है ।

इसीप्रकार

" पुल पर झुका खड़ा है देख रहा हूँ
अपनी परछाहीं

सीमे के निर्मल जल पर "[2] में भी पुल मनोवैज्ञानिक स्तर पर ही रह जाता है । मनोवैज्ञानिक इसलिए कि अन्तर्मुखी कवि की चित्तावस्थासदृशावबोध के जागरण के समय निद्रा और जागरण, दिन और रात, चेतन और अचेतन के बीच की होती है इन विपरीत स्थितियों के बीच की अवस्था पुल में प्रतीकित होती है । उस अवस्था में कवि अपनी छाया और अचेतन गत तत्वों से मिल सकते हैं । 'रात्रिवास' शीर्षक कवि में भी चेतन और अचेतन के बीच की मानसिक अवस्था पुल में प्रतीकित मिलती है -

---

1. इन्दु धनु रात्रि हुए ये : पृ.21 - 22.
2. अरी ओ करुणा प्रभामय : पृ.91.
3. Elemire Zolla: Archetypes (George Allen and Unwin Ltd., London, 1981). P.

" यहाँ सेतु पर आकर
औ अब तक अधीर पथ - यात्री
. . . . . .
यहाँ सेतु से नीचे
देख रहा हूँ मैं केवल अपनी छाया को ।"[1]

यहाँ सेतु मनोवैज्ञानिक प्रतीक से हटकर प्रागैतिहासिक महत्व को अर्जित करता है । क्योंकि सेतु में प्रागैतिहासिक चित्तावस्था ही प्रतिबिम्बित होती है ।

सूर्य :

पौराणिक मिथकीय प्रतीकों में सूर्य का स्थान अद्वितीय है । वह ओज और तेज का पुंज है । वह पौरुषेय और अपौरुषेय शक्ति का प्रतीक है । अंधेरे में भी सूर्य परम - ज्योति[2] - स्वरूप है ,-

" मैं मिट्टी हूँ
अविरल साधना की ज्वाला हूँ
मैं ने अर्पित अपनी आहुति

---

1. अरी ओ करुणा प्रभामय : पृ.92 - 93.

2. भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में सूर्य प्रतीक से कई अर्थ लिये जाते हैं 'सवितृ' शब्द सूर्य का पर्यायवाची है, तेज स्वरूप है, ईश्वर है, द्रष्टा है, परम ज्ञान है, प्रा तत्व है, पालक है, सवितुर्य - धाम है ।

'The sun gods and heroes are forever fighting off the dark of the unconscious, or death, though often, in this way, they are gods of light itself, including lightning - the Intuitive FUNCTION' - A Dictionary of Symbols. P. 3

दे दे कर इसको पाला है,
प्रष्टा हूं मैं, यद्यपि सफल में हुआ सृजन में
x x x x जलकर।
मैं मिट्टी हूं, मुझे खिलाने दो मिट्टी में मिलकर
यह लो मेरी ज्योति दिवाकर। "[1]

अपनी प्राणज्योति सूर्य को दान देते हुए, जलन के बदला स्वयं प्रष्टा बनकर, मिट्टी होकर मिट्टी में विलीन होने में चरितार्थ होनेवाला दीप आधुनिक युग का भूमिसुत है। सूर्य प्रतीक पुराने मिथकीय देवता संकल्प से लिया गया है। वह आदिम पिता के ईश्वर रूप का प्रागबिम्बीय प्रतीक है। अपने आलोक जाल में सब को साथ खींच लेनेवाला 'भीर का बावरा अहेरी'[2] भी परम प्रकाश को प्रतीकित करता है जिसमें सब कुछ जाय विलीन हो जाते हैं। अतः वह सर्वोच्च नेता भी है।

बादल :

'घनीभूत पीड़ा'[3] का प्रतीक बनकर बादल कविता में साधारणतया उतरता है। इस रूप में वह किसी चिरन्तन अचेतनगत - तत्व का प्रतिनिधित्व नहीं

विभिन्न संस्कृतियों में सूर्यदेव की नाना प्रकार की परिकल्पनाएँ उपलब्ध होती है।
दे० A Dictionary of Symbols. P. 387-3

1. पूर्वा : पृ.63.
2. बावरा अहेरी : पृ.
3. जयशंकर प्रसाद के 'आंसू' नामक काव्य में बादल को इस अर्थ में स्वीकार किया गया है। अज्ञेय ने स्मृति की घन में प्रतीकित देखा है। (पूर्वा : पृ.90)
(आंसू : पृ.2)

करता है । दुःख के पक्ष में वह व्यक्तित्व पर घुने जानेवाला प्रतीक मान है । उदाहरण केलिए, अज्ञेय की ही 'अकाल घन' कविता में कवि के किसी व्यक्तिगत दुःख के रह रहकर जागरित होने को व्यंजित करने केलिए अकाल में आनेवाले बादल का प्रतीक अपनाया गया है । लेकिन 'सावन मेघ'[1] की प्रतीकात्मकता इससे भिन्न है । वर्जना - पूत वर्तमान मनुष्य के सामने काले तेवरों से विराजमान भूमि कन्या पर झुक आनेवाला इन्द्र पक्ष बनता है । भूमि की कन्या, माता, विलासिनी नारी आदि नाना रूपों देख लेता है- अनुभव करता है प्रागैतिहासिक मानव का मिथकीय मन । पृथ्वी और आकाश के बीच स्त्री - पुरुष सम्बन्ध की कल्पना सार्वकालिक और सार्वदेशिक है । कालिदास का 'मेघ - संदेश' इसके प्रमाण प्रस्तुत कर सकता है । बादल उस चिरातुर पुरुष की वासना के रूप में भूमि और आसमान के बीच मध्यवर्ती ठहरता है ।[2] अतः वर्जनापूर्ण व्यक्ति की अतृप्त वासना के बहिष्कार के रूप में, विद्रोहपूर्ण कवि मानस की गहराई में सुप्त ही वही जायाजिस्व का अभिलेष ही झुक आनेवाले इन्द्रत्व के रूप में श्याम - मेघ पर लक्षित होता है ।

विरोधी तत्व के रूप में बादल एक और कविता में भी चित्रित हुआ है -

" अब हम फिर साथ हैं,
न जाने कैसे, प्रमादवश बीड़ा भटक गए थे ।
तभी चुपके से ऊपर से कालीबादल लटक गए थे ।

---

1. पूर्वा : पृ.132.
2. Clouds are the intermediaries between subetantial reality and ethereal reality: that is between space and action, between matter and time - A Dictionary of Symbols. P. 90

हमारी तारें - स्थिर निष्कंपन - कुहासे में

अटक गए हैं ।

तो इतनी बात है ।"[1]

अपनी आन्तरिक शक्ति की - प्रज्ञाकिरणों की - आच्छादित करनेवाली बाधाओं के रूप में चित्रित बादल वैयक्तिक स्तर पर ज्ञान बूझकर चुने हुए प्रतीक की कोटि से अलग होकर अधिक गहरे मनस्तत्व से सम्बद्ध दीखता है ।[2]

चट्टान शिला :

अज्ञेय - काव्य में चट्टान-शिला संबंधी कविताएँ आध्यात्मिक अनुभूतियों भरी रहती हैं । काल सीमाबद्ध जीव के अन्तरतम में विकीर्ण होनेवाली अनश्वर आध्यात्मिक ज्योति में चमक उठनेवाले परम तत्व के दर्शन जीव की बन्धनमुक्त और शून्यता के आतंक से रक्षित कर देते हैं । यह परम तत्व ही चट्टान अथवा शिला पर योग - लीन होकर उपविष्ट है ।[3]

चट्टान-शिला में आसीन योगी के रूप में ईश्वर तत्व का वर्णन नित्यपरिवर्तनशील कालिक जग के बीच केन्द्रस्थ पारमार्थिक तत्व की ओर संकेत करता है ।[4]

---

1. बन्द बन्दरगाह हुए ये : पृ.51.

2. 'As intermediaries the clouds are also barriers that obscure the invisible spiritual realities of pure force. These clouds can only be penetrated by a flash of intuition, symbolically the equivalent of heightening from the clouds' - A Dictionary of Symbols. P. 91

3. जीवन के पार द्वार : पृ.58, 60.

4. कालिक जगत और प्रज्ञाकिरण के बीच के सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए युंग ने जो कहा है, वह यहाँ ध्यान देने योग्य है . . . 'the archetypes of the collective unconscious are not filled out because they are forms not personally experienced. On the other hand, when psychic energy regresses, going even beyond the perio of early infancy and breaks into the legacy of anscestral life, then mythological images are awakened. These are the archetypes. The reader will note the admixture here ..

चित्र - 15

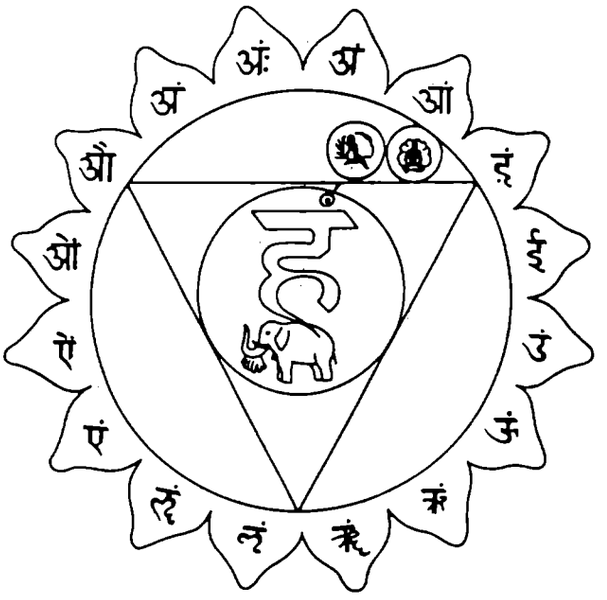

विशुद्ध चक्र

चक्र - प्रतीक चेतना के केन्द्र को सूचित करता है ।[1] भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में चक्र विभिन्न प्रकार से उपलब्ध है । कमल, मंडलाकार, बौद्धों का चक्र - ये सब उसके अलग अलग रूप है । योग साधना में चक्रों का महत्व निर्विवाद है । अपनी पूंछ काटनेवाले सांप में चक्रप्रतीक की अनादि स्वरूप व्यंजित मिलता है । ऐसे, चक्र में प्रतीकित पूर्णता के केन्द्र में ही ईश्वर - योगी उपविष्ट है ।[2]

---

of a new element in the idea of archetype, not previously mentioned. This admixture is not a piece of unintentional obscurantism, but a deliberate extention of the archetype by means of the 'Karmic' factor which is so very important in Indian Philosophy. The Karma aspect is essential to a deeper understanding of the nature of an archetype..... An interior spiritual world whose existence we never suspected opens out and displays contents which seems to stand in sharpest contrast to all our former ideas. These images are so intense that it is quite understandable why millions of cultivated persons should be taken in by theosophy and anthroposophy. This happens simply because such modern Gnostic systems meet the need for expressing and formulating the wordless occurrences going on within ourselves 'better' than any of the existing forms of Christianity, not excepting Catholicism - Collected Works of C.G. Jung, Vol. 7. P. 7

1. 'Wheel is the pattern of the psyche set in motion' - A Dictionary of Symbols. P.42

अज्ञेय का यह ईश्वर योगी हठयोगियों के ब्रह्म रन्ध्र स्थित ब्रह्म से मिलता है -

2. (मूलाधार चक्र से) कुंडलिनी जागृत होकर सुषम्णा में ऊपर चढती है और अन्त में ब्रह्म रन्ध्र में पहुंचती है । (ब्रह्मरन्ध्र में सहस्र दल कमल है) ब्रह्म रन्ध्र में ब्रह्म की स्थिति है जिसका ज्ञान योगी सदैव प्राप्त करना चाहता है ।" - डा. राम कुमार वर्मा, 'कबीर का रहस्यवाद', पृ.87.

चित्र - 16

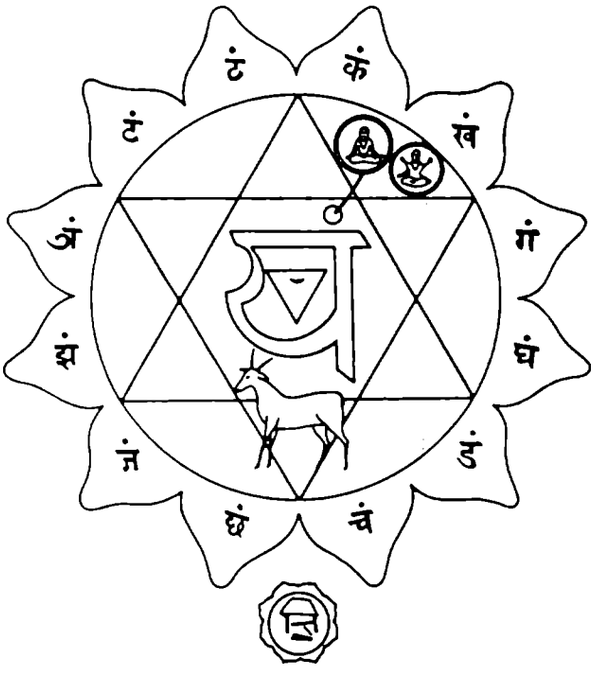

अनाहत चक्र

बौद्ध - धर्म में, ईसाई धर्म में,[1] हिन्दू धर्म में - सभी धर्मों में - चक्र किसी न किसी रूप में देखने को मिलता है । बौद्धों केलिए चक्र संसार (world) के कार्य - कारणत्व (cause and effect) की शृंखला का प्रतीक है, अतः धर्म - चक्र है ।[2] संसार की गति - विगतियों की अन्तहीन चाक्रिकता को ही औपनिषदिक कुलाल-चक्र प्रतीकित करता है ।[3]

इसप्रकार यह प्रतीक विभिन्न जन समुदायों की धार्मिक भावनाओं से सम्बद्ध होकर नितनव और प्रतिभिन्न भावों को आत्मसात् करके विकास पा गया है ।

मनोविज्ञान इसे पूर्णता की चेतना का प्रतीक मानता है ।[4] साथ ही अनार्धतता के बोध का भी वह प्रतीक है । वह एक ही समय मन के केन्द्र को सूचित करता है और विभिन्न मानसिक स्तरों का प्रतिनिधित्व भी उसमें होता है । योगसाधना षट्चक्रों की जो परिकल्पना है उसका सम्बन्ध निश्चित ही इससे है ।[5] चेतन, अचेतन और सामूहिक अचेतन से होकर संप्राप्त असंप्रज्ञ समाधि की स्थिति में, इन्द्रियातीत स्तर पर रहने वाले रूपातीत अथवा आकार रहित अखंड सत्ता से जीव - सत्ता का तादाम्य (achievement of archetypal light) षट्चक्र परिकल्पना में प्रतीकित है ।[6] इसी साधना में जागृत कवि - चेतना में भी इसी प्रकार अन्तहीन चक्रों में चक्कर काटनेवाली शुद्ध

---

1. There are 'Churches' wherein are hung wheels of torture by the picture of a saint called just there. Saint of the wheel and where on payment of a few centimes you may turn the wheel ..... to secure luck ..... - Buddhist Wheel and Way. P.
2. Buddhism. P.9
3. Maitri Upanishad. .
4. Psychology and Religion. P.9

5. कबीर का रहस्यवाद ('हठ योग' शीर्षक अध्याय देखिए) पृ.68 - 90.
6. वही : पृ.73.

सात्विक स्थिति की धवल शिला में स्थित ज्योतिष्मान निर्विकल्प और प्रसादपूर्ण सत्ता की प्रतीक आभासित होती है ।[1] हठयोगियों के सहस्रदल कमल और चक्रान्त धवल शिला का सादृश्य यहाँ ध्यान देने योग्य है ।[2] कमल जैसे निर्लिप्तता का प्रतीक है, वैसे ही पूर्णता का भी । चक्रान्तशिला भी निर्लिप्त है क्योंकि वह गतिशील है, गतिशीलता में स्निग्धता की अवकाश कहाँ ? अज्ञेय का चक्र बौद्ध धर्म - चक्र के अधिक निकट है जो संसार का प्रतीक है । वह भी उपनिषद के कुलाल चक्र से ही निष्पन्न है ।

चक्र का रूप और ध्येय जो कुछ भी हो, वह मानव की चिरन्तन अभीप्सा - प्रेरणाओं की उपज ही है । उसके धार्मिक चिंतन की आरम्भिक दशा में अनुभूत प्रपंच - सत्य के सहज मिथकीय अभिव्यंजन से सम्बन्धित है वह । मानवीय व्यापारों की सहज वर्तुलता अथवा चाक्रिकता उसके मानसिक व्यापारों केलिए भी स्वाभाविक है, खासकर प्रतिभामूलक व्यापारों केलिए ।[3] उसका केन्द्र सामूहिक अचेतन है, प्रागबिम्ब है । स्थूल तथ्यात्मक उक्ति की वक्रता के केन्द्र में प्रागबिम्ब ही स्थिर रहता है । अथवा प्रागबिम्ब को आविष्कृत करने की वस्तुपरक प्रतीक स्वरूप तथ्य अभिव्यंजित होता है ।[4] इस चक्राकारिता (चाक्रिकता) की मिथकीयता - अतः प्रागबिम्बीयता - संसार की विभिन्न जातियों के धार्मिक अनुष्ठानों में प्रयुक्त मंडलों में परिलक्षित होती है ।

इन मंडलों के अन्दर ही, उनके केन्द्र में ही दिव्याकार(मंत्राकार) मणि चिह्न आदि अंकित मिलते हैं ।[5] चक्रांत धवलशिलास्थित ईश्वर योगी इस मंडलवृत्ति की

---

1. एक बूँद सहसा उछली : पृ.
2. वही पृ. 462 पर की टिप्पणी सं.5
3. अज्ञेय : हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य : पृ.11 - 12.
4. Psychological Types. P. 379
5. मंडलों के चित्र देखिए ।

चित्र - 17

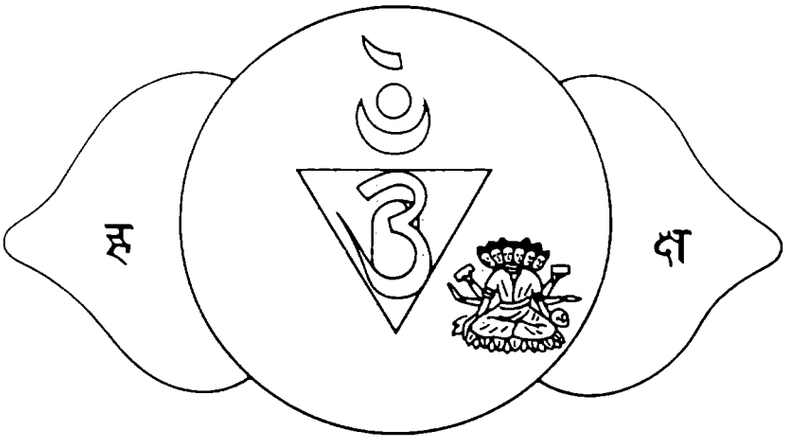

आज्ञा चक्र

चित्र - 18.

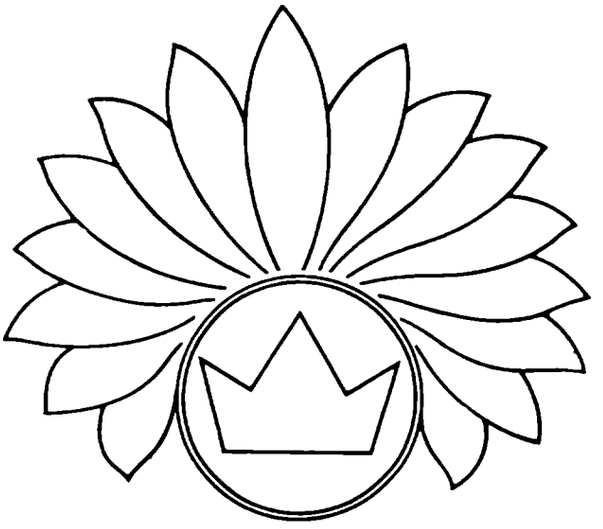

सप्तार च

मिथकीय चित्तावस्था से जन्म लेता है । धार्मिक चित्तवृत्ति, कहने की आवश्यकता ही नहीं, कवि के अन्तर्मन में जागरित आद्य - पितृबिम्ब से उद्गीरित है और वही - आर्षतत्वीय समूहावचेतन की शिला पर वर्तमान पितृबिम्ब ही बकुल शिला पर बैठनेवाले ईश्वर योगी के रूप में प्रतिबिम्बित होता है ।

अनाद्य वीणा :[1]

चक्रान्तशिला के सदृश, अनाद्यवीणा अद्यैय - काव्य में एक महत्वपूर्ण प्रतीक है । आमूलाग्र वह कविता में भरा रहता है । इसकारण संपूर्ण कविता वर्णना - मूलक स्थूल सत्ता से हटकर प्रतीकात्मक कविता की सूक्ष्म और गहन भावभूमि पर पहुँच जाती है । यह वीणा स्वयं कविता है । अपनी पूर्व कक्षा के आख्यान के द्वारा संसिद्ध मिथकीय गौरव से युक्त अपूर्व और असाधारण व्यक्तित्व के साथ वीणा राजा और परिजन के मन में ही नहीं, प्रत्युत समस्त पाठकों में भी दिव्य दीप्ति से मण्डित रहती है । वीणा के प्रति ऋग्वेद की श्रद्धा और भक्ति वीणा को एक वाद्ययंत्र से परे कोई अलौकिक सत्ता बना देती है । उससे निर्गलित मधुर तानों से कविता अन्तः स्पन्दित है और श्रोता के अन्तः रोम रस - सिंचित होते हैं ।

प्रत्यहारी साधकों की समस्या से सात्विक शान्ति की गंभीरता प्राप्त उत्तराखण्ड के गिरिप्रान्तर से आयी यह वीणा वज्र कीर्ति नामक कलाविद् साधक की जीवन भर की घोर - साधना का परिणाम है । जिस किरीटी तरु की काया से यह वीणा निर्मित है, वह भी कोई साधारण वृक्ष नहीं है । वह दीर्घ - विशाल काय और अतिगहन मूल है -

---

1. अग्नि के पार द्वार : पृ.73 - 88.

" यह वीणा उत्तराखण्ड के गिरिप्रान्तर से
- घने वनों में जहाँ तपस्या करते हैं व्रतचारी -
बहुत समय पहले आई थी ।
पूरा तो इतिहास न जान सके हम :
किन्तु सुना है
वज्रकीर्ति ने मंत्रपूत जिस
अतिप्राचीन किरीटी - तरु से इसे गढा था -
उसके वनों में किम किंवर कहा करते थे अपने,
कन्धों पर बादल सोते थे,
उसकी कोर - कठोर सी डालें
हिमवर्षा से पूरे वन - यूथों का कर लेती थी परित्राण,
कोटर में भालू बसते थे,
केहरि उसके वल्कल से कन्धे खुजलाते आते थे ।
और - सुना है - जड़ उसकी जा पहुँची थी पाताल लोक,
उसकी गन्ध - प्रवण शीतलता से फण टिका नाग वासुकि सोता था ।
उसी किरीटि - तरु से वज्रकीर्ति ने
सारा जीवन इसे गढा :
हठ - साधना यही थी उस साधक की -
वीणा पूरी हुई, साथ साधना, साथ ही जीवन - लीला ।"[1]

वीणा की उत्पत्ति के पीछे की रहस्यपूर्ण पृष्ठभूमि के उद्घाटन में उसकी असाधारणता स्पष्ट होती है । जिस तरु की काया से वीणा निर्मित हुई है, उसकी विशेषताओं का वर्णन उसे

---

1. अगिन के पार द्वार : पृ.72 - 73.

अपनी सीमित पार्थिव स्थूल सत्ता से मुक्त करके किसी सूक्ष्म, अनादि और वृहद् सत्ता में विकसित कर देता है । उस महाभाव का भिक्षीय अस्तित्व राजा के द्वारा वीणा की उत्पत्ति और इतिहास की अक्षयता के परामर्श में और किरीटि - तरु की पौराणिकता के उल्लेख में आभासित होता है । वह जहाँ स्थित है, वह वनस्थली भी कोई साधारण वन - खण्ड नहीं । 'उत्तराखंड' केवल कोई स्थान विशेष मात्र न रहकर काव्य सन्दर्भ में किसी सूक्ष्म आन्तरिक क्षेत्र या पक्ष को भी अत्यंत उद्भासित करता है । वह साधारण व्यक्तियों के लिए दुर्गम है । उसके गिरिप्रान्तर के सघन वनों में वे अर्हमुक्त निष्ठावान व्रतधारी साधक ही प्रविष्ट हो सकते हैं । वे ही वहाँ भरे रहनेवाले उन्मुक्त अनाघात प्रपंच नाद - ताल - लय को अनुभव कर सकते हैं । अतः समर्पित चेता वज्रकीर्ति उस दुर्गम वनान्तर में स्थित " व्याकुल मुखरित वनध्वनियों के वृन्दगान के मूर्त रूप[1] " और भू - स्वर्ग - पाताल का संस्पर्श करनेवाले दिक्काल - सीमातीत विराट स्वरूप वाले किरीटि तरु का साक्षात्कार कर सके थे । नाद ब्रह्म के उस नैष्ठिक साधक के द्वारा उस तरु की काया से जो वीणा गढ़ित हुई, वह उसी विटप के अन्तस्पन्दनों में घुलमिल रहे प्रपंच - राग व तान से अनुप्राणित हो सकी है ।

यह वनस्थली वास्तव में अर्हमुक्त और अन्तर्मुख कलाकार के सामने खुल जानेवाले सामूहिक अचेतन को सूचित करती है । श्रद्धालु और व्रती साधक कलाकार (कवि के सम्मुख जब वह अन्तश्चेतना का अन्तर्गत अनावृत हो जाता है, तब वह अपने अहं के त्याग और आत्मसमर्पण के द्वारा उन्मीलित अन्तश्चक्षुओं से स्वातंत्र्य सीमाहीन विश्वात्म तत्व (अपने अस्तित्व के वृहद पक्ष से, अपने में संभूत विश्व - प्रपंच की आपतहीन ताल लय से, सृजन - शक्ति के मूल भूत सार्वलौकिक एवं सार्वकालिक थिर तत्व का साक्षात्कार कर लेता

---

1. जागन के पार द्वार : पृ.79.

प्रत्येक कलाकार इसलिए वज्रकीर्ति है, जो प्राणबिम्ब के किरीटी तरु से अपनी कृति रूपी वीणा की रचना कर लेता है । उस कृति में प्राणबिम्ब का अन्तःस्पन्दन आन्तरिक चैतन्य बनकर समाविष्ट होता है । किरीटी तरु की डालियों पर बादलों का सीना और उसकी जड़ों का वासुकी के फण पर विश्राम करना आदि प्राणबिम्ब के भौम सम्बन्ध को स्पष्ट करने केलिए स्वीकृत उचित परिवेशों और मानवचित्त में उसकी रूढमूलता, निसर्गिम विशालता, चिरंतनता एवं सिद्धकीयता व लोकोत्तरता को अनुभव कराने केलिए चुने गए बाह्य संयोजक तत्वों के दृष्टान्त हैं । नाद मर्मज्ञ संगीतकार केलिए वीणा नाद ब्रह्म का प्रतीक है । उस नाद ब्रह्म की पुनः साक्षात्कृत करने केलिए, वीणा के माध्यम से उसे पुनः ध्वनित करने केलिए उसे श्रोताओं को समान रूप से अनुभवगम्य कराकर सब के समरसत्व में डुबो देने केलिए वज्रकीर्ति की - सी साधना शक्ति और श्रद्धायुक्त आत्मसमर्पण का आत्म - विलयन आवश्यक है । वीणा में किरीटी - तरु के सुप्त अन्तस्पन्दनों को जागरित करने की समर्थता कलाकार में होनी चाहिए । प्रियंवद वही करता है । प्रत्येक कविता का यह वीणा प्रतीक बनती है ।

हम देखते हैं, प्रियंवद केलिए वीणावादन किसी महान धार्मिक अनुष्ठान के सदृश एकाग्रतापूर्ण पवित्र कर्म है । उपास्य के सामने आत्म समर्पण की भावना से नत-मस्तक रहनेवाले भक्त के समान वह केशम्बली वीणा के सम्मुख अवनमित और आत्मविस्मृत सी बैठ जाता है । उस स्थिति में वह अपने चित्त के उत्तराखण्ड की वनस्थली का साक्षात्कार कर रहा था, वहाँ के 'अतिप्राचीन' किरीटि तरु की - वृन्दावन के मूर्तरूप को देख रहा था, वह स्वयं वज्रकीर्ति बन रहा था । सब का आवाहन - अपनी आन्तरिक प्राणबिम्बीय चेतना का आवाहन - उस वीणा में कर रहा था । उसके अनजाने ही उसमें राग आलापित होने लगा और वीणा की तंत्रियों में संक्रमित होकर बहिःस्फुरित हुआ । -

" पर उस स्थगित सन्नाटे में
मौन प्रियंवद साध रहा था वीणा -
नहीं, स्वयं अपने को सीध रहा था ।
सघन निविड में वह अपने को
सौंप रहा था उसी किरीटी तरु को । "[1]

उस विलयन में, उनके अन्तः चक्षुओं के सामने उठ खड़ा होनेवाला किरीटी तरु उसकी ही अन्तश्चेतना का प्रतीक है । उसे संबोधित करते हुए प्रियंवद जिन स्मृतियों को अपने में जगा लेता है, वे सब उस वृक्ष की प्राक्तनता का आमंत्रण है, आवाहन है । अपने अन्दर भी वह्नीर्ति के ही समान आदिम चित्त के उर्ध्व और सम्भावित शक्ति-सत्यों के जागरण के बिना, पूर्व सम्पर्क से संप्राप्त समूचावचेतन के साक्षात्कार और प्रागभिज्ञा के उन्मेष के द्वारा सम्पन्न सामाधिकरण के बिना, अनुभूतियों का कला के रूप में साक्षात्कार और चरितार्थता सम्भव नहीं है । यह मिश्रकीय चित्तावस्था की प्राप्ति कलाकार केलिए समाधि की स्थिति को प्रमाणित करती है । समाधि की स्थिति में ही प्रज्ञा - प्रत्यभिज्ञा - intuition - जग उठती है । उसके आलोक में साधक को सिद्धि की प्राप्ति

" समाधिस्थ संगीतकार का हाथ उठा था :
काँपी थीं उंगलियाँ ।
अलस अँगड़ाई लेकर मानो जाग उठी थी वीणा :
खिल उठे थे स्वर - शिशु । "[2]

और

" अवतरित हुआ संगीत
स्वयंभू

---

1. अगिन के पार द्वार : पृ.77.
2. वही : पृ.84.

जिस में सोता है अखण्ड
ब्रह्मा का मौन
अतीव प्रभामय
डूब गए सब एक साथ
सब अलग अलग एकाकी पारावार ।"[1]

आत्म - विस्मृति और अचेतन की विवृति के निमित्त में प्रियंवद के अंगुली-स्पर्श से वीणा से निसारित होनेवाली संगीतधारा आत्म समर्पण और अहं से मुक्ति के अर्थ में सबजानेवाली कलाकार की अवचेतना की अलाप्य वीणा की सुमधुर झंकार की मौन - ध्वनि का अभिव्यंजन ही है । उसमें सभी श्रोता समान रस पा लेते हैं । उस सिद्धि में कलाकार की वैयक्तिक उपलब्धि कुछ भी नहीं है क्योंकि कलात्मक प्रेरणा के जागरण और सृष्टि के निमित्त में कलाकार की व्यक्ति सत्ता निष्क्रिय है, तटस्थ है । अतः कला ग्राहक में भी समान मानसिक स्थिति जगा देती है जिससे कलाकार की अनुभूति ग्राहक की अनुभूति बन जाती है ।

" श्रेय नहीं कुछ मेरा
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में -
वीणा के माध्यम से अपने को मैं ने
सब कुछ को सौंप दिया था -
सुना आप ने जो वह मेरा नहीं,
न वीणा का था :
वह तो सब कुछ की तथता थी -
महा शून्य

---

1. आँगन के पार द्वार : पृ.84.

महा मौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्वैत, अप्रमेय,
जो शब्दहीन
सब में गाता है ।"[1]

ऋग्वेद के इन शब्दों में कला की निर्वैयक्तिकता और कलाकार की तटस्थता एवं कला के सामान्यीकरण के मूल में मानव में अन्तर्भूत एक अखंड और अविभाज्य मानसिक पक्ष्य के तत्वों की अनिवार्य, चिर जाग्रत वर्तमानता की गहरी अनुभूति का आभास प्राप्त होता है । इसप्रकार ' अलाक्ष्यवेद्या ' मानव के अन्तर्वर्ती कार्यिनी प्रतिभा के अचेतन मानसिक पक्ष - सामूहिक अचेतन - का प्रतीक ठहरती है । उसके द्वारा अज्ञेय ने अपनी परम्परा से सिद्ध साधारणीकरण और निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्तों का समर्थन भी किया है । यही आन्तरिक पक्ष्य मानव को मानव से प्रकृति से, परम्परा से, इह और पर से सम्बन्धित रखता है । विशाल प्रपंच के मध्य में मानव अपने को इसलिए अकेला नहीं पाता है कि प्राणिजन्य के सम्बन्ध - तत्व उसे कुछ ऐसे क्षणों के साक्षात्कार का समर्थ बना देते हैं जिन में वह सब में अपने को और अपने में सब को देख सकता है -

" यस्मिन सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् जानतः ।
तत्र को मोह : क : शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।"[2]

---

1. अरिम के पार द्वार : पृ.87.
2. ईशावास्योपनिषद् 7.

उपसंहार

उपसंहार

अज्ञेय की कविता में सामाजिक प्राणविम्बीय और मिथकीय तत्वों के इस अध्ययन ने उनके कृतित्व के मूल में प्रवृत्त रहनेवाली अस्तित्वधाराओं के परमाणुओं के स्पन्दन से ध्वनित सामूहिक अचेतन की अतल मनोभूमि का उद्घाटन कर दिया है। इन तत्वों का साक्षात्कार अज्ञेय की कविता को व्यर्थ बौद्धिक व्यायाम के निचले स्तर से महान साहित्य की चोटि पर ले जाता है। उनकी कविता वस्तुतः उनकी अन्तश्चेतना की गहराई में छुपे - छुपाते प्राणविम्बीय तत्वों से प्रेरित है, उनके संस्कार से स्वरयुक्त है। वह कवि की अन्तरात्मा का उन्मेष है, उन्मीलन है। कविता के माध्यम से कवि की अन्तः स्थित बृहत्तर निर्वैयक्तिक और सनातन सत्ता का विस्तार ही होता रहा है। उनकी प्रत्येक कविता, इसप्रकार, अपने अन्तर्भूत चिरन्तन तत्वों में प्रत्येक का उद्रेक प्रमाणित होती है।

अज्ञेय में आर्षोपात अमूर्तन की प्रवृत्ति सक्रिय रहती है। छायावादियों की कल्पनामूलक और वर्णनपरक सूक्ष्मता से भिन्न, रूप जगत के पदार्थों के प्रति वस्तु - तत्व सम्बन्धी रागहीन जड़ता, और एषणा के पीछे स्पन्दित जिजीविषा के सूक्ष्म आन्तरिक तत्व के प्रति दृढ, आस्थापूर्ण और गहरे रागात्मक सम्बन्ध में प्रस्फुट अमूर्तन - प्रवृत्ति अन्ततः इन अतल मनोवर्ती प्राणविम्बों से प्रेरित ही है। अर्थात् अज्ञेय - काव्य में संप्राप्त शब्दातीत अर्थ की पकड़ पाने की त्वरा आद्यबिम्बों के साक्षात्कार की अनुभूति से संबन्धित है। इस प्रकार यह प्रमाणित होती है कि अन्तर्मुखी कवि की प्रतिभा का प्रयास उन आन्तरिक चिरन्तन तत्वों के साक्षात्कार की ओर ही है, अपने अंतरंग में स्थित सामूहिक अचेतन की समरस भूमि के अनावरण की ओर ही है।

एक कुशल कलाकार ही यह साधना - रहस्य जानता है कि जितना बड़ मिट्टी में गहराई में जाती है, उतना पौधा पनपता है, फूलता है और फलता है।

मिट्टी में अन्तर्लीन रस ही पौधे की जान है । जो कलाकार अपने अचेतन की गहराई में जितना अधिक प्रविष्ट हो सकता है, उसका कृतित्व उतना संपूर्ण बन जाता है । आद्या - मातृका, सृष्टिशक्ति के रूप में मिट्टी को स्वीकार करनेवाले अज्ञेय अपने कृतित्व की जड़ों को समीक्षय रहस्यपूर्ण सामूहिक अचेतन की धरती में क्रियमाण देखते हैं । अतः यह तत्वान्वेषण - चेतना जो अज्ञेय में अन्तर्मुखी वृत्ति ने विकसित कर दी थी, एक, एकायित, एकायमान के रूप में सृष्टि प्रक्रिया को जारी रखनेवाली आद्यमातृका अनादि सर्जक शक्ति से अज्ञेय का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर देती है । फलस्वरूप वे सम्प्रदाय की देहली पर खड़े होकर स्थूल और सूक्ष्म दोनों का स्वीकरण भी कर सके हैं । इस स्वीकरण की ध्वनि ही जैसे

' मृन्मानव, यह सही है, सब व्यर्थ है,
पर इसीलिए मानवातीत कुछ अर्थ है ।" में मुखरित है, अज्ञेय काव्य की मंत्र - पेटारी बन गई है ।

युग से प्रतिपादित (निर्धारित) 'शुद्ध मानव' के इस सूक्ष्म तल पर ही अज्ञेय की कविता चरितार्थ होती है । मानव में निहित और मानव मात्र के महत्व और पूर्णत्व वैसिए आधारभूत मानवातीत अर्थ व्यक्ति को व्यर्थता से मुक्त और वस्तु को तथ्य से युक्त बना देता है । आत्मोपलब्धि के इस उच्चतर शिखर पर पहुँचने पर ही कम्पहीन, आश्वस्त और मंत्रपूत शब्दों में सागर से सब की बात निवेदित कर सकता है -

" तुम से मैं कहता हूँ
तुम्हारी ही बातें
. . . . .
तुम्हारी ही लाख लाख
प्रतिध्वनियों में कही जाती
लाख लाख स्वरधाराओं में

अविराम वही आती
तुम्हारी ही बात पहचानोगी ।
या फिर पाओगी
कि वह तुम्हारी से भी आगे
सब की बात है, ऐसी सब की
कि किसी की नहीं है, कभी की नहीं है ।
पर अपने में और
अपने आप में स्वायत्त
स्वतः प्रमाण होने के नाते
ठीक यही की है और ठीक अब की है ।
कविता तो
ऐसी ही बात होती है । "

(सागर मुद्रा पृ.92 - 93)

आवेगमुक्त, शान्तिमय, और स्थिरता प्राप्त और पार्थिवता की सीमाओं से बन्धन से मुक्त समरसता की स्थिति को पहचानकर चित्त अलौकिक और विराट सत्ता की परिधियों से आलोकित हो जाता है । ऐसी स्थिति में ही ' हम केवल एक हमी' रह जाते हैं । एकात्मता का यह बोध कला का चरम उद्देश्य है । "सब कुछ हम में ही गया' हम भी हम में ही गया" जैसी अवस्था में अनुभूत सर्वात्म बोध की अवस्था जैसी मुग्ध रहस्यात्मक सम्बन्धानुभूति (participation mystique) की है । अज्ञेय की 'सागर मुद्रा' इस अवस्था की अनुभूतियों की उद्गारों से मुखरित रहती है । वास्तव में कवि के अन्दर जागृत होकर उन्मथित होनेवाले सनातन शुद्ध मानव का चित्त मानवीय के विचारातीत सामान्य रूप को प्रकाशित करती है । शुद्ध मानव का यह जगा

कहने की जरूरत ही नहीं, मिश्रीय चिन्तनधारा है, अर्थात् सामूहिक अचेतन की गहरी मनोभूमि है । अर्द्ध की निद्रा और अचेतन की जागृति के विश्लेष के निर्मूल निमिषों में आर्ष - कवियों के सदृश अज्ञेय भी अपने अन्तर्भूत शुद्ध मानवता के अनुभवैकगम्य, सार्वभौम तथा सार्वकालिक पक्ष का अनुभव करते हैं । उस अन्तर्जगत के सनातन तत्वों - प्राणबिम्बों के साक्षात्कार की रहस्यात्मक अनुभूतियों का अभिव्यंजन ही उनके काव्यों में नाना बाह्य परिवेश से गृहीत ऐन्द्रिय संवेदनों के प्रति प्रतिबन्धन के रूप में उपलब्ध होता है ।

प्रस्तुत अध्ययन में जिन प्राणबिम्बों का साक्षात्कार अज्ञेय - काव्य में घट कर दिया गया है, उनमें शेष बिम्ब, छाया बिम्ब, प्रौढ़ विवेकी, मातृबिम्ब, पितृबिम्ब और व्यक्तित्वाभासी प्रमुख रहे हैं । इनमें नारी तत्व ही अज्ञेय में आर्षत प्रबल रहता है । वस्तुतः समस्त कलाओं में आद्यनारी - बिम्ब अनिवार्य तत्व है । यही कारण है कि रोमांटिक प्रवृत्ति कविता का मौलिक तत्व ठहरती है । कृतिकार की कारयित्री प्रतिभा के प्रेरक तत्व के रूप में कविता में उसकी प्रभुता सर्वस्वीकृत है । वह आद्यमातृका है, सृष्टि - शक्ति है । अज्ञेय में इसके कुमारी पक्ष या लक्ष्मी रूप का अधिक उद्घाटन हो पाया है । प्रकृति के चलत् सौन्दर्य से अभिभूत कवि के भीतर जागरित चिरकुमारी का लास्यपूर्ण रूप 'भग्न दूत' - 'हरी घास पर क्षण भर', 'सागर मुद्रा' आदि काव्य संग्रहों की कविताओं में देखने को मिलता है । 'कलेया ने प्यार किया' में प्राणबिम्ब है, बास कर नारी बिम्ब के पूर्ण साक्षात्कार की असमर्थता का समर्थन किया गया है । वस्तुतः 'सुधा - उर का रस प्रीत' के रूप में व्यक्ति के अचेतन की गहराई में थिर रहनेवाली वह आद्यनारी ' कविता की सजीव - रेखा - सी मानव पट पर तिर आती है ।' उसके स्मित मुख के विभिन्न रूपों के दर्शन कवि ने कई बार किये हैं । अतः वह 'धरणी, सुखदा, वरदा, क्षुधदा, भरणी' बन कर कविता में साक्षात्कार पाती है ।

आदि नारी रूप का महनीय पक्ष जो महामातृरूप है, उसका भी प्रधान अज्ञेय में हुआ है । फिर भी उसका विस्तार उतना अधिक नहीं जितना कि आद्यकुमारी का । व्यक्तिगत जीवन में मातृत्व के अवदान की कमी और पितृसम्पर्क की निरन्तरता से मन में अंकित पितृरूप के उजले रूप की कान्ति के कारण मातृ - स्मृति धुंधली रह गई । मातृत्व के विकास की कमी मातृबिम्ब के साक्षात्कार को भी बाधित करती प्रतीत होती है । कहीं भी माता का उज्वल चित्र अज्ञेय काव्य में प्राप्त नहीं है । जो मिलता है । वह भी ' दुखिया ' माता का रूप है । 'रक्त - स्नाता 'मेरी दुखिया भारत माता' में अभिव्यक्त कवि के अन्तर्भूत मातृबिम्ब के आतंकपूर्ण (terrible) पक्ष का प्रतिफलन ही देख सकते हैं । माता का वात्सल्य - सिक्त, पुत्र - प्रेमोद्पुलक मातृवदन कहीं भी दिखाई नहीं पड़ता । फिर भी कवि में आदिमाता का जागरण कुछ भिन्न परिस्थितियों में हो जाता है। देश, संस्कृति, और परम्परा के प्रति कवि की आस्था में यह परिलक्षित है । विदेश में रहते समय गृहातुरता से तड़पने वाले कवि के मन में जागरित देश सम्बन्धी आस्था की तीव्र उद्गारों में मातृगोदी के अपनेपन की चाह और वहाँ से प्राप्य भव्यशान्ति की स्मरणा मातृ-बिम्ब - प्रेरित है । विदेश की यात्राओं और प्रवासों के बीच के अवकाशपन ने उनमें अनाथा का तीव्रबोध जगा दिया था । उस विषम परिस्थिति में उनमें मातृबिम्ब यों जाग पड़ता है

"कहाँ, पर कहाँ, वे ममतामयी बाँहें ?"

(अज्ञेय के पार द्वार : पृ.23)

कवि का यह ममता तत्व मिट्टी से या भूमाता से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है । पेड़ के वचनों के द्वारा कवि की ममत्व चेतना ही बोल उठती है - मैं

मैं तो बार बार झुकता, गिरता, उखड़ता
यदि सूखा ढूंठ सीधे टूट जाता
श्रेय है तो मेरी पैरों तले इस मिट्टी को
जिस में न जाने कहाँ मेरी जड़ें डोरें हैं ।

ऊपर उठा हूँ उतना ही आकाश में
जितना कि मेरी जड़ें नीचे दूर धरती में
समायी है ।" (अरी ओ करुणा प्रभामय पृ.48)

माता के विकास की कमी की पूर्ति करते हुए पितृबिम्ब का साक्षात्कार प्रचुर मात्रा में अज्ञेय - काव्य में होता है । प्रारंभ में किसी अदृश्य रहस्यमयी अलौकिक परम सत्ता से सम्बद्ध होकर वह सामने आता है । फिर अखिल विश्व की पीड़ा सोचने करनेवाली परम करुणा से प्रेरित होकर सत्यकाम् कवि अलौकिक सर्वोपरि सत्ता के स्थान पर अपने ही अन्तस्तल में निहित असीम शक्ति को प्रतिष्ठित कर लेते हैं । फल स्वरूप व्यक्ति में उनकी आस्था दृढ़ हो जाती है -

" शक्ति असीम है,
मैं शक्ति का अणु हूँ
मैं भी असीम हूँ
एक असीम छंद
असीम समुद्र को अपने भीतर प्रतिबिम्बित करता है
एक असीम अणु
उस असीम शक्ति को जो उसे प्रेरित करती है
अपने भीतर सम लेना चाहता है ।"
(पूर्वा : पृ.79.)

'मैं भी असीम हूँ' कहनेवाला व्यक्ति वहाँ 'क्षुद्रमानव' कोटि से सम्बन्ध रखता है जहाँ व्यक्ति सार्वलौकिकता व चिरता प्राप्त कर लेता है । अज्ञेय का मानववाद जो व्यक्ति की पूर्णता व अद्वितीयता पर बल देता है, मानव के उस सनातन पक्ष से, सीमाहीन, तना रहित, विभाजहीन समवेत स्वर से मुखरित अन्तर्गत से सम्बन्धित है । वह भौतिकवाद

अक्षत शिला पर आसीन ईश्वर योगी के देवता रूप का प्रतिरूप है । अतः पितृबिम्ब से प्रेरित है ।

व्यक्ति सत्ता की इस असीमता का वर्णन अन्ततः इसप्रकार प्रागबिम्बीय विशेषताओं से युक्त है । कारण कि शिल्पीय के अन्त में पहली परम सत्ता और इस व्यक्ति - सत्ता में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता है । दोनों एक ही तत्व से प्रेरित है । अतः दोनों पितृबिम्ब मूलक प्रतीक ठहरते हैं । आगे चलकर आध्यात्मिक साधना के दिनों में व्यक्ति सत्ता अपनी भौतिकता से मुक्त होकर चट्टान शिला में उपविष्ट ईश्वर - योगी में बदल जाती है । अज्ञेय के भाव पक्ष की अमूर्तन - प्रवृत्ति यहाँ स्पष्ट हो जाती है । अतः वे रूपों से मुक्त होकर रूपातीत सत्ता में केन्द्रित होते हैं -

" रूपों में एक अरूप सदा खिलता है
गोचर में एक अगोचर, अप्रमेय,
अनुभव में एक अतीन्द्रिय
दुखमय के हर वैभव में ओझल
अपौरुषेय मिलता है ।"

(आँगन के पार द्वार : पृ.39.)

चट्टानशिला शीर्षक की कवितायें सब ईश्वर के रूप को इस प्रकार स्पष्ट करते हुए कवि के अचेतनगत पितृबिम्ब के साक्षात्कार को भी प्रमाणित करती है । बाद में, शुद्ध ब्रह्म की असीम सत्ता से हटकर पितृबिम्ब पार्थिव और अपार्थिव दोनों प्रकार के ममेतरों के सापेक्ष-रूप से सम्बद्ध हो जाता है, मानव व्यक्तित्व का यह पूर्णरूप देवत्व का संस्पर्श करते हुए स्वाधीनता की रहस्यात्मक अनुभूति का परिचायक भी रहता है । या मनुष्यत्व का महारूप है, शाश्वतरूप है । वह 'आवृत, प्रत्यक्ष, अप्रतिम, व्यक्तिगत' है । यह ममेतर

वास्तव में तपः साधना में लीन ऋषि से मंत्रायुक्त होकर उनमें जागरित होनेवाले और विस्तार प्राप्त आत्मा की मुक्तावस्था की याद दिलाता है । साथ ही 'सहजन्मा, सहभुक्ता, निर्मोहा, सहभीता सहजीवा, कल्याणी' जैसे स्त्रैणविशेषणों से उसे सम्बोधित करके नारीत्व भी प्रदान करते हैं । इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अज्ञेय का यह ममेतर पुरुष और स्त्री, देव और मानव, चिर और अचिर ससीम और असीम सब प्रकार की द्विधाओं के परे समवर्ती और पूर्ण रहनेवाले एकात्मतत्व का - चिरन्तन पितृबिम्ब का - आद्यबिम्ब का - प्रतिबिम्ब है ।

छायाबिम्ब के प्रायः सभी घेरे अज्ञेय - काव्य में - खासकर प्रारंभिक रचनाओं में मिलते हैं । यथा - विद्रोही वृत्ति, परम सत्ता - निषेध, अन्य - विद्रूप, अतिरिक्त कामुकता आदि । इस नकारात्मक छायामय अपरूप का भेदात्मक स्वरूप 'साँप' 'इतिहास की हवा' जैसी कविताओं व्यंजित है । तीसरे नगर जीव और वर्तमान युग के विमानवीकृत रूप के दर्शन से उत्पन्न वितृष्णा की चित्तावस्था भी मिलती है । 'साँप' स्वयं इस विरोधी तत्व का पुराण प्रथित प्रतीक ही है । इसके सौन्दर्यों व प्रतीकों का प्रयोग भी छायाबिम्ब के उद्वेलन और साक्षात्कार को प्रमाणित करता है । लघुमानव के महत्व की प्रतिष्ठा कवि के अन्दर प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच में उज्जीवित निषेधों से प्रेरित है । संक्षेपतः अज्ञेय की रचनाओं में छाया देश, समाज और व्यक्ति की सामयिक परिस्थितियों से सम्बद्ध संवेदनाओं से प्रेरित होकर अवतरित हुई है । यह बात कवि की सामाजिक सजगता, राष्ट्रीय चेतना तथा मानववादी दृष्टि का सूचक है । संस्कृति - ह्रास, परम्परा - भंग, मूल्यों के विघटन, व्यक्ति के अस्तित्व की अवहेलना तथा विमानीकृत मानवता की भीषण परिस्थितियों के अनुभवों से उद्विग्न कवि - चेतना उन सबों के प्रति असहिष्णु हो उठती है । अतः अज्ञेय के अन्तर्निहित संहारात्मक पक्ष छाया विद्रोही, ध्वंसात्मक व निषेधी बनकर सामने आती है ।

प्रौढ विवेकी या ज्ञानवृद्ध के प्रभुत्व का प्रसार्य अज्ञेय की कविता में प्रभूत मात्रा में उपलब्ध है । बिना जाल के मछली को पकड़ लाने का उपदेश देनेवाले गुरु में इस विवेकी की ही हम प्रतिफलित देखते हैं । दूध की ओट में बैठे मोती का रहस्य बतानेवाला बूढ़ा भी यही ज्ञानवृद्ध है । मानव और जीवन को दार्शनिक तल पर ले जाकर उनके अस्तित्व के अन्तर्निहित अर्थ का उद्घाटन करनेवाली सत्ता के कितने ही विभिन्न चेहरे अज्ञेय में उपलब्ध है ? हवाई अड्डे में कवि के प्रतिरूप के रूप में लक्षित नर जिसमें नारायण की व्यथा भरी है (हन्दू धनु रोंदे हुए थे, पृ.62) कवि के ही अन्तरीय विवेकी तत्व का कल्पाकलित रूप ही प्रकाशित करता है। इसके अतिरिक्त, मछली की तड़प, आवारा अहेरी, सागर मुद्रा की चट्टान, बूँद की उछलन, नदी के द्वीप आदि प्रतीकों में भी यही अर्थान्वेषी प्रतिफलित होता है ।, यह वृद्ध ज्ञानी ही 'धारा पर सवार हो', 'अनपहचानते पिता के आदिम रक्तभाव से बच जाओ' आदि उपदेश देता है । 'टेसू' नामक कविता में व्यंजित भ्रातृत्वमूलक दायित्व बोध, बीच बीच में ज्ञेय में मुखर हो उठनेवाली शरारती हरकत, फक्कड़ाना मस्ती, दुनिया की बेमानी, विसंगति, चकराहिन्नी (absurdity and nonsense) पर कवितायें, सूक्तिपरक कथन, और तार्किक, वैज्ञानिक रूप गठन आदि में भी यही अर्थान्वेषी सत्ता प्रवृत्त रहती है । थोड़े में, प्रौढ विवेकी बिम्ब कवि की दार्शनिक दृष्टि और करुणा-भाव (पारमिता करुणा) में अपने को अभिव्यक्त पाता है । अतः वह कभी कभी ईश्वर के स्वरूप में भी झलकता है -

" कहाँ गया वह
जिसने सब कुछ की
वस्तु के हृदय में वह बैठाया ।"

(अगिन से पार द्वार पृ.18)

सब की वस्तु के हृदय में बैठानेवाला 'वह' अर्थान्वेषण का केन्द्र है । वह मानवान्तः स्थित अर्थान्वेषी प्रौढ विवेकी भी है । यही अर्थान्वेषी सब को अर्थवत्ता से अन्वित करने कैलिए,

रूप रूपा में जिजीविषा की साध लेने खातिर, मनुष्य को समर्थ बनाता है । ईश्वर की उपस्थिति की सत्यता ही सब की सत्यता है ।

आत्म बिम्ब प्रायः सभी संग्रहों में उपलब्ध है । 'दिवाकर के प्रति' (पूर्वा, पृ.62) कविता में उल्लिखित 'मेरी ज्योति' 'मेरी आत्मा' की परिचायक है । इसके पीछे आत्मा की पूर्णता की चेतना जाग्रत रहती है । इससे प्रेरित है वह विवशता और अकिंचनता की अनुभूति जो " सागर इतना गहरा विराट " को देखने से कवि को प्राप्त होती है । सागर से व्यापित रहस्यात्मक सम्बन्ध की अनुभूति भी आत्मबिम्ब प्रेरित है क्योंकि उसमें पूर्णता व विराटता की पहिचान की परितृप्ति व्यंजित है -

" हमें एक भव्यता का बोध है
एक तृप्ति है, अर्थ की सृष्टि है, विस्तार है
विराट सौन्दर्य की पहचान है ।"
(सागर मुद्रा पृ.73.)

इस पूर्णत्व बोध की पराकाष्ठा ही मंडलों में संप्राप्त होता है, पृथ्वीवासि में ही

" बोध एक ही समुद्र पर
एक ही समीर से सिहरते
कोन एक राग ही
हमारे हिए गाने लगे ।"
(सागर मुद्रा , पृ.80)

व्यक्तित्वाभासी बिम्ब का स्फुरण ही नई कविता के व्यक्तव्य के रूप में लिखित कविताओं में देखने को मिलता है ।

मिथकों का संप्रसारण भी अज्ञेय की कृतियों में काफी मात्रा में हुआ है । पौराणिक बिम्ब प्रतीकों व विषयवस्तुओं का साक्षात्कार और विस्तार कवि के अन्तरंग में उभर आनेवाली

अनुभूति से अनुप्राणित होकर नूतन व अपूर्व अर्थ - छायाओं की परिलीला के साथ उन में हो पाया है । वर्तमान युग के मानव के नैतिक पतन और जीवन की ग्रसित मूल्य - विघटन कवि के मन में पुरानी संस्कृति व मूल्यों के प्रतिनिधि दीप व रुक्मिणी के प्रतीकों को जगा देते हैं । शीलभंग के साथ, कुटिल व्यक्तित्व के रूप में । हंस के नीर क्षीर विवेक में विष वमन के हीन कर्म का आरोप वर्तमान मनुष्य के मन में भरी संदेह - प्रवृत्ति का परिचायक है । 'अकेली न जैयो राधे यमुना के तीर' में चित्रित राधा में बौद्धिकता के विकास में राधा - संकल्प की हुई क्षति या भारतीय संस्कृति के ह्रास में नारीत्व की अव - धारणा में घटित अवांछित परिवर्तन सूचित किया गया है । श्रमिक वर्ग पर किए जानेवाले अत्याचार और अवहेलना का तीव्र आन्तरिक अनुभव उनके मन में सेतु बनानेवाले बंदरों के प्रतीक को जगा कर देता है । ' न जाने केहि भेस' बौद्धिकता और तार्किकता के युग में प्यार के हृदयतत्व - मूल्य तत्व - के नष्ट होने पर आन्तरिकता से हीन जीवन के बाह्य कंचुक की सारहीनता, व्यर्थता और अनुपादेयता के सामने सकपका रहनेवाले वर्तमान युग का मर्म निषाद में प्रतीकित होता है । मृत्यु के बाद क्या ? के प्रश्न में उलझे कवि मानस में नचिकेता और युधिष्ठिर के चित्र प्रकाशित होते हैं (पक्षी में सम्राट सुनता हूँ पृ.74) । स्वार्थी नेताओं के कुकर्मों के फलस्वरूप भाग्यविपर्यय के शिकार बने देश की दीनावस्था कवि के सामने - राम राज्य में विभीषण के डंका - वादन का उपहारतात्पर्य चित्र प्रस्तुत करती है। (महावृक्ष के नीचे पृ.42) । इसप्रकार पौराणिक मिथकीय प्रतीकों, बिम्बों व विधियों का सहज जागरण अज्ञेय में संप्राप्त होता है ।

मिथकीय प्रतीकों के अतिरिक्त अज्ञेय काव्य में अनजाने ही सृष्ट मिथकीय वातावरण भी उनकी कविता के सामूहिक अचेतन सम्बन्ध को स्पष्ट करता है । प्राचीन तांत्रिक शब्दावली के उपयोग, धार्मिक साधना की अनुष्ठान प्रणाली की स्मृति को जागृत करने-वाली अभिव्यंजन शैली (उदा: 'असाध्यवीणा' का सारा वातावरण, 'मरण के द्वार पर' में उद्धृत उपनिषद् की शब्दावली), और चैतन्य के आवाहन की अनुष्ठान क्रिया की सूचित

करनेवाली 'संवेदनों की आवृत्ति (यथा निसर्ग ममेतर जैसी कविताओं में स्पष्ट किया गया है) के द्वारा ही यह मिथकीय अन्तरीक्ष निर्मित किया गया है, अवचेतनपूर्वक । अतः निष्कर्षतः कह सकते हैं कि अज्ञेय काव्य मिथकीय तत्वों की दृष्टि में भी प्राग्बिम्बीय गंभीरता रखता है और वह उनके अन्तर्यामी शुद्ध मानव के साक्षात्कार को प्रमाणित करता है ।

'महामौन' की वस्तुगत तत्व के वंचुक में समेट ने का परिक्रम करनेवाले प्रतीक और बिम्ब भी अज्ञेय काव्य में स्थूल स्थिर तत्व से शुरू होकर सूक्ष्म गतीय तत्व की ओर प्रयाण करता है । हारिल पक्षी के समान पृथ्वी से आकाश की ओर उडनेवाली, यह प्रतीक परम्परा स्थिरता सूचक बिम्बों के द्वारा आवश्यकता बिम्ब से अपना संबन्ध प्रकट करती है । नाद - गति सूचक बिम्ब - प्रतीकों के द्वारिए आदिम पितृबिम्ब से वह अपना वैचिक सम्बन्ध भी प्रकट करती है । कवि के अनादि बिम्ब - जगत से अपना दुतरफा संबन्ध और प्राग्बिम्बीयता प्रकट करते हैं अज्ञेय के प्रायः सभी प्रतीक और बिम्ब । 'सागर' इस कोटि का एक पूर्ण बिम्ब है, जिस में स्थिति और गति दोनों हैं । चिडिया, वीणा आदि भी ऐसे प्रतीक ही हैं । चक्रवाकिका भी महत्वपूर्ण प्रतीक है ।

कुल मिलाकर, कह सकते हैं कि अज्ञेय के काव्य में प्रायः सभी प्राग्बिम्बों का समान रूप से प्रकाशन हुआ है । जैसे चिरकुमारी, तरुणी, माता सब महामातृ बिम्ब के विभिन्न रूप हैं, वैसे पितृबिम्ब के विभिन्न चेहरों के रूप में ही जाया, विवेकी, आदि वीरतापीतक, ज्ञानी, (अर्धविवेकी) व ईश्वरात्मक बिम्बों को देखना चाहिए । वस्तुतः अज्ञेय काव्य के प्राग्बिम्बीय और मिथकीय तत्वों को इन दोनों आद्यबिम्बों की साक्ष्यावस्था के अन्तर्गत रखा जा सकता है । कारण कि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि अज्ञेय में इन मातृ - पितृ - बिम्बों का क्रमिक विकास कवि के वृत्तित्व और व्यक्तित्व के विकास के अनुरूप ही होता है । विद्रोह, व्यंग्य - विद्रूप के द्वारा वीरतामूलक छाया में ईश्वरोन्मुख भक्ति भावना में परिष्कृत यह आदिपिता बाद में बदल गया । अगे चलक

विद्रोह की वीरता और उच्छृंखलता की बौद्ध संयमित स्थिर और प्रौढ़ चेतना को अपना कर वह 'प्रौढ़ विवेकी' में व्यंजित होने लगा। बाह्य जीवन के हल चल के अन्तस्तल में निहित अर्थ के अन्वेषण की सूक्ष्मदृष्टि, प्रतीकात्मक शैली का भाव्य, तत्वोद्घाटन, सूक्ति - कथन आदि से प्रमाणित यह प्रौढ़ विवेकी ही बाद में चक्रान्त शिला पर शेखर योगी बनकर विराज रहा है। 'असाध्यवीणा' उस आद्यमातृका का समग्र रूप है जो समूची रचना शक्ति के पीछे रहती है। वह ममत्व, दया - दाक्षिण्य, समर्पण, सुरक्षा आदि भावों में झलकती है। जैसे हमने देखा, वही 'तुम सागर क्यों नहीं हो' पूछती है, और वही 'मिट्टी की प्रियमाण सृष्टि शक्ति है', कवि की गृहातुरता में भी वह ममतामयी बाँह की छाह के रूप में व्यंजित है। इन सब की परिपूर्ति के रूप में, ये बिम्ब सब अज्ञेय में 'मंडल प्रतीक' में समाप्त हो जाते हैं। मंडल सुरक्षा सूचक आद्यमातृबिम्ब प्रेरित प्रतीक तो है, पूर्णता का प्रतीक भी है।

संक्षेप में, अज्ञेय का काव्य सन्नाटे का जाल है। अपने अंतस के सीमाहीन जगत में मानव की अन्तश्चेतना के मूक चिरन्तन तत्वों को शब्दों के तारों से निर्मित वाणी में फँसा लेने का परिश्रम ही उनकी कविता है। आन्तरिक विवशता के आकुलता पूर्ण क्षणों में संप्राप्त आत्म मुक्ति की - आत्म विस्तार की अवस्था में जाग्रत होकर ये मनस्तत्व ऐन्द्रिय संवेदनों से गठित होनेवाली अनुभूतियों में प्रविष्ट होकर साक्षात्कार पाते हैं। परोक्ष साक्षात्कार के लिए विवश रहनेवाले इन बिम्बों का पूर्ण प्रकाशन कभी संभव नहीं। प्रत्यक्ष - प्रकाशन इन की असंभव है। अतः इनका परोक्ष और आंशिक प्रकाशन - प्रसारण - एक ओ कविता के साधारणीकरण का आधार - रहता है, और उसकी सामाजिकता, सार्वकालिकता, परम्परा - संपृक्ति, संस्कृति के संवहन का धर्म आदि को प्रमाणित करता है। दूसरी ओर यह कविता की अनिवार्य रहस्यात्मक प्रकृति (mystic nature) का कारण बनता है। वास्तव में यह रहस्यात्मकता ही कविता के नए नए अर्थों की उद्भावक है।

यह नव्यार्थ प्रतीति ही कविता के चैतन्य और कालदेशातिवर्तित्व का निदान सिद्ध होती है। यह कविता की दुरूहता नहीं, अपितु प्रागैतिहासिक गंभीरता का निदर्शन है। स्वयं अज्ञेय कहते हैं - " भाषा की पकड़ में से फिसली जाती हुई भावना का अर्थ - (वही तो अर्थ सनातन है।) (कितनी नावों में कितनी बार पृ.50)

कहने का तात्पर्य है कि अज्ञेय की कविता अर्थ के विलयन की स्थिति अवस्था में कवि के अन्तर्मन में जागृत प्रागैतिहासी से प्रेरित है। यह बात उनके कार्यों में उपलब्ध प्रागैतिहासीय और मिथकीय तत्वों से प्रमाणित होती है। अपने अन्तर्जगत के इस स्वयंभू आलोक का स्फुरण तो कवि की आत्ममुक्ति है, आत्मोपलब्धि है। उस आत्मोपलब्धि की अनुभूति की अभिव्यक्ति ही है उनकी कविता भी। और उसमें उनकी आध्यात्मिकता और दर्शन भी परिस्फुरित है।[1] अतः यह विकास - विरोधी मानवीय एकता, और स्वात्मकता का समर्थक और उद्घोषक है। इसी कारण यह संस्कृति का संवाहक बनती है और संघर्षग्रस्त आधुनिक मनुष्य के विचारहित शुद्ध मानवता की कोटि में से जाकर उसकी आध्यात्मिक समस्याओं (spritual problems) का परिहार सुझा देती है

---

1. मॉड बोड्किन का कथन यहाँ समीक्ष्य है कि

What relation, or what distinction, shall we assert between poetry, so understood, and philosophy?

Again, I would say that for an individual mind there may be no difference. Of Shelley one would say that his poetic fai was his philosophy, as it was also his religion. Of Shelley early theories and arguments a critic writes: these 'were merely the intellectual foam of his mind. His real philosop lay deep down in his imagination; and though it developed as he learnt wisdom, its main tendency was never changed. A man's philosophy, in this sense, is his Weltanschauung - the individual vision, or perspective of reality, determined by his own nature and the main events and conditions of his lif According as this essential vision is communicated in imaginative or in reflective speech, we call an author poet or philosopher. Yet in every great writer thought and imagination interpenetrate; so that, according to our bent, may enjoy the poetry of Plato or Spinoza, or seek the philo within the poetry of Shelley or of Shakespeare. - Archetypal patterns in poetry. P. 32

थोड़े में, अज्ञेय काव्य में सार्वभौम प्रागैतिहासिक और मिथकीय तत्व उनकी रचनाओं को महान साहित्य की (उत्तम काव्य) कोटि ले जाते हैं। ये थिर तत्व कवि की मौलिकता का आधार बनते हैं और उनकी समस्त काव्य को सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण ठहराते हैं जिससे उसका मूल्य बढ़ जाता है। उनकी रचनाएँ महान भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का बढ़ाव की अवश्य है। मानव की स्वात्मता और सार्वभौमिकता के अज्ञात अन्तर्लोक का उद्घाटन करते हुए श्री वात्स्यायन की कविता भारत की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक एकता का समर्थन करती है।

---

2. देखिए युंग लेख : Spiritual problems of Modern Man - Modern Man in Search of a Soul.

परिशिष्ट - 1

अज्ञेय की रचनाएँ

परिशिष्ट - I

अज्ञेय - साहित्य

कविता

1.	अरी ओ करुणा प्रभामय	: भारतीय ज्ञानपीठ, काशी 1959.
2.	आँगन के पार द्वार	: भारतीय ज्ञानपीठ, काशी 1961.
3.	इत्यलम्	:
4.	इन्द्र धनु रौंदे हुए ये	: सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1957.
5.	कितनी नावों में कितनी बार	: भारतीय ज्ञानपीठ, काशी 1967.
6.	क्योंकि मैं उसे जानता हूँ	: भारतीय ज्ञानपीठ, काशी 1970.
7.	चिन्ता	:
8.	ठोर - लिखनी (जर्मन अनुवाद एड्ड - अर्टे)	:
9.	पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ	: राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली 1976.
10.	प्रिजन डेज़ एण्ड अदर पोयम्स(अंग्रेज़ी)	:
11.	पूर्वा (भग्नदूत, चिंता, इत्यलम्, हरी घास पर क्षण भर का संग्रह)	: राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली 1965.

12. बाबरा अहेरी	:	सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद 1954.
13. भग्न दूत	:	
14. मधुवृक्ष के नीचे	:	राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली 1977.
15. सागर मुद्रा	:	राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली 1970.
16. सुनहरी तलाश	:	अमर प्रकाशन (प्रा.)लिमिटेड दिल्ली 1966.
17. हरी घास पर क्षण भर		

नाटक

18. उत्तर प्रियदर्शी	:	

कहानी

19. अधूरे फूल और अन्य कहानियाँ	:	1960
20. अमर बेलरी और अन्य कहानियाँ	:	1954
21. कड़ियाँ और अन्य कहानियाँ	:	1957
22. कोठरी की बात	:	1945
23. जोड़ा हुआ रास्ता	:	1975
24. जयदोल	:	1951
25. जिज्ञासा और अन्य कहानियाँ	:	1965
26. परम्परा	:	1967

27. मेरी प्रिय कहानियाँ : राजपाल एण्ड सन्ज,
दिल्ली तीसरा सं. 1979.

28. ये तेरे प्रतिरूप : राजपाल एण्ड सन्ज,
दिल्ली पाँचवाँ सं. 1976.

29. लौटती पगडंडियाँ : 1975

30. विपथगा : 1944

31. शरणार्थी : 1948

उपन्यास

32. अपने अपने अजनबी : 1961

33. नदी के द्वीप : 1952

34. शेखर : एक जीवनी (भाग 1) : 1941

35. शेखर : एक जीवनी (भाग 2) : 1944

भ्रमण - वृत्तान्त

36. अरे यायावर रहेगा याद ? : 1953

37. एक बूँद सहसा उछली : भारतीय ज्ञानपीठ,
काशी 1960.

निबन्ध - आलोचना - अन्य : प्रेरणा

38. आत्मनेपद : भारतीय ज्ञानपीठ,
काशी 1960.

39. आत्मपरक :

40. बन्ना : राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली, 1975.

41. अद्यतन : राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1977.

42. आज का भारतीय साहित्य : राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1958.

43. आलवाल : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1971.

44. कवि दृष्टि : लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1983.

45. कोरा लिखी : राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1977.

46. त्रिशंकु : सूर्य प्रकाशन मंदिर, बीकानेर, द्.सं.1973.

47. भवन्ती : राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1972.

48. लिखि कागद कोरे : राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1972.

49. शाश्वती : राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1979.

50. प्रीत और पीड़ : राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1978.

51. संपक्षर : 1978

52. सबरंग : 1946

53. सबरंग और कुछ राग : 1969

54. हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य : राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1967.

अनूदित :

55. टू बॅंच थिंग स्ट्रेंजर (अपने अपने अजनबी का अंग्रेज़ी अनुवाद) : 1967

56. स्टेड - अर्ट (ठौर - ठिकाने का जर्मन - अनुवाद) : 1977

57. द रिसिग्नेशन (जैनेन्द्रकुमार के त्याग-पत्र का अंग्रेज़ी अनुवाद) : 1946

58. फर्स्ट पर्सन सेकंड पर्सन (चुनी हुई कविताओं का अंग्रेज़ी में अनुवाद) : 1971

59. श्रीकान्त (शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय के उपन्यास का अंग्रेज़ी में अनुवाद) : 1944

60. साइन्स एंड साइंसेस (चुनी हुई कविताओं का अंग्रेज़ी में अनुवाद) : 1976

सम्पादित ग्रन्थ

61. आधुनिक हिन्दी साहित्य : राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्र.सं.1942.

62. चौथा सप्तक : सरस्वती विहार, नईदिल्ली, प्र.सं.1979.

63. तार सप्तक : भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, द्र.सं. 1966.

64.	तीसरा सप्तक	: भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, काशी, सी.सं. 1967.
65.	दूसरा सप्तक	: भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, दू.सं.1970.
66.	नई कहानी	: 1952
67.	नए साहित्य स्रष्टा (रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, शान्ति मैहरोत्रा, और अजितकुमार के साहित्य संकलन)	
68.	नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ	: 1949
69.	पुष्करिणी (भाग दो)	: साहित्य सदन, चिरगाँव झाँसी । प्र. सं.2016.
70.	पुष्करिणी (सम्पूर्ण)	: 1959
71.	एपाम्बरा	: भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, प्र. सं.1969.
72.	हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियाँ	: 1952.

परिशिष्ट - 2

सहायक ग्रन्थ

परिशिष्ट - 2

सहायक ग्रन्थों की सूची

हिन्दी

1. अंधा युग : धर्मवीर भारती
   किताब महल
   इलाहाबाद
   13 वाँ संस्करण, 1978.
2. अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या : रामस्वरूप चतुर्वेदी
   भारतीय ज्ञान पीठ
   काशी, 1968.
3. अज्ञेय की काव्य - तितीर्षा : नन्द किशोर आचार्य
   सूर्य प्रकाशन मंदिर
   बीकानेर, 1970.
4. अधाती सौन्दर्य जिज्ञासा : डा. रमेश कुन्तल मेघ
5. आँसू : जयशंकर प्रसाद
   भारती भंडार
   इलाहाबाद.
6. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि 'अज्ञेय' : विश्वनिवास मिश्र

7. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ	:	डा. नामवर सिंह लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, 1962.
8. आधुनिक साहित्य के सन्दर्भ में	:	डा. गंगा प्रसाद विमल मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया 1978.
9. आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्बविधान	:	डा. केदारनाथ सिंह भारतीय ज्ञान पीठ काशी, 1972.
10. ईशावास्योपनिषद्	:	
11. उर्वशी	:	रामधारी सिंह दिनकर
12. ओ अतृप्त मन	:	भारत भूषण
13. एक अन्तर्कथा	:	मुक्तिबोध
14. कबीर का रहस्यवाद	:	डा. रामकुमार वर्मा साहित्य भवन इलाहाबाद, नवाँ संस्करण
15. कविता के नए प्रतिमान	:	डा. नामवरसिंह राजकमल प्रकाशन दिल्ली 1968.
16. कवि श्री	:	सम्पादक सियारामशरण गुप्त साहित्य सदन झाँसी, वि. 2013.

17. कवितान्तर : सं. डा. जगदीश गुप्त
ग्रन्थम
कानपुर

18. कामायनी : जयशंकर प्रसाद
भारती भंडार
इलाहाबाद
12वाँ संस्करण, वि.2021.

19. काव्य बिम्ब : डा. नगेन्द्र

20. काव्यालंकार : भामह

21. गीतांजलि : रवीन्द्रनाथ टागोर
(अनु. लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी')
हिन्दी पुस्तकालय
द्वितीय संस्करण 1951.

22. छान्दोग्योपनिषद् :

23. तैत्तिरीय ब्राह्मण

24. तैत्तिरीयोपनिषद्

25. नई कविता : सं. जगदीश गुप्त
विजयदेव नारायण साही
किताब महल
इलाहाबाद 1960-61.

26. नए साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र : मुक्ति बोध
राधाकृष्ण प्रकाशन
दिल्ली 1971.

27. नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध : मुक्तिबोध
भारती प्रकाशन
1964.

28. नई कविता के प्रतिमान : लक्ष्मी कान्त वर्मा
भारती प्रेस
इलाहाबाद सं. 2014.

29. फ्रायड : मनोविश्लेषण : अनु. देवेन्द्र कुमार पेदालेकार
राजपाल एण्ड सन्ज
दिल्ली, तृतीय संस्करण

30. बिम्ब विधान और आधुनिक हिन्दी कविता : शिवनन्दन प्रसाद
भागलपुर विश्वविद्यालय प्रकाशन
1974.

31. भगवद्गीता

32. मैत्र्युपनिषद्

33. रस गंगाधर

34. शतपथ ब्राह्मण

35. सर्जन और भाषिक संरचना : रामस्वरूप चतुर्वेदी
लोक भारती प्रकाशन
इलाहाबाद , 1980.

36. स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य : जयशंकर प्रसाद
भारती भंडार
इलाहाबाद

37. सूर्यपुराण

38. हिन्दी नवचेतन : रामस्वरूप चतुर्वेदी
ज्ञानपीठ
काशी, 1960.

39. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
नागरी प्रचारिणी सभा
काशी
षोडशवाँ संस्करण
सं. 2019.

40. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी : आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी

मलयालम

41. गायत्री : पै.वि. मथिलकम
42. सौंदर्य लहरी
43. अय्यप्पपणिकलुटे तिरञ्ञेटुत्ता कवितकल्
44. ओटुटे तिरञ्ञेटुत्ता प्रबन्धङ्ङल्
45. कला जीवितं तन्नि : कुट्टिकृष्ण मारार

पत्र पत्रिकाएँ

नया प्रतीक
समीक्षा
आलोचना
चेतना
साप्ताहिक हिन्दुस्तान
जर्नल ऑफ दि इण्डियन सोसायटी ऑफ आर्ट

English

1. Abnormal Psychology : James D. Page
Tata McGraw Hill Publishing Co. Ltd.
New Delhi
7th Edition
1978.

2. A Dictionary of Symbols : Tom Chetwynd
Granada Publishing Ltd.
1982.

3. A History of Hindi Literature : F.K. Kaay
Amrut Publishing House
New Delhi
1980.

4. An Anthology of the Writings of C.G.Jung : ed. Jolande Jacobi

5. Anatomy of Criticism : Northrop Frye
Princeton University Press
New Jersy
1957.

6. An Essay on Criticism : Graham Hough
Gerald Duckworth
1966.

7. An Essay on Man : Ernst Cassirer
New Haven
1944.

8. An Experiment in Criticism : C.S.Lewis
Cambridge University Press
London
3rd edition
1969.

9. An Introduction to Literary Criticism : S.M. Schreiber
Pergamon Press
London
1965.

10. An Introduction to the Study of Literature : W.H.Hudson
George G. Harrap and Co. Ltd
London
2nd edition.

11. Archetypes : Elemire Zolla
George Allen and Unwin Ltd.
London
1981.

12. Archetypal Patterns in Poetry : Maud Bodkin
Oxford University Press
London
2nd edition
1965.

13. Aristotle and Horace : Trans. T.S. Dorsch
Penguin Books
England
13th edition
1983.

14. Art and Education in Contemporary Culture : Irving Kaufman
The Macmillan Co.Ltd.
New York
1966.

15. Art and the Creative Unconscious : Erich Newmann
Routledge and Kegan Paul
London
1959.

16. Art and Society : Herbert Read
Faber and Faber
London
4th edition
1967.

17. Art of Poetry : Paul Valery

18. Art of Poetry : Hugh Kenner
Holt, Rinehart and Winston
New York
1966.

19. A Short History of English Poetry : James Reveas
Mercury Books
London
1st edition.

20.	A Short History of Literary Criticism	: James Ravees Mercury Books London.
21.	Basic Psychology	: Ross Stagner Charles M. Solley Tata McGraw Hill Publishing Bombay 1970.
22.	Being and Nothingness	: Jean Paul Sartre Philosophical Library New York.
23.	Beyond Good and Evil	: Friedrich Nietzsche Penguin Books England 9th edition 1982.
24.	Beyond the Chains of Illusion	: Erich Fromm Sphere Books London 1980.
25.	Brief Introduction to Psychology	:
26.	Buddhism	: Mrs. Rhys Davids Williams and Norgate London.
27.	Chariots of the Gods	: Erich Von Daniken Trans World Publishers Ltd London Reprinted Corgiedn. 1980.
28.	Civilization and its Discontents	: Sigmund Freud William Benton Encylopaedia Britanica Inc Chicago. 1971.

29. Christian Mythology : George Every
Hamlyn Publishing Group Ltd.
London
1970.

30. Collected Papers of Sigmund Freud : Ed. Ernest Johns
The Institute of Psycho-Anal
London
1956.

31. Collected Poems of C.D.Lewis : Jonathan Cape
London
1954.

32. Collected Works of C.G.Jung, Vol. 7. : Eds. Sir Herbert Read and Others
Routledge and Kegan Paul
1953.

33. Contemporary School of Psychology : R.S. Woodwerth

34. Contributions to Analytical Psychology : Trans. H.G. and C.F. Baynes
Routledge and Kegan Paul
London
1928.

35. Creative Intuition in Art and Poetry : Jaquis Martin

36. Criticism in Practice : Ed. Marie Peel
Chatto and Windus
London
2nd edition
1966.

37. Development of Personality : C.G.Jung
Routledge and Kegan Paul
London.

38. Encyclopaedia Britanica : Encyclopaedia Britanica Inc.
Chicago
15th edition
1979.

39. Essays of Orwell : Ed. Dr.M.G.Nayar
Macmillan India Ltd.
Madras
2nd edition
1981.

40. Existentialism and Human Emotions : Jean Paul Sartre
Philosophical Library
New York.

41. Expressionism : R.S. Furness
Methuen and Co.
London
1973.

42. Faber Book of Modern Verse : Ed. Michael Roberts
Faber and Faber
London
3rd edition
1965.

43. Faust (Part II) : Goethe
Trans. Philip Wayne
Penguin Books
England
9th Impression
1976.

44. Feeling and Form : Susanne K Langer
Charles Scribner's Sons
New York
1953.

45. Five Approaches of Literary Criticism : Wilbur S. Scott
Coller Books
London
2nd edition
1966.

46. Form in Modern Poetry : Herbert Read
Sheed and Ward
London
2nd Impression
1932.

47. Future Shock : Alvia Toffler
Bantam Books Inc.
New York
20th edition
1972.

48. Illusion and Reality : Christopher Caudwell
People's Publishing House
New Delhi
2nd Indian edition
1956.

49. Image and Experience : Graham Hough
Gerald Duckworth and Co.Ltd
London
1960.

50. Introduction to Psychology : Norman L. Munn
Oxford and IBH Publishing C
Calcutta
Indian edition
1967.

51. Irrational Man : William Barret
Double Day Anchor Books
1962.

52. Jung's Psychology and Its Social Meaning : Ira Progoff
Routledge and Kegal Paul
London.

53. Language and Myth : Ernst Cassirer
Trans. Mrs. Susanne K. Lang
Harper and Brothers
New York
1946.

54. Language and Reality : Wilbur Urban
The Macmillan Co.
New York
1939.

55. Language and Silence : George Steiner
Penguin Books
England.

56. Leonardo : Sigmund Freud
Penguin Books
England
2nd Edition
1966.

57. Literary Criticism A Short History : William K. Wimsatt and Cleanth Brooks
Oxford and IBH Publishing Co Ltd.
Calcutta
Indian Edition
1964.

58. Literary Transcendalism : Lawrence Buell
Eurasia Publishing House (P) Ltd.
New Delhi
1974.

59. Long Drum and Cannons : Margueret Lawrence

60. Making of Literature : Scott James
Secker and Warburg
London
1967.

61. Man and Art : C.A. Burland
Studio Publications
London
1959.

62. Man the Artist, His Creative Imagination : The Macdonald Illustrated Library
Macdonald and Co. Pvt. Ltd.
London
1964.

63. Meaning of Art : Herbert Read
Penguin Books
England
11th Impression
1966.

64. Michaelangelo's Theory of Art : Robert J. Clements
Routledge and Kegan Paul
London.

65. Memories, Dreams Recollections : C.G. Jung
Fontana Library (Theology and Philosophy)
7th Impression
1973.

66. Mind and Matter : G.F.Stout
Cambridge University Press
London
1931.

67. Modern American Poetry : Ed. Brother Thomas Corbett
Rev. William J Boldt
Macmillan Co.Ltd.
New York
Revised edition
1961.

68. Modern Continental Criticism : O.B. Hardison, Jr.
Appleton Century Crofts
New York
1962.

69. Modern Judgements : Ed. R.B.Woodings
Macmillan and Co. Ltd.
London
1968.

70. Modern Man in Search of a Soul: C.G.Jung
Routledge and Kegan Paul
London
10th Impression
1949.

71. Modern Poets on Modern Poetry : Ed. James Scully
Collins
2nd Impression
1969.

72. Myth and Reality : M. Eliade

73. New Bearings in English Poetry : F.R.Leavis

74. Philosophy in a New Key : Susanne K. Langer
Cambridge University Pres
London
1942.

75. Philosophy of Symbolic Forms :

76. Physical Mechanism of Human Mind :

77. Poets on Poetry : Ed. Charles Norman
Collier Macmillan Ltd.
London
2nd Impression
1966.

78. Principles of Literary Criticism : I.A. Richards
Routledge and Kegan Paul
London
1976.

79. Principles of Literary Criticism : Lascelles Abercrombie
Vora and Co. Publishers Pvt. Ltd.
Bombay
1967.

80. Primitivism : Michael Bell
Methuen and Co. Ltd.
London
1972.

81. Psychology and Religion : C.G. Jung
New Haven
1938.

82. Psychological Reflection :

83. Psychological Types : C.G. Jung
Routledge and Kegan Paul
London
1949.

84. Psycho-analytic Explorations in Art : Ernst Kris
George Allen and Unwin L
London
1953.

85. Psychology in Human Affairs :

86. Religion and Psychology of Jung : Raymond Hostie S.J.
Sheed and Ward
London
1st edition

87. Reaurrection : Lev Tolstoi
Progress Publishers
Mosco
1972.

88. Romantic Philosophy of Art :

89. Sacred Wood : T.S.Eliot

90. Selected Criticism : W.B.Yeats
ed. Norman Jafferere
Pan Books
London
1970.

91. Selected Prose : T.S. Eliot

92. Selected Poems : T.S. Eliot
Faber and Faber
London.

93. Semantic Philosophy of Art : Yevgeny Basin
Progress Publications
Moscow
1979.

94. Shelley : Desmond King Hele
Macmillan
London
1964.

95. Sigmund Freud: Man and His Theories : Gerard Lanzum
Fawcett Publications Inc.
New York
1965.

96. Situations : Jean Paul Sartre
Jawcett World Library
New York
1966.

97. Six Existentialist Thinkers : H.J. Blackham
Routledge and Kegan Paul
London
6th Impression
1966.

98. Symbolism : Charles Chadweck
Methuen and Co. Ltd.
1971.

99. Symbolist Art : Edward Lucie Smith
Thames and Hudson
London
1972.

100. Tantra Asana : Ajit Mukherjee
Pub. Ravi Kumar

101. The Art of Indian Asia - Its Mythology and Transformations Vol. I : Henrich Zimmer
Pantheon Books
Bollingen Series
XXXIV.

102. The Common Pursuit : F.R. Leavis
Penguin Books
England
2nd Impression
1966.

103. The Criticism of Poetry : S.H. Burton
Longmans Green and Co. Ltd.
London
8th Impression
1964.

104. The Cosmic Art of India : Radhakamal Mukherjee
Allied Publishers
Bombay
1965.

105. The Form of Poetry : Thomas R. Hrp.
The Macmillan Co.
New York
1966.

106. The Form of Things Unknown : Herbert Read

107. The Heritage of Symbolism : C.M. Bowra
Macmillan
London
8th edition
1967.

108. The Love Songs of Sappho : Trans. Paul Roche
The New American Library
New York
1966.

109.The Metres of English Poetry : Enid Hamer
Methuen and Co.
London
2nd edition
1966.

110.The Myth of Sysiphus : Albert Camus
Penguin Books
England
9th edition
1984.

111.The Necessity of Art : Ernst Fischer
Penguin Books
England
2nd edition
1964.

112.The Philosophy of Art : Cust John
Ducasse
Dover Publications
New York
1966.

113.The Poetic Image : C.D.Lewis
Jonathan Cape
London.

114.The Practice of Poetry : Robin Skelton
Heinemann Educational Boo
L
London
1979.

115.The Republic : Plato
Trans. B. Jowett
The Modern Library
New York.

116.The Romantic Imagination : C.M. Bowra
Oxford University Press
London
1963.

117.The Science of Living : Alfred Adler
George Allen and Unwin L
Landon
3rd Impression
1952.

118. The Senses and the Intellect : Alexanderbain
Longmans, Green and Co.
London
3rd edition
1968.

119. The Structure of Verse : Ed. Harvey Gross
Fawcett Publications
New York
1966.

120. The Transformation of Nature in Art : Anand Coomara Swami
Dover Publication
1956.

121. The True Voice of Feeling : Herbert Read
Faber and Faber
London.

122. The Unconscious : J.P.Chaplin
Ballantine Books
New York
1960.

123. Thus Spake Zarathustra : Nietzsche

124. Tradition and Individual Talent : T.S. Eliot

125. T.S.Eliot: The Man and His Work : Ed. Allen Tale
Chatto and Windus
London
1967.

126. Understanding Human Nature : Alfred Adler
Fawcett Publications
New York
5th Premier Printing
1965.

127. Understanding Poetry : James Revees
Pan Books
London
4th Printing
1978.

128. Understanding Poetry : Cleanth Brooks
Robert Penn Warren
New York
1957.

129. W.B.Yeats : A.G.Stock
Cambridge University Press
London
1961.

130. What is Art and Essays on Art : Lev Tolstoi
Trans. Aylmer Mande Oxford University Press
London
9th Impression.

131. Writers at Work : Ed. Malcum Cowly
Mercury Books
London
1962.

132. Writers on Writing : Ed. Walter Allen
Phoenix House
London
1958.

***

परिशिष्ट - 3

विषयसूची

चित्र सूची

1. युग
2. अजैय
3. ब्रह्माण्ड
4. काली
5. अर्धनारीश्वर
6. कुंडलिनी

षट्चक्र

7. मूलाधार चक्र
8. स्वाधिष्ठा चक्र
9. मणिपूरक चक्र
10. अनाहत चक्र
11. विशुद्ध चक्र
12. आज्ञा चक्र
13. सहस्रार चक्र
14. सहस्रदल
15. रक्तकुंडली
16. नागलिंग
17. युग से प्रतिपादित
    एक विशेष
    मंडल प्रतीक